आचार्य अभिनवगुप्त–प्रणीत

तन्त्रालोक

(आह्निक 4–6)

सानुवाद विवेचन

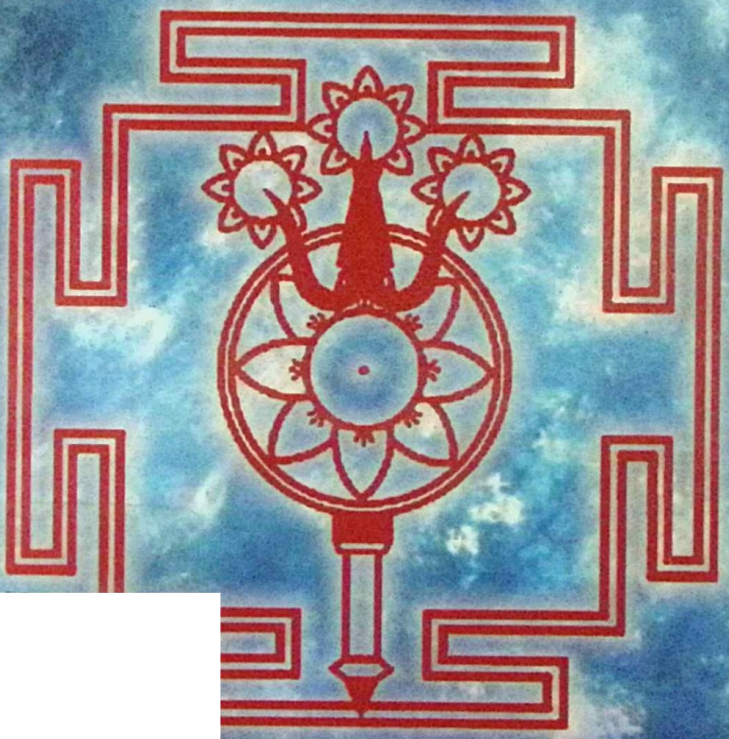

लेखिका

डॉ. कमला द्विवेदी

सम्पादक

प्रो. सूर्यप्रकाश व्यास

यह पुस्तक

शैवागम के मूर्धन्य विद्वान् एवं सिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक शैव–शाक्त तन्त्र का विश्वकोष माना जाता है। इसके अनुवाद, अध्ययन आदि पर कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं , तथापि अभी बहुत कार्य शेष है। इसी क्रम में डॉ. श्रीमती कमला द्विवेदी ने तन्त्रालोक के तीन (4-6) आह्निको का सानुवाद अध्ययन, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.) में प्रस्तुत किया था। इसी का संशोधित व सम्पादित रूप यह पुस्तक है।

पुस्तक के प्रारम्भिक तीन परिच्छेदों में भूमिकापूर्वक आह्निकत्रय के प्रतिपाद्य का समीक्षात्मक विश्लेषण–विवेचन है तथा शेष तीन परिच्छेदों में मूलपाठ, कारिकानुसार विषयसूची, सटिप्पण अनुवाद, सविस्तर सन्दर्भ आदि प्रस्तुत किये गए हैं। साथ ही पारिभाषिक शब्दों के लक्षणों का परिशिष्ट भी दिया गया है।

यह पुस्तक सामान्य रूप से तन्त्र, धर्म, दर्शन, योग आदि के जिज्ञासुओं के लिए तथा विशेषरूप से शैवागम के अध्येताओं व अनुसन्धाताओं के लिए पर्याप्त रूप से उपयोगी है।

20466

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला - 21वाँ पुष्प

आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत
तन्त्रालोक
(आह्निक 4-6)

सानुवाद विवेचन

लेखिका

डॉ. कमला द्विवेदी

संस्कृत विभाग,

र विश्वविद्यालय, जयपुर

RGCSLIB

20466

सम्पादक

सूर्यप्रकाश व्यास

(सेवानिवृत्त)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी

तन्त्रालोक TANTRALOKA

(आह्निक 4-6) सानुवाद विवेचन

संस्करणः प्रथम, 2017
प्रतियाँ : 300
प्रकाशक
आर्य भाषा संस्थान, वाराणसी

ISBN : 978-81-87978-45-9

C
इस ग्रन्थ के सर्वाधिकार सम्पादक के अधीन हैं।

पुस्तक-प्राप्ति-स्थल

1. डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास,
9, अथर्व विहार, इन्दौर रोड
उज्जैन-456010 (म.प्र.)
मोबा.-08109516550
Emil: suryaprvyas@gmail.c

2. श्री लोलार्क द्विवेदी,
आर्यभाषा संस्थान,
बी-2/143 ए भदैनी, वाराणसी (उ.प्र.) - 221001
Mo. : 9839575796

3. ऋषि-मुनि प्रकाशन
90, विद्यानगर, सांवेर रोड, उज्जैन-456010 (म.प्र.)
दूरभाष : 0734-2526561, 2526761
Email : rishimuniprakashan@gmail.com

मूल्यः 500/-
कम्पोजिंगः कु. रजनी वर्मा (साकोनिया), मनीष खानवलकर
मुद्रक : ऋषि-मुनि प्रकाशन, उज्जैन

शैवागम के अध्ययन-अनुसन्धान में
सतत संलग्न साधक
प्रो. नवजीवन रस्तोगी को
सादर समर्पित

सम्पादकीय

काश्मीर में अवतरित योगीनीभू आचार्य अभिनवगुप्त (दशम शताब्दी) शैव-शाक्त दर्शन-तन्त्र के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र आदि के भी मर्मज्ञ विद्वान्, मौलिक चिन्तक तथा लेखक थे। उन्होंने अपनी जन्मभूमि के वैशिष्ट्य की तरह तन्त्रादि के वाङ्मय की केसर-सुगन्धि का विश्व में विस्फार किया और लोक को त्रिकदर्शन के समन्वयसूत्र की अति उदार और व्यापक आलोक-दृष्टि प्रदान की। समन्वय की यह दृष्टि आचार्य नागार्जुन और आचार्य शङ्कर से विलक्षण है। इस समन्वय में न तो सबके निषेध की नीति है और न ही तिरस्कार का अत्यल्प अंश है। इसलिए इस सर्वकल्याणकारी समन्वय का अधिगम, आत्मसात् और अनुकरण प्रबुद्ध पुरुषों के लिए अत्यधिक कठिन भी है और सर्वथा सरल भी है। **तन्त्रालोक** उनकी इसी गूढ़ समन्वयात्मिका दृष्टि का प्रखर प्रतिबिम्ब है।

शैव दर्शन के सुप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के निर्देशन में डॉ. इरा वाजपेयी ने आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत **तन्त्रालोक** के प्रथम तीन आह्निकों का आंग्ल भाषा में सानुवाद अध्ययन, लखनऊ विश्वविद्यालय में सन् 1971 में प्रस्तुत किया था। इसी क्रम को आगे बढ़ाने के लिए डॉ. पाण्डेय ने श्रीमती कमला द्विवेदी को योग्य मानकर प्रेरित किया क्योंकि इससे पूर्व वे अपने एम.ए. संस्कृत के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत **परमार्थसार** के सानुवाद अध्ययन का कार्य पूर्ण कर चुकी थीं। फलतः श्रीमती द्विवेदी ने तन्त्रालोक के चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ आह्निकों के सानुवाद अध्ययन का संकल्प लिया। डॉ. विष्णुराम नागर के औपचारिक निर्देशन में मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा इस कार्य पर सन् 1976 में उन्हें शोधोपाधि प्रदान की गई। इससे पूर्व इसी

विषय से आंशिक रूप से सम्बद्ध काश्मीर शैव दर्शन द्वारा बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन का समालोचन विषय पर मैंने अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया ही था। दोनों ही कार्यों के सक्रिय और समर्थ निर्देशक प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी थे जो शैव दर्शन, साहित्यशास्त्र आदि के मूर्धन्य विद्वान् थे। इसलिए विषय के प्रति गहरी रुचि व गुरु-मुख से कुछ सुनने-जानने के लोभ में मैं भी श्रीमती द्विवेदी की उक्त शोधयोजना से आद्यन्त जुड़ा रहा और साथ ही यह स्वप्न संजोता रहा कि किसी दिन इस महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रकाशित स्वरूप में देखने का अवसर अवश्य सुलभ होगा। अस्तु। उक्त शोध-योजना की पूर्ति के बाद नियति का कालचक्र कुछ इस प्रकार घूमा कि विषय के प्रेरक डॉ. पाण्डेय, औपचारिक निर्देशक डॉ. नागर, पदे-पदे समर्थ मार्गदर्शन प्रदान करने वाले प्रो. द्विवेदी और अन्त में प्रबन्ध की लेखिका भी शिव-सायुज्य को प्राप्त हो गए। इस कार्य से सम्बद्ध यह अकिञ्चन जन भी इसके प्रकाशन का स्वप्न देखते-देखते वानप्रस्थ में प्रवेश कर गया। उक्त सभी विशेषज्ञों के इस बौद्धिक श्रम को सुरक्षित रखते हुए प्रकाशन की पूर्णाहुति तक पहुँचाने का नैतिक दायित्व मुझ एकाकी पर आ गया और जिसे पूरा किए बिना मेरी मनःशान्ति सम्भव नहीं थी।

लेखिका ने प्रबन्ध को प्रस्तुत करते हुए अपनी भूमिका में कहा है-"शैवदर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित मुक्ति के त्रिविध उपायों में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अनुपाय' नामक एक और उपाय जोड़ा है। इसे उन्होंने सर्वोत्तम स्वीकार करते हुए प्रथम स्थान दिया है। मुक्ति के चतुर्विध इन उपायों का स्वरूप क्रमशः आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया माना गया है। तन्त्रालोक के द्वितीय आह्निक में अनुपाय का, तृतीय में शाम्भवोपाय का, चतुर्थ में शाक्तोपाय का, पञ्चम में आणवोपाय का तथा षष्ठ में आणवोपाय के अंगभूत स्थानकल्पना एवं कालतत्त्व का विवेचन है। ..... सामान्य पाठक को तन्त्रालोक जैसे गूढ ग्रन्थ का कोई भी शब्दानुवाद 'मघवा' के स्थान पर 'विडोजा' ही लग सकता है। हिन्दी में दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद भी नहीं के बराबर हैं। अतः ऐसी उपयुक्त शैली तथा शब्दावली का विकास एवं ज्ञान अभी शेष है जिससे अनुवाद मात्र से पाठक तक मन्तव्य पहुँचाया जा सके।"

काव्य, भाषान्तर में अपने सरस और सार्थक अनुवाद की अपेक्षा रखता है और शास्त्र अपने यथार्थ, समयानुकूल और प्रामाणिक व्याख्यान-विवेचन के लिए विशेषज्ञों की बाट जोहता है। काव्य का उदाहरण कालिदास की कृतियाँ हैं और शास्त्रपक्ष से आचार्य अभिनवगुप्त के कृतित्व को देखा जा सकता है। कालिदास की रचनाओं के अनेकानेक अनुवाद विविध भाषाओं में उपलब्ध हैं किन्तु सहृदय रसिकों के पूर्ण सन्तोष का प्याला अभी भी पर्याप्तरूप से रिक्त है और इस कमी को पूरा करने के लिए अनेक बार वे, संस्कृत के भाषाज्ञान में वृद्धि करके, मूल की ओर अग्रसर होते हैं। किन्तु बात जहाँ तक आचार्य अभिनवगुप्त की है, उनकी धीर, गम्भीर व दुरूह रचनाओं के अनुवाद, प्रतिपादित विषय के विश्लेषण, विवेचन आदि की है तो कहा जा सकता है कि इस दिशा में किये गए समस्त प्रयास प्राथमिक ही हैं।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने काश्मीर शैव दर्शन के मूल लेखक सोमानन्द की भाँति इस विषय के अध्ययन की नींव रखी। उनके यशस्वी शिष्य प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी ने ग्रन्थ-लेखन व सम्पादन के साथ विश्वविद्यालयों में इसके शिक्षण, अनुसन्धान, सङ्गोष्ठियों के आयोजन आदि की परम्परा का शुभारम्भ करके मानो आचार्य उत्पलवत् इसका विस्तार किया, किन्तु अन्य विषय/क्षेत्रों में भी उनकी गहन रुचि, प्रखर मति और गम्भीर गति के कारण वे इस एक विषय तक स्वयं को सीमित न रख सके। उक्त दोनों गुरुजनों के कुशल शिष्य प्रो. नवजीवन रस्तोगी ने तो इस विषय को अपनी सारस्वत साधना का पर्याय ही बना लिया। उन्होंने इस शास्त्र-समुद्र के दोहन में अपने जीवन का समग्र नवनीतकाल समर्पित कर इसके अनन्त अनुसन्धान-पथ को नव जीवन प्रदान किया। सम्पादन, व्याख्यान-विवेचन के क्षेत्र में यह योगदान अभिनवगुप्त के गौरव का स्मरण दिलाता है। किन्तु फिर भी प्रो. रस्तोगी जैसे पूर्णकालिक, सम्पूर्णतः समर्पित और पूर्णता के पक्षधर प्रामाणिक विद्वानों में भी पूर्ण तृप्ति की अनुभूति नहीं है। तब जिन्होंने इस विषय को अपने अध्ययन हेतु आंशिक और अल्पकालिक रूप में स्वीकार किया उनकी स्वयं की तृप्ति का मृगमरीचिका होना तो स्वाभाविक ही है। यह कथा तो मात्र डॉ. पाण्डेय की शिष्य-परम्परा की है। अन्य देशी-विदेशी विद्वानों ने विविध भाषाओं में इस शास्त्र के मर्म को जिस प्रकार अनुवाद-अध्ययन आदि के माध्यम से उद्घटित किया है उसका महत्त्व

भी कम नहीं है। फिर भी यह महासमुद्र अपने पूर्ण मन्थन के लिए अभी भी प्रो. रस्तोगी जैसे पूर्णकालिक, प्रामाणिक और समर्पित समवेत नवजीवनों की प्रतीक्षा में है।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार होने के बाद की दीर्घावधि में तन्त्रालोक और इससे सम्बद्ध विषय पर अनेक गम्भीर, ऐतिहासिक और अभिनन्दनीय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अतः मन में एक विचार यह भी आया कि अब **तन्त्रालोक** के तीन आह्निकों के सानुवाद प्रकाशन की क्या सार्थकता व उपयोगिता है। किन्तु इस वैचारिक दौर्बल्य को दूर करने के लिए शीघ्र ही दो सत्तर्क उपस्थित हो गए।

तन्त्रालोक जैसे गुरु-गम्भीर ग्रन्थ के अनुवाद-अध्ययन पर कार्यों की इति कभी नहीं हो सकती। इस विषय में प्रत्येक छोटे-बड़े, आंशिक या पूर्ण, प्राचीन या अर्वाचीन, इस या उस भाषा में किये गए कार्य की आवश्यकता, महत्ता और उपयोगिता सदैव बनी रहेगी। शैव-शाक्त तन्त्र के इस महासागर-सदृश महाकोष का पूर्णतः दोहन-विवेचन एक कालखण्ड, एक विद्वान् या एक विशेषज्ञ-समूह की क्षमता से परे है। इसलिए इस ग्रन्थ के अनुवाद-अध्ययन के महायाग में अपनी दृष्टि, अपनी क्षमता, अपनी शैली वाली छोटी-बड़ी प्रत्येक आहुति का महत्त्व है।

दूसरा सत्तर्क मानवीय भावना से जुड़ा हुआ है। डॉ. पाण्डेय मेरे प्रगुरु रहे हैं। मैंने भी उनसे अपने शोधकार्य में मार्गदर्शन प्राप्त किया था। डॉ. नागर ने मुझे भी शिक्षित किया है और उनके गोलोकवास के बाद **कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार** ग्रन्थ के सम्पादन प्रकाशन का अवसर भी मुझे प्राप्त हुआ है। प्रो. द्विवेदी तो गुरु के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने के साथ मेरे पितृतुल्य संरक्षक रहे हैं। श्रीमती द्विवेदी आदर्श पत्नी और माँ थीं। उनका व्यक्तित्व सरल, कोमल, सौम्य, उदार व करुणामय था। वे परिवार के अतिरिक्त प्रो. द्विवेदी के छात्रों को भी अपने स्नेह-वात्सल्य की छाया देती थीं। विवाह के बाद बी.ए., एम.ए., पीएच.डी. तथा विश्वविद्यालय के व्याख्याता, उपाचार्य तक की शैक्षिक यात्रा पूर्ण करके उन्होंने विद्याभ्यास के प्रति अपनी गहरी रुचि को प्रमाणित किया था। उन्होंने मातृवत् वात्सल्य देकर मुझे भी 'मम्मी' के सम्बोधन का अधिकार दिया था। इसलिए मैं मानता हूँ कि इन सबके प्रति सामूहिक रूप से अपनी भावाञ्जलि व श्रद्धाञ्जलि प्रदान करने

का अमूल्य अवसर इस प्रकाशन के माध्यम से सौभाग्यवश मुझे सुलभ हुआ है।

एक अन्य दृष्टि भी है। मेरी धारणा है कि अनुसन्धान का प्रयोजन अनुसन्धाता को उपाधि के अलंकरण से विभूषित करना या उसके माध्यम से आजीविका हेतु एक अवसर या पद प्राप्त करना मात्र नहीं है अपितु उसके प्रकाशन द्वारा ज्ञानविशेष की शाखा के प्रवहमान प्रासाद में एक और अभिनव दीप प्रज्वलित करना मुख्य ध्येय है। अतः इसी वैचारिक व भावनामयी पृष्ठभूमि में, काल के अन्तराल की उपेक्षा करते हुए, यह ग्रन्थ शैव शास्त्र के जिज्ञासुओं के समक्ष सविनय प्रस्तुत है।

अनुभवी जानते हैं कि विश्वविद्यालय में प्रबन्ध का प्रस्तुतीकरण भिन्न प्रसङ्ग है और उसकी प्रकाशनार्थ प्रति तैयार करना अलग चुनौती है। ऐसा मानते हुए पाण्डुलिपि की क्रमादि व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। जहाँ शङ्का हुई, उद्धरण व सन्दर्भों की प्रामाणिकता को दुबारा जाँचा गया है तथा टिप्पणियों व व्याख्याओं में भाषा की दृष्टि से विषय को सरलतर बनाने का प्रयत्न किया गया है।

कारिकाओं के मूलपाठ के बाद कारिकाओं में प्रतिपादित विषयों की कारिकानुसार सूची देने का प्रयोजन यह है कि पाठक को एक दृष्टि में एक साथ प्रतिपादित विषय का आभास हो जाए और वह विस्तार के लिए अनुवाद, टिप्पणी, सन्दर्भ आदि देखने की जिज्ञासा बढ़ा सके।

आचार्य अभिनवगुप्त की विषय-प्रतिपादन शैली में विषय ही मुख्य है, भाषा, छन्द गौण। यही कारण है कि विषय, कभी-कभी ही नहीं, अनेकत्र व अनेकशः कारिकाविशेष की सीमा का अतिक्रमण करके अन्य कारिकाओं में, कभी अग्रिम आधी कारिका में और कभी एकाधिक कारिकाओं में प्रवेश कर जाता है। इसलिए लाख चाहते हुए भी कारिकाशः अनुवाद देना सम्भव नहीं हुआ। अतः कारिकाओं के मूल पाठ को प्रबुद्ध पाठकों के पारायण हेतु स्वतन्त्ररूप से दिया गया है तथा अनुवाद भाग में विषय को प्रधानता दी गई है।

तन्त्रालोक को समझने के लिए जयरथ अपरिहार्य है। इसलिए कारिका के प्रतिपाद्य

को स्पष्ट करने के लिए जयरथकृत **विवेक** टीका की सहायता से यथावश्यक टिप्पणियों को जोड़ा गया है।

आह्निक 4-6 में समागत प्रमुख पारिभाषिक शब्दों या लक्ष्यों के लक्षणों की सूची शैव शास्त्र की दृष्टि की विलक्षणता से परिचित कराने में अलग ढंग से सहायक होगी- ऐसा विश्वास है।

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला के 21वें पुष्प के रूप में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष है। साथ ही शैवागम के अध्ययन-अनुसन्धान के विश्व-विश्रुत विद्वान् एवं मेरे गुरुभाई प्रो. नवजीवन रस्तोगी को इस ग्रन्थ को सविनय समर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्री लोलार्क द्विवेदी, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी और मुद्रक श्री पुष्कर बाहेती, ऋषि-मुनि प्रकाशन, उज्जैन के प्रति अपने हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। पाण्डुलिपि के टंकण में कु. रजनी वर्मा (साकोनिया) और श्री मनीष खानवलकर ने निष्ठापूर्वक श्रम किया है एतदर्थ इन्हें शुभाशिषः।

दिनाङ्कः 31 जुलाई 2017 **सूर्यप्रकाश व्यास**

(लेखिकाः श्रीमती डॉ. कमला द्विवेदी की पुण्यतिथि)

आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत तन्त्रालोक

(आह्निक 4-6)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय	V
अनुक्रमणिका	XI
सङ्केत सूची	XIV

प्रथम-खण्ड

	पृष्ठसं.
प्रथम परिच्छेद	1-37

काश्मीर शैव दर्शन का वाङ्मय और तन्त्रालोक

प्राचीन परम्परा

शैवागमों का प्रादुर्भावः भारतीय दृष्टि

वाङ्मय का विकास-काल

अन्य प्राचीन आचार्य

परवर्ती ग्रन्थकार

आधुनिक संस्कृत लेखन

तन्त्रालोक का स्थान एवं महत्त्व

अर्थ तथा आह्निक-विभाग

आह्निकानुसार विषय-वस्तु

तन्त्रालोक का आधार (प्रमाण)

चतुर्थ आह्निक

पञ्चम आह्निक

षष्ठ आह्निक

शैली

निर्माण की प्रेरणा तथा स्थल

तन्त्रालोक की टीका

द्वितीय परिच्छेद	38-60

शाक्तोपाय

संवित् का स्वरूप

त्रिक-सम्मत चतुर्विध उपाय

उपायों का नानात्व, औचित्य एवं फल
शाक्तोपाय : विकल्प-संस्कार
तर्कतत्त्व
रागतत्त्व
गुरुतत्त्व
शास्त्र एवं स्वानुभव
शक्तिपात
योगाङ्गों की अनुपयोगिता
स्नानादि का तात्त्विक स्वरूप
शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध एवं शास्त्र-प्रामाण्य
मुक्ति

तृतीय परिच्छेद 61–86

आणवोपाय
स्वरूप एवं भेद
ध्यान
उच्चार
करण
वर्ण (ध्वनि)
स्थानकल्पना
कालशक्ति एवं प्राणवृत्ति
घटिकोदय
अहोरात्र (तिथि) का उदय
मासोदय
वर्षोदयं
बारह तथा साठ वर्षों का उदय
बाह्य कालविभाग
अपान में कालोदय
समान में कालोदय
उदान तथा व्यान में कालोदय
वर्णोदय

द्वितीय-खण्ड

मूल पाठ, कारिकानुसार विषय एवं सटिप्पण अनुवाद

चतुर्थ परिच्छेद 87-175

(अ) चतुर्थ आह्निक का मूलपाठ 87

(आ) चतुर्थ आह्निक की कारिकानुसार विषयसूची 106

(इ) सटिप्पण अनुवाद 115

पञ्चम परिच्छेद 176-224

(अ) पञ्चम आह्निक का मूलपाठ 176

(आ) पञ्चम आह्निक की कारिकानुसार विषयसूची 187

(इ) सटिप्पण अनुवाद 195

षष्ठ परिच्छेद 225-300

(अ) षष्ठ आह्निक का मूलपाठ 225

(आ) षष्ठ आह्निक की कारिकानुसार विषयसूची 242

(इ) सटिप्पण अनुवाद 252

परिशिष्ट 301-318

पारिभाषिक शब्दसूची

सङ्केत-सूची

अप्रसि	-	अजडप्रमातृसिद्धि
अभि	-	अभिनवगुप्तः एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी
आ.	-	आह्निक
ईप्रका	-	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ईप्रवि	-	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ईप्रविवि	-	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
उद्योत	-	स्वच्छन्दतन्त्र-टीका
का	-	कारिका
तन्त्रा	-	तन्त्रालोक
तन्त्रावि	-	तन्त्रालोक पर विवेक टीका
पसा	-	परमार्थसार
पसावि	-	परमार्थसार-विवृत्ति
प्रह	-	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्रहवृ (प्रहसूवृ)	-	प्रत्यभिज्ञाहृदयवृत्ति (प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रवृत्ति)
बृउ	-	बृहदारण्यक उपनिषद्
भा	-	भास्करी
ममं	-	महार्थमंजरी
ममंप	-	महार्थमंजरी-परिमलटीका
मातं	-	मातंग तन्त्र
मावि	-	मालिनीविजयोत्तर (-तन्त्र)
योसू	-	योगसूत्र
विभै	-	विज्ञानभैरव
विवेक	-	तन्त्रालोक पर जयरथ की टीका
शिदृ	-	शिवदृष्टि
शिदृटी	-	शिवदृष्टि-टीका (सोमानन्दकृत)
शिदृवृ	-	शिवदृष्टि-वृत्ति (उत्पलकृत)
स्पका	-	स्पन्दकारिका
स्वतं.	-	स्वच्छन्दतन्त्र

प्रथम खण्ड

प्रथम परिच्छेद

काश्मीर शैव दर्शन का वाङ्मय और तन्त्रालोक

प्राचीन परम्परा

प्रागैतिहासिक शैवधर्म, जिसके प्रमाण हमको आगे चलकर सिन्धुघाटी की सभ्यता में मिलते हैं, काश्मीर की केसर भूमि में कब और कैसे आया, यह कहना कठिन है। राजतरंगिणी के विभिन्न सन्दर्भों[1] के अनुसार यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्व से ही शिव की आराधना एवं अर्चना काश्मीर में प्रचलित थी जो विभिन्न राजाओं का आश्रय पाकर विभिन्न युगों में पल्लवित और पुष्पित होती रही।[2] किन्तु शैवधर्म का जो स्वरूप समाज में प्रचलित था वह द्वैत पाशुपत सम्प्रदाय पर आधारित था। अद्वैतप्रधान त्रिकदर्शन का प्रवर्तन आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं माना जा सकता। जिसे आज काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है उसका शास्त्रीय नाम त्रिकशास्त्र, त्रिकशासन अथवा त्रिक है। इसी को रहस्य सम्प्रदाय तथा त्र्यम्बकसम्प्रदाय भी कहा गया है। सिद्धा, वामक तथा मालिनी इन तीन आगम-समूहों को; शिव, शक्ति तथा अणु को; पति, पाश और पशु को; शिव, शक्ति तथा नर को; देवी के परा, अपरा तथा परात्परा इन तीन रूपों को मानने के कारण तथा भेद, अभेद व भेदाभेद की व्याख्या के कारण इसे त्रिक कहा जाता है।[3]

यद्यपि त्रिकदर्शन का व्यवस्थित प्रवर्तन काश्मीर में नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ है, किन्तु जिन आगमों तथा गुरुपरम्परा के आधार पर इस दर्शन का निर्माण हुआ वे इनसे काफी प्राचीन हैं। इनका समय निश्चित कर पाना अवश्य कठिन है। त्रिक दर्शन के आधारभूत शास्त्रों का तीन शाखाओं में विभाजन किया जाता है[4] : 1) आगमशास्त्र, 2) स्पन्दशास्त्र तथा 3) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। इनमें प्रथम महत्त्व स्वभावतः शैवागमों का है।

तन्त्रालोक आह्निक 36.11-12 में बताया गया है कि श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से त्र्यम्बकादित्य, अमर्दक और श्रीनाथ ने त्रिविध शैवतन्त्रों का प्रवर्तन किया। आह्निक 36.13 में यह भी बताया है कि अर्धत्र्यम्बक नाम से एक और आगम-सम्प्रदाय है जिसका प्रवर्तन त्र्यम्बक की पुत्री ने किया था। दक्षिण का शैव सिद्धान्त प्रधानतः द्वैतवादी है, जबकि काश्मीर का शैवदर्शन अद्वयवादी है। आचार्य सोमानन्द के अनुसार शिवाद्वयवाद का कई बार प्रादुर्भाव और तिरोभाव विभिन्न क्षेत्रों में हुआ। शिवदृष्टि (7.107-113) के अन्त में उन्होंने शैव दर्शन के इतिहास और परम्परा को प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार भगवान् श्रीकण्ठनाथ तथा महर्षि दुर्वासा के अनुग्रह से कलियुग में शैवागमों का प्रादुर्भाव हुआ है। आगमों के अनुसार अगस्त्य, दत्तात्रेय, दुर्वासा, परशुराम आदि पूर्ण पुरुष तान्त्रिक रहस्य विद्या के आचार्य माने गये हैं।

तन्त्रादि (36.1-5) के अनुसार ब्रह्मा, शुक्राचार्य, बृहस्पति, इन्द्र आदि इसी विधा के उपासक हैं। महाभारत (अनुशासन पर्व, अ 144-146) के अनुसार दुर्वासा ऋषि ने कृष्ण को तान्त्रिक विद्या में दीक्षित किया था। उन्होंने ही श्रीकृष्ण को 64 शैवागम सिखाये थे।

शिवदृष्टि (7.114-116) के अनुसार त्र्यम्बकादित्य प्रथम के 15वें शिष्य ने ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। इनका पुत्र संगमादित्य हुआ जो तीर्थाटन करते हुए काश्मीर पहुँचा और वहीं 8वीं शताब्दी में बस गया। इनके पूर्व काश्मीर में जो धर्म प्रचलित था वह वैदिक, वैष्णव, शैव एवं बौद्ध विश्वासों का मिला-जुला रूप था।[5] इनके बाद ही काश्मीर में शैवदर्शन प्रचलित हुआ जिसके प्रचार-प्रसार में अनेक आचार्यों ने समय-समय पर योग दिया (देखिये - शिवदृष्टि 7.122)। इन आचार्यों को मठिकागुरु कहा जाता था। ये अनेक शैवागमों के ऋषि हैं। सोमानन्द इन्हीं की चतुर्थ परम्परा के हैं। इन्होंने ही शैवदर्शन के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ शिवदृष्टि का अक्षपाद के न्यायसूत्र की शैली में निर्माण किया है। त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में ये 20वें आचार्य थे। संगमादित्य के बाद के क्रमशः तीन शिष्य वर्णादित्य, अरुणादित्य तथा आनन्द थे।[6] चूंकि संगमादित्य 16वें शिष्य थे, अतः सोमानन्द का समय 8वीं शताब्दी माना जाता है। अतः इनसे तीन पीढ़ी पूर्व के संगमादित्य का समय 7वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। सोमानन्द ने एक ऐसे शैवाचार्य का भी उल्लेख किया है जो शक्तिस्वरूप का उपासक था। उत्पलदेव ने उसके पद्य उद्धृत किये हैं और रामकण्ठ ने उसका नाम भट्ट प्रद्युम्न दिया है। सोमानन्द के 20वें प्रगुरु त्र्यम्बकादित्य का समय लगभग चतुर्थ शताब्दी ई. माना जा सकता है। काश्मीर शैव दर्शन को त्र्यम्बक-सम्प्रदाय भी कहा जाता है क्योंकि इसका प्रवर्तन त्र्यम्बकादित्य ने किया था। इस दर्शन के सम्पूर्ण वाङ्मय की रचना काश्मीर में जन्मे पण्डितों ने ही की है। इसलिये इसका काश्मीर शैवदर्शन नाम प्रसिद्ध हुआ है। उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका दार्शनिक वाङ्मय का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। माधवाचार्य ने इसका उल्लेख सर्वदर्शनसंग्रह में प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से किया है।

शैवागमों का प्रादुर्भावः भारतीय दृष्टि

आगमों का शैवदर्शन से वही सम्बन्ध है, जो कि उपनिषदों का वेदान्त से। विज्ञान-भैरव (6 पृ. 7) के अनुसार शैवागमों की उत्पत्ति शिव से ही हुई है। उन्होंने ही श्रीकण्ठनाथ के रूप में शैवागमों का ज्ञान ऋषियों को दिया है जिसकी लम्बी शिष्य-परम्परा प्राप्त होती है।[7] शैवागमों के विभिन्न सम्प्रदाय आज भी प्रचलित हैं। काश्मीर शैव दर्शन का निकटतम सम्बन्ध त्रिकसम्प्रदाय के आगमों से है। प्रमुख उपलब्ध त्रिक आगम निम्नलिखित हैं :-

मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्दतन्त्र, रुद्रयामल, नेत्रतन्त्र, मृगेन्दतन्त्र, विज्ञानभैरव, परात्रिंशिका और शिवसूत्र। नेत्रतन्त्र तथा मृगेन्द्रतन्त्र (जो कि कामिकागम का भेद है) द्वैत सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। विज्ञानभैरव तथा परात्रींशिका को रुद्रयामलतन्त्र का भाग माना जाता है। सभी

शैवागम वस्तुतः अद्वैत, द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायों के सामान्य आधार हैं। दक्षिण में 28 शैवागमों का प्रचलन है, जिनमें से 10 द्वैतवादी और 18 द्वैताद्वैतवादी धारा के माने जाते हैं। काश्मीर शैवदर्शन के आधारभूत 64 आगम हैं[8], जिनमें से त्रिकदर्शन के उपर्युक्त आगम अधिक प्रमुख हैं। नैश्वासतन्त्र, आनन्दभैरव, उच्छुष्मभैरव आदि आगमों का अब नाम मात्र ही मिलता है।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र

इसमें तेईस अधिकार (अध्याय) हैं, जिनमें व्याप्ति, मन्त्रोद्धार, भुवनाध्वा, देहमार्ग, मुद्रा, समय, क्रियादीक्षा, अभिषेक, दीक्षा, भूतजय, तन्मात्रधारणा, अक्षधारणा, धारणा, परमविद्या, कुलचक्र, मन्त्रनिर्णय, चन्द्राकृष्टि, सूर्याकृष्टि आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की प्रारम्भिक कारिकाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूल में सिद्धयोगेश्वरी तन्त्र था जिसमें नौ करोड़ कारिकाएँ थीं तथा जिसमें शैव सिद्धान्तों की भेद, भेदाभेद तथा अभेद रूप में व्याख्या की गई है। मधुसूदन कौल के अनुसार सिद्धयोगेश्वरी तन्त्र का पूर्व भाग सिद्धामत तथा अन्तिम भाग मालिनीविजयोत्तरतन्त्र है। वर्णमाला के माला शब्द से इसका मालिनी नाम पड़ा है। वर्ण-विज्ञान के क्रम के विचार से इसके दो नाम प्रसिद्ध हैं- पूर्वमालिनी और उत्तरमालिनी। पूर्वमालिनी में वर्णों की अभिव्यक्ति और ध्वनि के विचार से संस्कृत की वर्णमाला के शुद्ध वैज्ञानिक उदय-क्रम का विवेचन है। जब वाणी के स्वाभाविक और वैज्ञानिक उदय-क्रम पर ध्यान न देकर स्वरों और व्यञ्जनों के क्रमहीनरूप का विवेचन किया जाता है तो उसे उत्तरमालिनी कहा गया है। उत्तरमालिनी के वर्णों के क्रम में 'न' आदि में और 'फ' अन्त में होता है। इसलिए उत्तरमालिनी को 'नादिफान्ता' कहा जाता है। देवी और परमेश के संवाद के रूप में यह तन्त्र लिखा गया है। साधकों की देह में मन्त्रशक्ति द्वारा दिव्य प्राण संक्रमित करने की प्रक्रिया का मालिनीविजय में सुन्दर विवेचन किया गया है।[9] अभिनवगुप्त ने तन्त्रलोक में मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का श्रीपूर्वशास्त्र[10] के नाम से भी उल्लेख किया है तथा मालिनीविजयोत्तरतन्त्र से अक्षरशः उद्धरण भी दिये हैं।[11]

स्वच्छन्दतन्त्र

सम्पूर्ण स्वच्छन्दतन्त्र छह खण्डों में विभाजित है। इसमें कुल मिलाकर पन्द्रह पटल (अध्याय) हैं जिनमें मन्त्रोद्धार, अर्चा, अधिवास, दीक्षा, अभिषेक, तत्वादिदीक्षा, पंचप्रवण, काल, अंशक, भुवनाध्वदीक्षाविधि, मुद्रा तथा छुम्मका आदि विषयों का विवेचन हुआ है। स्वच्छन्दतन्त्र अद्वैत तन्त्रों में प्रधान, सभी प्रकार के भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाला एवं तात्विक रूप से गुह्य है।[12] अन्य तन्त्रों की भाँति स्वच्छन्दतन्त्र की भी रचना भैरव एवं देवी के बीच हुए संवाद के रूप में हुई है।[13] इस तन्त्र पर आचार्य क्षेमराज ने उद्योत टीका लिखी है। भाषा एवं विषय की दृष्टि से

स्वच्छन्दतन्त्र तन्त्रालोक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। तन्त्रालोक के छठे आह्निक की विषय-वस्तु बहुत कुछ इस आगम पर आधारित है। देशाध्वा तथा कालाध्वा का सारा विषय इसी आगम से लिया हुआ है। जयरथ ने इस आह्निक की व्याख्या में स्वच्छन्दतन्त्र के प्रचुर उद्धरण दिये हैं। अभिनवगुप्त ने स्वच्छन्दशास्त्र के नाम से इसके अभिप्राय का अनेकत्र उल्लेख किया है।[14] इस तन्त्र में विभिन्न आख्यानों, भूभागों, नदियों, पर्वतों, द्वीपों आदि का वर्णन पौराणिक शैली में मिलता है। पाण्डेय के अनुसार इसका समय ई. द्वितीय शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।[15]

रुद्रयामलतन्त्र

यह अद्वय-प्रधान चौसठ आगमों में से एक है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तन्त्र है, क्योंकि विज्ञानभैरव, परात्रिंशिका, भवानीनामसहस्र आदि अनेक आगम ग्रन्थ इसी के खण्ड माने जाते हैं। दुर्भाग्यवश, यह अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। अभिनवगुप्त ने श्री ब्रह्मयामल के नाम से तन्त्रा, 4.57-58 में अक्षरशः उद्धरण किया है तथा जयरथ के अनुसार तन्त्रा, 4.60-64 तथा तन्त्रा, 5.97-98 में अभिप्राय के रूप में उल्लेख किया है। यह तन्त्र रुद्रयामल से भिन्न है जिसके अनुसार अभिनव ने गुरुतत्त्व का निरूपण किया है। यह अद्वय प्रधान चौसठ आगमों की यामलतन्त्र शाखा में ही सम्मिलित है। श्री रुद्रयामलतन्त्र रुद्रतन्त्र से भी निम्न प्रतीत होता है। इस तन्त्र का उल्लेख अभिनव ने मालिनीविजयवार्तिक (पृ. 38) में किया है। परात्रिंशिका में रुद्रयामल का सार पद्यबद्ध प्रस्तुत किया गया है।[16]

परात्रिंशिका

इसका सही नाम परात्रीशिका है जिसका अर्थ है इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया- इन तीन (त्रि) की स्वामिनी (ईशिका) परासंवित्। किन्तु ध्वनिसाम्य के कारण परात्रिंशिका नाम अधिक प्रचलित हो गया है। यह रुद्रयामलतन्त्र का ही अन्तिम भाग माना गया है। इस पर सोमानन्द, भवभूति, कल्याण[17], अभिनवगुप्त, लक्ष्मीराम, लासक आदि[18] ने टीकाएँ लिखी हैं। इसी को त्रिकसूत्र त्रिकागम, अनुत्तरसूत्र भी कहा गया है।

नेत्रतन्त्र

यह स्वच्छन्दतन्त्र की अपेक्षा अर्वाचीन है। इसमें मृत्युजित् के स्वरूप तथा साधना का उपदेश है। कहा जाता है कि यह मूलतः द्वैतपरक था जिसकी क्षेमराज ने अद्वैतपरक व्याख्या की। शिव के तृतीय प्रातिभ नेत्र का स्वरूपवर्णन होने के कारण[19] तथा मुक्ति तक ले जाने (नयने) के कारण और संसार से त्राण के कारण इसे नेत्रतन्त्र कहा गया है।[20]

मृगेन्द्रतन्त्र

मृगेन्द्रतन्त्र का अर्थ नरसिंह है। शर्व द्वारा उक्त आगम के श्रोता नरसिंह के होने से इसका यह नाम पड़ा। कुछ लोग द्वैतप्रधान होने से इसकी गणना काश्मीर के शैवागमों में नहीं करना चाहते,

पर अभिनव द्वारा इसके तथा इसके मूल कामिकागम[21] के अनेकत्र उपयोग करने के कारण तथा नारायणकण्ठ की यत्र-तत्र अद्वैतप्रधान व्याख्या के कारण इसका भी शैव-दर्शन के आधारभूत आगमों में ग्रहण करना चाहिये। पशुपति की ईशान के रूप में साधना का विधान इस आगम में है। अन्य समान आगमों की भाँति इसमें विद्या, क्रिया, चर्या तथा योग के चार पाद हैं। प्रथम में 12, द्वितीय में 8, तृतीय तथा चतुर्थ में 1-1 पटल हैं। इसमें पशुपति, पशु (जीव) तथा चतुर्विध पाश का निरूपण है। कामिकागम का संक्षेप होने के कारण इसका समय बाद का प्रतीत होता है। यद्यपि जिस पाशुपत दर्शन का इसमें निरूपण है वह बहुत पुराना है। इस पर काश्मीर के श्री भट्टनारायणकण्ठ ने वृत्ति लिखी है तथा उन्होंने उत्पल की ईश्वरसिद्धि (का.55) को उद्धृत किया है। मृगेन्द्रागम कामिकागम के ही अर्थ का संग्रह प्रस्तुत करता है, यह बात स्वयं इस आगम में स्वीकार की गई है।[22]

विज्ञानभैरव

अन्य तन्त्रों की भाँति इसका उद्भव भी देवी और भैरव के बीच हुए संवाद के रूप में हुआ है। विज्ञान भैरव पर जो दो टीकाएँ मिलती हैं उनमें 161 अथवा 163 कारिकाओं का मूल ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इस पर आचार्य क्षेमराज और शिवोपाध्याय ने विवृत्ति लिखी है। आचार्य क्षेमराज ने 24वीं कारिका **'ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो'** तक विवृत्ति लिखी है तथा 25वीं कारिका से अन्त तक शिवोपाध्याय ने उद्योत नामक विवृत्ति लिखी है। सम्पूर्ण विज्ञानभैरव पर आनन्दभट्ट ने कौमुदी टीका लिखी है। इसे रुद्रयामलतन्त्र का सार एवं सर्वशक्तिप्रभेदों का हृदय कहा गया है।[23] इस ग्रन्थ में काश्मीर शैवागम के ज्ञान तथा योग पक्षों की व्याख्या है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में परम तत्त्व के स्वरूप निरूपण के बाद उसको प्राप्त करने के उपायों के रूप में 112 धारणाओं का विवेचन किया गया है।

शिवसूत्र

कैलास स्थित भगवान् शिव ने 9वीं शताब्दी के वसुगुप्त को स्वप्न में शिवसूत्र का उपदेश दिया था। वसुगुप्त के शिष्य भट्टकल्लट ने स्पन्दकारिकावृत्ति के अन्त में इस बात का उल्लेख किया है। एक परम्परा यह भी प्रचलित हो गई थी कि वसुगुप्त को महादेवक नामक पर्वत की एक शिला पर ये सूत्र उत्कीर्ण हुए मिले थे। क्षेमराज और वरदराज इसी परम्परा में विश्वास करते हैं।[24] राजानक रामकण्ठ, उत्पलवैष्णव तथा भट्टभास्कर भी स्वप्नोपदेश की कथा को सिद्ध मानते हैं।

क्षेमराज ने शिवसूत्रों पर शिवसूत्रविमर्शिनी नाम से टीका लिखी है। भट्टभास्कर ने शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखा है। शिवसूत्र तीन अध्यायों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः आणव उपाय, शाक्त उपाय तथा शाम्भव उपायों का, उनके प्रयोग तथा फल के साथ, विस्तृत विवेचन है। त्र्यम्बकमठिका के वसुगुप्त प्रधान आचार्य हैं जिनका शिवसूत्र त्रिक-साधना का प्रमुख ग्रन्थ है। राजतरंगिणी के

अनुसार, भट्टकल्लट, वसुगुप्त का शिष्य था जो अवन्तिवर्मा (855-883 ई.) का समकालीन माना गया है। अतः वसुगुप्त का समय 9वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। भट्टभास्कर, क्षेमराज तथा वरदराज शिवसूत्र के प्रधान टीकाकार हैं।

वाङ्मय का विकास-काल

सोमानन्द, उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त ने बौद्धदर्शन का खण्डन कर शैवदर्शन के सिद्धान्तों को पुष्ट आधार दिया। इनके अनेक अनुयायियों ने शैव-दर्शन के विकास में योग दिया। इनमें प्रमुख आचार्य और उनकी कृतियाँ निम्न लिखित हैं :-

भट्टकल्लट की स्पन्दकारिका

वसुगुप्त के शिवसूत्र के तान्त्रिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए भट्टकल्लट ने 9वीं शताब्दी के मध्य में 51 कारिकाओं में स्पन्दकारिका का निर्माण किया। यह चार निष्यन्दों अथवा अध्यायों में विभाजित है। इनके क्रमशः नाम हैं - व्यतिरेकोपपत्तिनिर्देश, व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धि, विश्वस्वभावशक्त्युपपत्ति तथा अभेदोपलब्धि। सैद्धान्तिक विवेचन की अपेक्षा इसमें साधना एवं समावेश के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। इसमें उस शैव योग का प्रतिपादन है जो पतञ्जलि के निरोधात्मक योग तथा हठयोग की कष्टकर प्रक्रियाओं से भिन्न है। इसी स्पन्दकारिका के 'स्पन्दामृत' तथा 'स्पन्दशास्त्र' ये नामान्तर भी उपलब्ध होते हैं।

सोमानन्द की शिवदृष्टि

इसका समय 9वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इस पर उत्पल ने वृत्ति तथा अभिनव ने शिवदृष्ट्यालोचन (अनुपलब्ध) लिखा था। सोमानन्द ने ही शिवाद्वयवाद को व्यवस्थित दार्शनिक आधार प्रदान किया है। इसमें 700 कारिकाएँ हैं जो 7 अध्यायों (आह्निकों) में विभाजित है। इनकी विषयवस्तु इस प्रकार है -

प्रथम आह्निक में परम तत्त्व के स्वरूप, उसके विश्वात्मक होने, शैवकारणवाद, सृष्टिप्रक्रिया आदि का विवेचन है। द्वितीय आह्निक में संस्कृत के व्याकरणदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन है। इसमें विवर्तवाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। भर्तृहरि के पश्यन्ती को ही परा मानने का खण्डन किया गया है तथा अविद्या-सम्बन्धी मत के सम्बन्ध में भी आलोचना प्रस्तुत की गई है। तृतीय आह्निक में भट्टप्रद्युम्न द्वारा स्वीकृत शक्तिवाद (शिव की अपेक्षा शक्ति की प्रधानता के मत) का खण्डन किया गया है। शिवाद्वयवाद के विरोधी 21 मतों का खण्डन भी इसमें प्राप्त होता है। चतुर्थ आह्निक में शिवाद्वयवाद का समर्थन किया गया है, दर्शनान्तर की शंकाओं का समाधान किया गया है तथा शैव सर्वेश्वरवाद, जिसके अनुसार सब कुछ शिव ही है और शिव से ही सब कुछ का आभासन होता है, को प्रस्तुत किया गया है। इसी में शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति का तथा शिवाद्वयवाद के वास्तविक एवं पूर्ण अद्वैतवाद होने का

प्रतिपादन किया गया है। पञ्चम से सप्तम आह्निकों पर उत्पल की वृत्ति उपलब्ध नहीं है, अतः ग्रन्थ को स्पष्ट समझ पाना कठिन है। पञ्चम आह्निक में सर्वेश्वरवाद का ही विस्तार से मण्डन किया गया है। षष्ठ आह्निक में दूसरे दर्शनों पर विचार प्रस्तुत किया गया है। उनके परम-तत्त्व-सम्बन्धी मतों की मीमांसा की गई है। वेदान्त के दस सम्प्रदायों की मूल धारणाओं की व्याख्या और विवेचना की गई है। इसी प्रकार कुछ ज्ञात और कुछेक अज्ञात सम्प्रदायों, जैसे कि कालकारणिक एवं सद्धामवादी का विवेचन एवं खण्डन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार शैव द्वैतवादी एवं द्वैताद्वैतवाद का भी खण्डन प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम आह्निक में मोक्ष-साधक तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं साधनाओं को तथा शैवयोग एवं उसके फल का विवेचन किया गया है। इसी के अन्त में सोमानन्द ने त्र्यम्बकादित्य प्रथम से लेकर अपने समय तक की शैवदर्शन की आचार्य - परम्परा का उल्लेख किया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार[25], सोमानन्द ने परात्रीशिका पर टीका लिखी थी। सोमानन्द ने परमशिव की अनुग्रहपूर्ण क्रीड़ा एवं उसके स्वातन्त्र्य एवं सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है। शिवदृष्टि दार्शनिक दृष्टि से परवर्ती प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मेरुदण्ड है।

उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

सोमानन्द के प्रमुख शिष्य, उदयाकर एवं वागीश्वरी के पुत्र, मूलतः लाटदेशीय उत्पलदेव का स्थितिकाल नवम शताब्दी का अन्तिम भाग है।[26] उनकी प्रसिद्ध कृति ईश्वरप्रत्यभिज्ञा है जो प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रमुख किंवा प्रवर्तक ग्रन्थ है। शिवदृष्टि तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में नाम, शैली एवं आकार का भेद अवश्य है, किन्तु उनका प्रतिपाद्य एक ही है। उत्पल ने स्वयं कहा है कि शिवदृष्टि में उनके महागुरु ने जो कुछ भी बताया है उसी नवीन मार्ग को उन्होंने प्रकट किया है। अभिनवगुप्त भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को सोमानन्द की प्रज्ञा का प्रतिबिम्ब मानते हैं।[27] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में 4 प्रकरण (अधिकार) हैं। ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार तथा तत्त्वसंग्रहाधिकार। इन्हें विमर्शिनी के अनुसार 15 आह्निकों में और अभिनवगुप्त की विवृत्तिविमर्शिनी के अनुसार 16 आह्निकों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अधिकार में शिव की ज्ञानशक्ति का विवेचन है। शैवदर्शन के मूल तत्त्वों को प्रतिपादित करने के बाद बौद्धों के विज्ञानवाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। आत्मा के अस्तित्व का चित्त्वृत्ति से स्वतन्त्ररूप में प्रतिपादन है। इसके अनन्तर परमशिव की स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन (विश्लेषण, विवेचन, पृथक्करण) शक्तियों का विवेचन है। परमशिव को ही इस समग्र विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण माना गया है।

द्वितीय क्रिया-अधिकार में परमशिव की क्रियाशक्ति एवं उसके विभिन्न आभासों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त क्रम, काल, दिक्कारणवाद आदि की मीमांसा प्रस्तुत की गई है।

तृतीय आगमाधिकार में शैवदर्शन के 36 तत्त्वों तथा 7 प्रकार के प्रमाताओं का आगम के अनुसार विवरण एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ तत्त्वसंग्रहाधिकार में पहले के अधिकारों का संक्षेप प्रस्तुत किया गया है तथा परमशिव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

उत्पल ने सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त एवं बौद्ध, विशेषतः सौत्रान्तिक का प्रबल खण्डन किया है।

शिवदृष्टि की अपेक्षा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अपने विवेचन की पूर्णता, व्यापकता एवं विशदता के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध है। इसी के कारण इस दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा पड़ा। जाति, वर्ण, लिङ्ग आदि के भेदों को मिटाकर यह दर्शन जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने को पहिचान लेने का मार्ग बतलाता है जो साधना की दृष्टि से सुकर, सुगम एवं सहज है।

उत्पलदेव के अन्य ग्रन्थ

अभिनवगुप्त के द्वारा अनेकशः उद्धृत, उत्पलदेव के ग्रन्थ निम्नांकित हैं:-

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति –

यह उत्पलदेव की ही स्वयं की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर एक लघु टीका है जो उन्होंने दार्शनिक अंशों को स्पष्ट करने के लिए लिखी थी।

2. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति या टीका –

यह महत्त्वपूर्ण टीका अभी तक उपलब्ध न हो सकी है। अभिनवगुप्त ने इस पर एक विस्तृत टीका लिखी है, जिसका नाम है **बृहतीविमर्शिनी।**

3. अजडप्रमातृसिद्धि

4. ईश्वरसिद्धि

5. सम्बन्धसिद्धि

उत्पल ने इन संक्षिप्त ग्रंथों का निर्माण ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के सहायक ग्रन्थों के रूप में किया था। इसमें क्रमशः प्रमाता के चेतन होने, ईश्वर तथा विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों का विवेचन है। उन्होंने तीनों पर वृत्ति लिखी है। दुर्भाग्यवश अजडप्रमातृसिद्धि पर वृत्ति अब उपलब्ध नहीं है। प्रथम में बौद्धों के अनात्मवाद तथा दूसरे में सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया तथा तीसरे में बौद्ध आदि के सम्बन्ध-सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

6. शिवदृष्टि पर भी उत्पल ने वृत्ति लिखी थी, जो केवल 1-4 आह्निकों पर उपलब्ध है। शिवदृष्टि के 5-7 आह्निकों पर वृत्ति के उपलब्ध न होने के कारण मूल ग्रन्थ को समझ पाना दुर्गम हो गया है।

7. शिवस्तोत्रावली - शिव की स्तुति में विरचित दार्शनिक अर्थों से गुम्फित भावपूर्ण पद्यों का ललित संग्रह है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पलदेव ने और भी कुछ ग्रन्थ लिखे होंगे क्योंकि अभिनवगुप्त अनेकधा उनके मतों का उल्लेख करते हैं[28], जो उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्य नहीं हैं।

अभिनवगुप्त के टीकाग्रन्थ

1. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** (लघ्वीवृत्ति)
2. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** (बृहतीवृत्ति)

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रथम टीका छोटी है और दूसरी बड़ी। वस्तुतः इन टीकाओं के बिना ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को समझ पाना असम्भव -सा है।

3. **परात्रीशिकाविवरण**

परात्रीशिका भैरव एवं भैरवी के संवाद में लिखी हुई 30 कारिकाओं की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक कृति है। इसमें तान्त्रिक गुह्य साधना का भैरव द्वारा उपदेश है। अभिनवगुप्त ने सोमानन्द की वृत्ति के आधार पर विवरण लिखा है जो अनेकत्र सोमानन्द-कृत वृत्ति को उद्धृत करता है।

4. **शिवदृष्ट्यालोचन**

जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह सोमानन्द की शिवदृष्टि पर टीका रही होगी, किन्तु दुर्भाग्यवश यह उपलब्ध नहीं है।

5. **भगवद्गीतार्थसंग्रह**

श्रीमद्भगवद्गीता पर यह अत्यन्त संक्षिप्त टीका है।

अभिनवगुप्त ने अन्य शैवागमों पर टीकाएँ लिखी थीं। उनका सन्दर्भ अभिनवगुप्त की कृतियों से प्राप्त होता है। किन्तु अब वे उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिये, उन्होंने अपने क्रमस्तोत्र पर क्रमकेलि नाम से टीका लिखी थी जो अभी तक उपलब्ध न हो सकी है।

अभिनवगुप्त के मौलिक ग्रन्थ

1. **तन्त्रालोक**

अभिनवगुप्त की विभिन्न मौलिक कृतियों में तन्त्रालोक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय है। वस्तुतः यह शैव आचार, साधना, योग एवं तान्त्रिक कर्मकाण्ड का विश्वकोण है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

2. **तन्त्रसार**

गद्य में लिखित यह ग्रन्थ तन्त्रालोक के प्रमुख विषयों का सार अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

3. तन्त्रवटधानिका

तन्त्रसार का ही यह पद्यात्मक सार है जिसे सम्भवतः अभिनवगुप्त ने नहीं अपितु सनाम सम्बन्धी ने लिखा था।

4. मालिनीविजयवार्तिक

मालिनीविजयतन्त्र के अत्यन्त गुह्य विषयों का इस ग्रन्थ में विस्तार मिलता है। शैव योग की विभिन्न साधनाओं का इसमें रहस्य उन्मीलित है। शैवदर्शन की व्यापक दृष्टि तथा उसकी तार्किकता की प्रतिष्ठा भी इस वार्तिक में प्राप्त होती है।

सामान्य जनता के लिए सरल भाषा में शैव दर्शन एवं साधना को प्रस्तुत करने के लिये अभिनवगुप्त ने छोटी-छोटी अनेक रचनाएँ की हैं। वे निम्न लिखित हैं:-

1. बोधपञ्चदशिका

इसमें कुल सोलह पद्य हैं, जिनमें सृष्टि एवं कारणवाद, शिवशक्ति सम्बन्ध, बन्धन एवं मोक्ष का स्वरूप सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

2. परमार्थसार

इसमें 105 कारिकाएँ हैं। वस्तुतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त के शेषमुनि-प्रणीत ग्रन्थ को ही त्रिक दर्शन के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों के अनुरूप संशोधित एवं परिष्कृत कर अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया।

3. परमार्थचर्चा

यह छोटी-सी पुस्तक है जिसमें परमतत्त्व का स्वरूप एवं सांसारिक कार्य करते हुए उसके साक्षात्कार का उपाय बताया गया है।

4. परमार्थद्वादशिका

यह भी उपर्युक्त ग्रन्थ की भाँति परमार्थ के स्वरूप का विवेचन करता है। यह अभिनवगुप्त की ही कृति है, इसमें सन्देह है।

अभिनवगुप्त ने शिव एवं शक्ति की स्तुति में अनेक रमणीय स्तोत्र भी लिखे हैं जो उनकी काव्य-प्रतिभा, परमभक्ति के द्योतक हैं साथ ही उनकी रहस्यानुभूति के प्रमाण हैं। इन स्तोत्रों में प्रमुख निम्नांकित हैं:-

1. क्रमस्तोत्र

काली की स्तुति में विरचित इस स्तोत्र में 30 पद्य हैं जिनमें से अनेक शाक्त उपाय के गुह्य तत्त्वों को सहज अनावृत करते हैं।

2. भैरवस्तोत्र

इसमें कुल दस पद्य हैं, जो अभिनवगुप्त के भैरव के साथ तादात्म्य के अनुभव को कवि की ललित एवं रागात्मक भाषा में प्रस्तुत करते हैं।

3. अनुत्तराष्टिका

आठ पद्यों की इस रचना में आत्म-साक्षात्कार के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप का प्रतिपादन है।

4. अनुभवनिवेदन स्तोत्र

इसमें कुल चार पद्य हैं, जिसमें शाम्भवी मुद्रा का स्वरूप-वर्णन है।

5. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र

इसमें पन्द्रह पद्य हैं। विभिन्न इन्द्रियों आदि को नियन्त्रित करने वाली अधिष्ठात्री शक्तियों की अर्चना इस स्तोत्र में मुखरित हुई है।

अभिनवगुप्त की अनेक रचनाएँ जिनका उल्लेख इधर-उधर बिखरे सन्दर्भों में प्राप्त होता है, अभी तक मिल नहीं पाई हैं। अभिनवगुप्त के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व के लिये डॉ. के.सी. पाण्डेय का शोधग्रन्थ द्रष्टव्य है।

अन्य प्राचीन आचार्य

1. भट्टनारायण

इनकी कृति है **स्तवचिन्तामणि**, जो शिव की स्तुति में प्रणीत अत्यन्त मनोहर स्तोत्र है। क्षेमराज के अनुसार यह परमेश्वर के पौत्र तथा अपराजित के पुत्र थे। अभिनवगुप्त ने इनका प्राचीन गुरु के रूप में उल्लेख किया है।[29]

2. भट्टभास्कर

इनकी रचना **शिवसूत्रवार्तिक** है। यह वसुगुप्त के शिवसूत्र पर 390 पद्यों में टीका है जो शिवसूत्र के गुह्यसिद्धान्तों की सरल भाषा में व्याख्या करने के लिए लिखी गई थी। भट्टभास्कर ने वसुगुप्त (525 ई.) की परम्परा में अपने को सातवीं पीढ़ी का शिष्य घोषित किया है।[30]

3. भट्टप्रद्युम्न

इनकी अनुपलब्ध कृति है तत्त्वगर्भस्तोत्र। इसमें शिव की अपेक्षा शक्ति को प्रधानता दी गई है। सोमानन्द[31], उत्पलदेव[32] तथा रामकण्ठ[33] ने इस स्तोत्र के पद्यों को उद्धृत किया है। भट्टप्रद्युम्न सोमानन्द तथा रामकण्ठ के समकालीन प्रतीत होते हैं। सोमानन्द ने अपनी शिवदृष्टि में भट्टप्रद्युम्न के मतों का खण्डन किया है।[34]

4. भूतिराज

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक तथा तन्त्रसार में अनेकत्र भूतिराज का उल्लेख किया है। ब्रह्मविद्या का उपदेश अभिनवगुप्त ने इनसे प्राप्त किया था। यद्यपि भूतिराज की कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है, किन्तु तन्त्रसार[35] में उनका उद्धरण प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने यह भी लिखा है कि उनके पिता ने श्रीभूतिराज से शैवशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था।[36]

लक्ष्मणगुप्त, भूतराजतनय (अर्थात् भूतेन्दुराज), प्रज्ञार्जुन, महादेव भट्ट, श्रीकण्ठभट्ट आदि अनेक शैव दर्शन के आचार्यों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है, किन्तु इनमें से किसी भी आचार्य की रचना उपलब्ध नहीं है।

शिवसूत्र की टीकाएँ

नवम शताब्दी के वसुगुप्त को प्राप्त शिवसूत्र शैवसाधना के प्रमुख प्रतिपादक हैं जो अनुषंगतः शैव दर्शन की मान्यताओं को भी प्रतिपादित करते हैं। इनकी टीकाएँ निम्नाङ्कित हैं:-

1. शिवसूत्रवृत्ति –

शिवगुप्त के शिष्य भट्टकल्लट (855 ई.) के नाम से प्रचलित यह टीका अत्यन्त संक्षिप्त है जो कदाचित् क्षेमराज की **शिवसूत्रविमर्शिनी** का सार प्रस्तुत करती है।

2. शिवसूत्रवार्तिक

भट्टभास्कर (655ई.) का यह वार्तिक 390 पद्यों में है, जो त्रिकयोग के गुह्य तत्त्वों का व्याख्यान प्रस्तुत करता है। वसुगुप्त की शिष्य-परम्परा में भट्टभास्कर सातवीं पीढ़ी के हैं जैसा कि इनके वार्तिक के प्रारम्भिक पद्य से ज्ञात होता है।

3. शिवसूत्रविमर्शिनी

अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य क्षेमराज की यह अत्यन्त विस्तृत शिवसूत्रटीका है।

4. शिवसूत्रवार्तिक

वरदराज क्षेमराज के केरल-निवासी शिष्य थे जिन्होंने अपने गुरु क्षेमराज की विमर्शिनी के आधार पर वार्तिक का प्रणयन किया था।

स्पन्दकारिका की टीकाएँ

वसुगुप्त के शिष्य तथा राजा अवन्ति वर्मा (855ई.) के समकालीन भट्टकल्लट सिद्ध रूप में प्रसिद्ध थे।[37] उनकी कृति स्पन्दकारिका की निम्नाङ्कित टीकाएँ हैं:-

1. स्पन्दसर्वस्व –

भट्टकल्लट द्वारा अपनी स्पन्दकारिका पर विरचित अत्यन्त संक्षिप्त स्वोपज्ञा वृत्ति है जिसे स्पन्दवृत्ति भी कहा जाता है।

2. स्पन्दविवृत्ति –

रामकण्ठ (875 ई.) ने स्पन्दसर्वस्व का विशद व्याख्यान प्रस्तुत करने के लिए इस विवृत्ति का प्रणयन किया था। रामकण्ठ भट्टकल्लट के समकालीन, उत्पलदेव के शिष्य तथा अवन्तिवर्मा के समकालीन मुक्ताकण के अनुज थे। उन्होंने भगवद्गीता तथा मातंगतन्त्र पर भी टीकाएँ लिखी हैं।

3. स्पन्दनिर्णय

क्षेमराज ने इस टीका का निर्माण अन्य टीकाओं की अपेक्षा श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए किया था।[38] स्वभावतः यह टीका अधिक विस्तृत एवं विशद है। पं. मधुसूदन कौल ने इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है।

4. स्पन्दसंदोह –

स्पन्दकारिका की प्रथम कारिका की यह अत्यन्त विशद टीका है, जिसे क्षेमराज ने स्पन्दसिद्धान्त को विस्तार से समझाने के लिए लिखा है।

5. स्पन्दप्रदीपिका –

उत्पलवैष्णव की यह टीका विस्तृत, सारगर्भित तथा वैदुष्यपूर्ण है। इसमें अनेक अनुपलब्ध तन्त्रग्रन्थों के उद्धरण प्राप्त होते हैं।

क्षेमराज के ग्रन्थ

अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार क्षेमराज हैं जिनका समय 11वीं शताब्दी है। इनके मौलिक ग्रन्थ निम्नाङ्कित हैं:-

1. प्रत्यभिज्ञाहृदय –

सूत्र तथा वृत्ति में विरचित यह ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञादर्शन को समझने के लिए अत्यन्त सुबोध तथा महत्त्वपूर्ण है। इसका ऐमिलवेरल द्वारा जर्मन में, लेडेकर तथा जयदेवसिंह द्वारा अंग्रेजी में तथा विशालप्रसाद त्रिपाठी द्वारा हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

2. पराप्रवेशिका –

शैवदर्शन को बालावबोधाय प्रस्तुत करने के लिए यह लघु पुस्तिका है।

3. बोधविलास –

प्रत्यभिज्ञाहृदय के सार को कारिकाओं में इस ग्रन्थ में सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है।

क्षेमराज द्वारा प्रणीत टीकाएँ निम्नाङ्कित हैं:-

1. शिवसूत्रविमर्शिनी
2. स्पन्दसन्दोह
3. स्पन्दनिर्णय
4. स्तवचिन्तामणि-विवृत्ति
5. विज्ञानभैरव-उद्योत (खण्डित)
6. स्वच्छन्दतन्त्र-उद्योत
7. नेत्रतन्त्रउद्योत
8. शिवस्तोत्रावली-टीका
9. साम्बपंचाशिका-टीका

परवर्तीग्रन्थकार

शैवदर्शन के परवर्ती ग्रन्थकारों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:-

1. **योगराज** (1100 ई. का उत्तरार्ध)-

क्षेमराज के शिष्य योगराज ने अभिनवगुप्त-कृत परमार्थसार की टीका लिखी है।

2. **महेश्वरानन्द**-

इन्होंने महाराष्ट्रीय अपभ्रंश में **महार्थमंजरी** लिखी है। क्षेमराज को इन्होंने उद्धृत किया है तथा विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने इनका उल्लेख किया है।[39] अतः इनका समय 12वीं शताब्दी में है। डॉ. राघवन् के अनुसार ये चोलकालीन हैं। कुल-सम्प्रदाय के अनुसार शैव-अद्वैतवाद की इन्होंने अभिनवगुप्त के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की है।

3. **मधुराज** -

ये केरल के निवासी थे, जिन्होंने अभिनवगुप्त से शिक्षा प्राप्त की थी। इन्होंने **गुरुनाथ-परामर्श** नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने अभिनवगुप्त के स्वरूप का वर्णन किया है।

4. **वरदराज** -

मधुराज के पुत्र वरदराज क्षेमराज के शिष्य थे। इनका समय 11वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। क्षेमराज की **विमर्शिनी** के आधार पर प्रणीत वसुगुप्त के शिवसूत्र की टीका इनकी एकमात्र कृति है जिसका नाम है **शिवसूत्रवार्तिक**।

5. नारायणकण्ठ (1100 ई.)

शङ्कर के पौत्र तथा विद्याकण्ठ के पुत्र नारायणकण्ठ ने मृगेन्द्रतन्त्र पर वृत्ति लिखी है।

6. जयरथ (1200 ई.)

तन्त्रालोक की विवेक टीका तथा वामकेश्वरी मत की टीका। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है।

7. शितिकण्ठ (12वीं ई. का उत्तरार्ध)

काश्मीरी अपभ्रंश में लिखित महानय-प्रकाश कुल सम्प्रदाय का अनुसरण करता है।

8. साहिबकौल

शाहजहाँ तथा औरंगजेब के समकालीन साहिबकौल सिद्धपुरुष थे जिन्होंने अपने देवीनामविलास में वेदान्त एवं शैव अद्वैतवाद का समन्वय प्रस्तुत किया है। इसमें भवानी के एक सहस्र नामों का काव्यमय उल्लेख है। श्रीविद्या के उपासक नाथ-सिद्धों की परम्परा में श्रीसाहिब्रकौल एक सिद्ध पुरुष थे। उनकी अन्य कृतियाँ हैं :-

1. कल्पवृक्षप्रबन्ध
2. सच्चिदानन्दकन्दली
3. शिवजीवदशकम्
4. आत्मकथा (यह काश्मीरी भाषा में लिखी गई है)।

9. शिवोपाध्याय

काश्मीर शैवदर्शन की परम्परा के अन्तिम कवि हैं। इन्होंने विज्ञानभैरव पर टीका लिखी है तथा श्रीविद्या नामक मौलिक ग्रन्थ लिखा है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

10. भास्करकण्ठ

इन्होंने अभिनवगुप्त की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पर भास्करी लिखी है तथा लल्लेश्वरी-वाक्यानि का अनुवाद किया है। भास्करी का दो खण्डों में आलोचनात्मक सम्पादन प्रो. को.अ. सुब्रहण्य अय्यर तथा डॉ. के.सी. पाण्डेय ने किया है।

आधुनिक संस्कृत लेखन

जिन्होंने शैवदर्शन पर संस्कृत में ग्रन्थ-निर्माण की परम्परा कायम रखी है उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्धपुरूष श्री अमृतवाग्भवाचार्य का है। इनकी कृतियाँ निम्नाङ्कित हैं :-

1. आत्मविलास
2. विंशतिकाशास्त्र
3. महानुभव-शक्तिस्तोत्र
4. मन्दाक्रान्तास्तोत्र
5. षट्त्रिंशतत्त्वशास्त्र
6. दैशिक-दर्शन
7. सिद्धमहारहस्य

इनके अतिरिक्त श्री हरभट्ट ने पञ्चस्तवी तथा अजडसिद्धि पर टीका (वृत्ति) लिखी है। श्री रामेश्वर झा ने पूर्णताप्रत्यभिज्ञा नामक अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित ने स्वातन्त्र्यसिद्धान्त को स्पष्टतः प्रतिपादित करने के लिये श्लोकों में 'स्वातन्त्र्यदर्पण' लिखा है। अमृतवाग्भवाचार्य के संस्कृत ग्रन्थों की टीका भी की है, जो अभी तक अप्रकाशित है। इनके अतिरिक्त तन्त्र के कुछ विशिष्ट संस्कृत-विद्वानों में दिवंगत म.म. नारायण शास्त्री खिस्ते, उनके पुत्र प्रो. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते (वाराणसी) तथा लक्ष्मण जू ब्रह्मचारी (श्रीनगर) के नाम भी उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपने संस्कृत-निबन्धों के माध्यम से और विशेषतः साधना से इस परम्परा को आधुनिक युग तक जीवित रखा है।

जिन विद्वानों ने काश्मीर शैवदर्शन का विशिष्ट अध्ययन अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, हिन्दी आदि भाषाओं के माध्यम से किया है उनमें जे.सी. चटर्जी, डॉ. के.सी. पाण्डेय, डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित आदि उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थों के सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में समाहित हैं। वस्तुतः पं. मधुसूदन कौल आदि अनेक संपादकों ने आवश्यक भूमिका के साथ काश्मीर शैवदर्शन के विशाल वाङ्मय का प्रकाशन किया। उन्हीं के तप का यह परिणाम है कि आज इस दर्शन की चर्चा निरन्तर बढ़ती जा रही है। डॉ. के.सी. पाण्डेय द्वारा लखनऊ विश्वविद्यालय में इस दर्शन के अध्ययन के लिये स्थापित अभिनवगुप्त संस्थान इस ज्ञान-दीप को निरन्तर प्रज्वलित रखने में लगा हुआ है।

प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित शैवधर्म अपनी शाखा-प्रशाखाओं, मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों एवं विपुल वाङ्मय के माध्यम से आज भी जीवन्त है। उसी की काश्मीर शाखा के अद्वैतमूलक त्रिकदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है।

अभिनवगुप्त ने अपने से पूर्ववर्ती विशाल एवं विविध वाङ्मय का मन्थन किया था, उसके सैकड़ों सन्दर्भ तन्त्रालोक में समाहित हैं।[40] वस्तुतः जिस प्रकार शंकर ने वेदान्तवाक्यकुसुमों

का ग्रथन करने वाले सूत्रों के अपने भाष्य में सारे कुसुम संजोये हैं, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने भी समग्र आगम-परम्परा को अद्वयदृष्टि से समन्वय प्रदान किया है।

तन्त्रालोक का स्थान एवं महत्त्व

अर्थ तथा आह्निक-विभाग

यह ग्रन्थ आचार्य अभिनवगुप्त का कीर्तिस्तम्भ है। आचार्य शंकर की कृतियों में जो स्थान शारीरिक भाष्य का है वही स्थान अभिनवगुप्त की कृतियों में तन्त्रालोक का है। न केवल यह सबसे अधिक विशाल है अपितु अद्वैतप्रधान शैवागमों का यह विश्वकोष है। स्वयं अभिनवगुप्त ने कहा है कि इसके अध्ययन मात्र से व्यक्ति साक्षात् भैरव हो जाता है।[41] समग्र तन्त्रों (आगमों) का आलोक (प्रकाश) होने के कारण इसकी संज्ञा चरितार्थ है। जयरथ (विवेक पृ. 258) इसका शब्दार्थ इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं: **तन्त्राणां पारमेश्वराणाम् आलोक इव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा।** इस ग्रन्थ के आलोक को पाकर संसार सुखपूर्वक तन्त्र-प्रक्रियाओं में विचरण कर सकता है।[42] क्षेमराज ने तन्त्रालोक को अशेष आगमोपनिषदों का आलोक कहा है।[43] तन्त्र शब्द विस्तारार्थक तन् से अथवा व्याख्यार्थक तत्रि अथवा तन्त्रि धातु से बना माना जाता है।[44] इसका सामान्य अर्थ है किसी विषय का व्यवस्थित प्रतिपादन। इस अर्थ में यह शास्त्र (शासनात् शास्त्र)[45] शब्द का समानार्थक है। **(प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः। तन्त्रा, 1.13)**। इसे आगम का भी पर्याय माना जाता है, किन्तु कहीं-कहीं इन दोनों में अन्तर भी किया गया है।[46] सांख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका में एक प्राचीन[47] उद्धरण के द्वारा तन्त्र (शास्त्र) के 11 गुण बताये गये हैं :-

(1) सूत्र (विषय के सूचक वाक्य)

(2) प्रमाण (प्रत्यक्षादि) तथा

(3) अवयवों (जिज्ञासादि तथा प्रतिज्ञादि) की उपपत्ति (तर्कसंगत उपस्थापन)

(4) अन्यूनता (विषय की सम्पूर्णता)

(5) संशय (सामान्यरूप में वस्तु का प्रतिपादन) तथा

(6) निर्णय (विशेषरूप से वस्तु का प्रतिपादन) की उक्ति

(7) उद्देश (संक्षेपतः वस्तुकथन)

(8) निर्देश (विस्तार से वस्तु-कथन)

(9) अनुक्रम (वस्तु का क्रम-पूर्वक सन्निवेश)

(10) संज्ञा (संज्ञी को बताने के लिये शब्दप्रयोग)

(11) उपदेश (इति-कर्त्तव्यता तथा फल का आख्यान)

युक्तिदीपिकाकार ने तन्त्रगुणों में उत्सर्ग, अपवाद तथा अतिदेश को भी सम्मिलित कर कुल चौदह गुण बताए हैं। तन्त्रालोक में यह गुण-सम्पत्ति विद्यमान है।

तन्त्रालोक 37 आह्निकों में विभक्त है। इसका 12 खण्डों में प्रकाशन हुआ है। आह्निक (**अह्नि भवः, अह्ना निर्वृतः, साध्यः - ठम्**) का अर्थ है जो एक दिन में किया जाय। त्रिकदर्शन के प्रथम व्यवस्थित ग्रन्थ शिवदृष्टि का भी विभाजन आह्निकों में है। सम्भवतः इसी से प्रेरणा लेकर तन्त्रालोक का भी विभाजन आह्निकों में किया गया है। जयरथ के अनुसार आह्निक शब्द का प्रयोग औपचारिक नहीं है। सम्भवतः अभिनवगुप्त प्रत्येक आह्निक को एक दिन में ही समाप्त कर लेते थे।[48] साहित्यशास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ ध्वन्यालोक है जिस पर अभिनवगुप्त ने लोचन नामक टीका लिखी है। सम्भवतः मूलग्रन्थ के आलोक शब्द का उपयोग करने की प्रेरणा अभिनवगुप्त को वहीं से प्राप्त हुई हो। सभी आह्निक समान नहीं है। 15वाँ आह्निक सबसे बड़ा है तथा 34वाँ सबसे छोटा है। इसमें कुल मिलाकर 5831 कारिकाएँ हैं। इन आह्निकों की विषय-वस्तु, समाप्ति-पद्यों तथा पुष्पिकाओं में निम्नाङ्कित है। प्रत्येक आह्निक की कारिका संख्या उसी के आगे निर्दिष्ट है :-

01. विज्ञानभेदप्रकाशनम् 334.
02. अनुपायप्रकाशनम् 49.
03. शाम्भवोपायप्रकाशनम् 293.
04. शाक्तोपायप्रकाशनम् 278
05. आणवोपायप्रकाशनम् 158
06. कालतत्त्वप्रकाशनम् 251
07. चक्रोदयप्रकाशनम् 71
08. देशाध्वप्रकाशनम् 451
09. तत्त्वप्रकाशनम् 309
10. तत्त्वभेदप्रकाशनम् 309
11. कलादिप्रदर्शनम् 309
12. अध्वोपयोगप्रकाशनम् 26
13. शक्तिपातप्रदर्शनम् 361
14. दीक्षोपक्रमप्रकाशनम् 460

15. समयदीक्षाप्रकाशनम् 613

16. प्रमेयप्रकाशनम् 311

17. विक्षिप्तदीक्षाप्रकाशनम् 121

18. संक्षिप्तदीक्षाप्रकाशनम् 11

19. सद्यउत्क्रान्तिप्रकाशनम् 56

20. तुलादीक्षाप्रकाशनम् 15

21. परोक्षदीक्षाप्रकाशनम् 61

22. लिङ्गोद्धारप्रकाशनम् 48

23. अभिषेकप्रकाशनम् 103

24. अन्त्येष्टिप्रकाशनम् 24

25. श्राद्धप्रकाशनम् 29

26. स्थण्डिलपूजाप्रकाशनम् 76

27. लिङ्गार्चाप्रकाशनम् 59

28. पर्वपवित्रकादिप्रकाशनम् 434

29. रहस्यविधिप्रकाशनम् 291

30. मन्त्रादिप्रकाशनम् 123

31. मण्डलप्रकाशनम् 163

32. मुद्राप्रकाशनम् 67

33. एकीकारप्रकाशनम् 32

34. स्वस्वरूपप्रवेशप्रकाशनम् 3

35. शास्त्रसम्मेलनम् 44

36. आयातिक्रमनिरूपणम् 15

37. उपादेयभावादिनिरूपणम् 85

ऊपर की सूची से स्पष्ट है कि पुष्पिका में प्रारम्भ से 33 तक 'प्रकाशनम्' का 11 एवं 13 में 'प्रदर्शनम्' का तथा 36, 37वें आह्निकों में 'निरूपण' का प्रयोग किया गया है। सम्पादक ने कहीं

आधी कारिका को पूरा मानकर संख्यांकित कर दिया है और कहीं नहीं। इस तरह अनेकत्र कारिका-संख्या की विसङ्गतियाँ हैं। आह्निक के अन्तर्गत ही कभी-कभी छन्द भी भिन्न प्रयुक्त हुए हैं।[49]

आह्निकानुसार विषय-वस्तुः-

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक का प्रारम्भ तन्त्रप्रक्रिया तथा कुलप्रक्रिया के गुरुओं तथा देवताओं की वन्दना से किया है। इसमें कल्याणवारिधि, माता एवं पिता (चुखुलक)- नरसिंहगुप्त, परा देवी, गणपति, श्रीकण्ठ, महेश्वर, भूतिराज, सोमानन्द, उत्पल, लक्ष्मणगुप्त तथा कुलप्रक्रिया के गुरु श्रीशम्भुनाथ, श्री भट्टनाथ, श्रीभट्टारिका की वन्दना उल्लेखनीय है। प्रथम आह्निक का विषय पूर्णतः दार्शनिक है। ज्ञान एवं अज्ञान का स्वरूप तथा भेद, मोक्ष की धारणा एवं **विभिन्न उपाय, परम तत्त्व** की परिकल्पना[50] इस आह्निक का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसके अन्त में अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के सैतीसों आह्निकों की विषयवस्तु का, पहले सामान्यतः फिर विशेषतः, संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है।[51]

तन्त्रालोक के अगले चार आह्निकों में क्रियादर्शन के अनुसार मोक्ष के चतुर्विध उपायों, अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय, का क्रमशः निरूपण किया गया है। वस्तुतः इन उपायों का प्रतिपादन ही अभिनवगुप्त का प्रमुख लक्ष्य है जैसा कि उन्होंने स्वयं तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक में कहा है।[52] द्वितीय आह्निक में अनुपाय[53], तृतीय में शाम्भवोपाय[54], चतुर्थ में शाक्तोपाय[55] तथा पञ्चम में आणवोपाय[56] की व्याख्या गई है। इन उपायों का वर्णन करते हुए अभिनवगुप्त ने कुल एवं क्रम सम्प्रदायों के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। तृतीय आह्निक में शाम्भवोपाय की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने प्रतिबिम्ब-सिद्धान्त और वाक्-सिद्धान्त के विषय में कहा है। चतुर्थ आह्निक में अभिनवगुप्त ने क्रम दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्षों, जैसे कि चक्रों की परिकल्पना तथा द्वादशकालियों का विवेचन किया है। तन्त्रालोक के छठे आह्निक से प्रारम्भ कर 12वें आह्निक तक आणवोपाय के अंगभूत स्थान-कल्पना का मुख्यतः वर्णन है।[57] उसी के अन्तर्गत प्राण एवं कालतत्व का छठे में[58], चक्रों के रहस्य का सातवें में[59], तथा आठवें आह्निक में देशाध्वा का वर्णन है।[60] नवें आह्निक में अद्वैत शैव दर्शन के 36 तत्वों का विस्तृत विवेचन है।[61] जिनके त्रिकदर्शनानुसार भेदान्तरों का दशम आह्निक में प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है।[62] इसी में सांख्यदर्शन के पुरुष से प्रकृति पर्यन्त 25 तत्त्वों की तुलना त्रिकदर्शन के तत्त्वों से की गई है। ग्यारहवें आह्निक में षड्विध अध्वा में से कला नामक अध्वा का सविस्तर विवेचन है।[63] त्रिकदर्शन के अनुसार, तत्वों के एक वर्ग में अनुगत तथा दूसरे वर्ग से व्यावृत्त पदार्थ को कला कहा गया है अथवा तत्वों की सुसूक्ष्म शक्ति कला है। यह शक्ति होने के कारण, नैयायिकों के सामान्य नामक पदार्थ से भिन्न है।[64] शिवतत्व कला से अतीत है जिसका पुनः इसमें निरूपण किया गया है। बारहवें आह्निक में इस अध्वा का यागादि क्रियाओं में उपयोग बताया गया है।

त्रयोदश आह्निक में शैवदर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय शक्तिपात का खण्ड-मण्डन पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।[65] इसी प्रसङ्ग में सांख्य दर्शन के प्रधान कारणवाद का खण्डन तथा अज्ञान के स्वरूप का सविस्तर प्रतिपादन किया गया है। शक्तिपात की कल्पना के विरोधी तत्त्वों का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि परमेश्वर का शक्तिपात वैराग्यादि से निरपेक्ष है। परमेश्वर का शक्तिपातरूप अनुग्रह मुमुक्षु में माया, मल, कर्म इत्यादि की अपेक्षा के बिना सहज स्वातन्त्र्य से होता है। इस शक्तिपात का प्रथम लक्षण है शिव में सुनिश्चल भक्ति।[66] इसके नौ भेद माने गये हैं[67] तथा विभिन्न फल बताये गये हैं। इसी में प्रसङ्गतः गुरु के स्वरूप तथा भेदों का निरूपण है।[68] परिपूर्ण चिदात्मा का उपाधि-विहीन परम प्रकाश ही सर्वोत्तम शक्तिपात है। यह निरूपधि शक्तिपात जब भोगांश से अवच्छिन्न हो जाता है तब यह 'अपर' शक्तिपात कहलाता है।[69]

चतुर्दश आह्निक में शिव के पञ्चकृत्यों में से अन्तिम तिरोभाव नामक कृत्य के स्वरूप[70] का विवेचन तथा दीक्षा[71] का निर्देश है।

पन्द्रहवें आह्निक में दीक्षा के लिए उपयोगी नित्यकर्मरूप यागादि का विभिन्न आगम-परम्पराओं के अनुसार, प्रतिपादन है। इसी को समयदीक्षा कहा गया है।[72] षोडश आह्निक में पुत्रकदीक्षा तथा उससे सम्बन्धित सामुदायिक यागादि का सविस्तर प्रतिपादन है।[73] सत्रहवें आह्निक में दीक्षा के लिए आवश्यक प्रक्रिया (इति कर्त्तव्यता किंवा विधि) का निरूपण किया गया है। इसी दीक्षा-प्रक्रिया का संक्षेप कुल ग्यारह कारिकाओं में अष्टादश आह्निक में दिया गया है। उन्नीसवें आह्निक में सद्योनिर्वाणदायिनी सर्वोत्तम दीक्षा का निरूपण किया गया है।[74] इसके विषय में कहा गया है कि यह दीक्षा प्राण की तरह गोपनीय है।[75] इस प्रकार की दीक्षा गुरु से प्राप्त हो सकती है और स्वयं से भी।[76] बीसवें आह्निक में मूढजनों को भी आश्वास दिलाने वाली (सप्रत्यया) दीक्षा का संक्षेप में निरूपण है।[77] इसका स्वरूप निम्नाङ्कित है:-

यो गुरुर्जपहोमार्चाध्यानसिद्धत्वमात्मनि।
ज्ञात्वा दीक्षां चरेत्तस्य दीक्षा सप्रत्यया स्मृता।। तंत्रा, 20.8

इक्कीसवें आह्निक में परोक्ष में स्थित तथा मृत व्यक्ति के उद्धारार्थ परोक्ष दीक्षा का निरूपण है।[78] बाईसवें आह्निक में मालिनीतन्त्र के अनुसार लिङ्गोद्धारदीक्षा[79] का निरूपण है। जो व्यक्ति शैवेतर दर्शन अथवा साधना में फंस जाता है उसके संस्कार के लिए इस दीक्षा का विधान है।[80] 23वें आह्निक में गुरु एवं साधक की अभिषेकविधि का निरूपण है।[81] प्रसंगतः गुरु के स्वरूप का भी पुनर्विवेचन है। चौबीसवें आह्निक में अन्त्येष्टिविधि का वर्णन है। यह दीक्षा मृतोद्धारदीक्षा से पूर्व करना आवश्यक है। पच्चीसवें आह्निक में सिद्धातन्त्र के अनुसार श्राद्ध-विधि का निरूपण है। छब्बीसवें आह्निक में विभिन्न प्रकार की दीक्षा का संस्कार, मुक्ति तथा मुक्ति को प्रयोजन बताकर, दीक्षित व्यक्ति की दैनिक चर्या का विवेचन किया गया है।[82] साथ ही नित्यकर्म

के अंगभूत स्थण्डिल याग का प्रतिपादन है। सत्ताइसवें आह्निक में विभिन्न प्रकार के लिंगों की अर्चना का निरूपण है।[83] अट्ठइसवें आह्निक में नैमित्तिक कर्म का प्रतिपादन है। स्नान, संध्यावन्दनादि नित्यकर्म हैं और नैमित्तिक कर्म, प्राचीन तथा अनुपलब्ध तन्त्रसार के अनुसार, 23 प्रकार के हैं।[84] इनके विभिन्न रूपों का वर्णन पर्वविधि (28.10-59), चक्रयाग (28.60-74) तथा उसके अंगभूत मूर्तियाग (28.75-101), पवित्रक विधि (28.112-128) के माध्यम से किया गया है। अन्त में (28.186 से प्रारम्भ कर) नैमित्तिक विधियों का सविस्तर वर्णन है। उन्तीसवें आह्निक में कुलप्रक्रिया के अनुसार उपासना का निरूपण है।[85] जयरथ ने कुल के विभिन्न अर्थ आगमों के अनुसार दिये हैं। इनके अनुसार चित्स्वरूप, सर्वेश का परम घोर तेज, शक्तिगोचर वीर्य, परमानन्द तथा शरीर , कुल शब्द के अर्थ हैं।[86] इसी आह्निक में कौल सम्प्रदाय से सम्बन्धित विभिन्न अनुष्ठानों एवं आचारों का (जिन्हें अधियाग कहा जाता है) विवेचन है।

तीसवें आह्निक में त्रिक, कुल तथा क्रम के अनुसार मन्त्रों का निरूपण है।[87] इसके अनन्तर, मण्डल[88], मुद्रा[89], चक्रभेदों की एकता[90], क्रम के अनुसार चिदात्मा में प्रवेश[91], सभी शास्त्रों का समन्वय[92] 31-35 आह्निकों में क्रमशः प्रतिपादित किया गया है। छत्तीसवें आह्निक में विभिन्न आगमों के अवतार (शास्त्र की आयाति) का सिद्धातन्त्र आदि के अनुसार निरूपण है।[93] अन्तिम आह्निक में आगम की अवश्यग्राह्यता[94] तथा प्रमाणिकता का एवं पीठचतुष्टय का प्रतिपादन है। ग्रन्थ के अन्त में अभिनवगुप्त ने अपने जीवन एवं गुरुपरम्परा व परिवार से सम्बन्धित कुछ विवरण प्रस्तुत किये हैं। इसी में काश्मीर तथा प्रवरपुर का मनोहारी वर्णन है। अभिनवगुप्त को तन्त्रालोक के निर्माण की प्रेरणा किन लोगों से मिली एवं कहाँ रहकर उन्होंने इस ग्रन्थ का निर्माण किया, इस सम्बन्ध में अत्यन्त रोचक वर्णन ग्रन्थ के उपसंहार-पद्यों में प्रस्तुत किया गया है। डॉ. पाण्डेय के अनुसार तन्त्रालोक में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु निम्नाङ्कित हैं[95]:-

01. बन्ध का कारण
02. मोक्षोपाय
03. अज्ञान से भिन्न ज्ञान का स्वरूप
04. त्रिक के अनुसार मोक्ष का स्वरूप
05. दूसरे दर्शनों के अनुसार मोक्ष का स्वरूप
06. बाह्यजगत् का परम तत्त्व
07. विश्व की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया
08. परमतत्त्व के साक्षात्कार के उपाय

09. विभिन्न उपायों में भेद

10. बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद

11. पुरुष से पृथ्वी तक के तत्त्वों की सांख्य से तुलना

12. शैव धारणा के अनुसार विभिन्न लोक

13. शैव अनुष्ठान

14. स्वजीवन-सम्बन्धी विवरणिकाएँ

तन्त्रालोक का आधार (प्रमाण)

आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेकत्र यह स्पष्ट किया है कि उनका तन्त्रालोक आगमों, गुरुपरम्परा तथा स्वानुभव पर आधारित है। छठे आह्निक में काल तत्त्व के निरूपण के बाद वे उपसंहार-पद्य में कहते हैं कि मैंने कालतत्त्व का प्रतिपादन शास्त्र (आगम), गुरुपरम्परा तथा स्वानुभव के आधार पर किया है।[96] इसके पूर्व चतुर्थ आह्निक में भी उन्होंने कहा था कि शास्त्रों, शास्त्रज्ञ गुरुओं की प्रज्ञा के अनुशीलन तथा आत्मचिन्तन से ज्ञान पूर्णता प्राप्त करता है।[97] अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक के निर्माण में विभिन्न आगमों तथा गुरुओं का (जिन्हें वे एक जगह मुखागम कहते हैं) उपयोग किया है।[98] तन्त्रालोक में प्रमाणरूप में उद्धृत ग्रन्थों एवं आचार्यों की डॉ. पाण्डेय द्वारा प्रस्तुत सूची[99] के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने इनके लगभग तीन सौ सन्दर्भ दिये हैं। वस्तुतः विभिन्न आगमों का अपनी गुरुपरम्परा तथा स्वानुभव के आधार पर सार प्रस्तुत करना ही तन्त्रालोक का प्रधान उद्देश्य है। आचार्य शङ्कर ने विभिन्न उपनिषदों की मीमांसा प्रस्तुत करते हुए जिस प्रकार अद्वैत दृष्टि को निरन्तर अपनाये रखा है उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने विभिन्न आगमों का सार प्रस्तुत करते हुए परमाद्वयप्रधान श्रीमालिनीविजय को प्रधान आधार रखा है। जयरथ कहते हैं कि तन्त्र के तीन प्रस्थान हैं: भेदप्रधान शिवनामक तन्त्र, भेदाभेदप्रधान रुद्रनामक तन्त्र तथा अभेदप्रधान भैरवनामक तन्त्र।[100] श्रीमालिनीविजय अभेद किंवा परमाद्वय का प्रतिपादक तन्त्र है। अभिनवगुप्त ने लिखा है कि 'ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका शब्दतः अथवा परोक्षतः निर्देश महादेव ने श्रीमालिनीविजयोश्रर में न किया हों।[101] भेदप्रधान 10 शिवनामक आगमों, भेदाभेदप्रधान 18 रुद्रनामक आगमों एवं अभेदप्रधान 64 भैरवागमों का सार त्रिकशास्त्र है और इसका भी सार मालिनीविजय है।[102] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य जयरथ कहते हैं कि सिद्धा, वामक एवं मालिनी, इन तीन खण्डों में विभक्त त्रिकशास्त्र क्रमशः क्रिया प्रधान, ज्ञानप्रधान तथा उभयप्रधान है। चूँकि श्रीमालिनीविजय में ज्ञान एवं क्रिया दोनों का समन्वय है इसीलिए इसे त्रिकदर्शन का सार माना जाता है।[103] तन्त्रालोक के अन्तिम आह्निक में स्वयं अभिनवगुप्त ने कहा है कि विद्या एवं पीठप्रधान सिद्धयोगेश्वरीमत का परम सार मालिनीविजयोत्तर है।[104] सभी तन्त्रों में प्रधानता के कारण ही, अभिनवगुप्त इसका

उल्लेख अनेकत्र श्रीपूर्वशास्त्र के नाम से करते हैं। अस्तु, तन्त्रालोक का प्रधान एवं आधारभूत आगम मालिनीविजय है। चतुर्थ आह्निक का प्रमुख प्रतिपाद्य इस आगम के अनुसार ही है। अन्यत्र की भाँति, इस आगम से अभिनवगुप्त ने चतुर्थ तथा पञ्चम आह्निक में कहीं अक्षरशः उद्धरण[105] दिये हैं तो कहीं उसके अभिप्राय[106] को प्रस्तुत कर दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने निम्नलिखित आगमों के पाठ (अक्षरशः उद्धरण) अथवा अभिप्राय चतुर्थ से षष्ठ आह्निक में दिये हैं।[107] अभिनवगुप्त ने 4-6 आह्निकों में शैव एवं शैवेतर जिन आचार्यों तथा मतों का नामतः उल्लेख किया है, उनकी सूची निम्नाङ्कित है:-

चतुर्थ आह्निकः

वैष्णव, पृ. 24, 30, 42, पाञ्चरात्र, पृ. 24, 28, वैरिंच (ब्रह्मवादी) पृ. 24, सौगत (बौद्ध), पृ. 24, 28, पुराण पृ. 28, वेद, पृ. 28, सांख्य, पृ. 28

पञ्चम आह्निकः

गुरु (वामनदत्ताचार्य, विवेक के अनुसार), पृ. 467 श्रीश्रीकण्ठ, पृ. 347, श्रीशम्भुनाथ, पृ. 347, शम्भु पृ. 355, श्रीसुमतिप्रभु, पृ. 347।

षष्ठ आह्निकः

चार्वाक, पृ. 15, श्रीरौरवमत, पृ. 123, सांख्य, 132, वेद, 132, मत, 201, गुरु, पृ. 117, श्रीत्रैयम्बकसन्तान, पृ. 77, श्रीशम्भु, पृ. 78, श्रीसन्तानगुरु, पृ. 78.

शैली -

जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है तन्त्रालोक का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न आगमों का, अद्वयप्रधान श्रीमालिनीविजय को प्रमुख एवं केन्द्रीय स्थान देते हुए, सार प्रस्तुत करना है। स्वभावतः, आगमों के पाठ तथा अभिप्राय से तन्त्रालोक भरा पड़ा है। कई आगमों के अब अनुपलब्ध होने से अनेकत्र ग्रन्थ के मन्तव्य को समझ पाना कठिन हो गया है। इस कारण उसमें अनेकत्र अस्पष्टता भी प्रतीत होती है[108] और कहीं उपलब्ध ग्रन्थ से तुलना करने पर यह लगता है कि मूल अधिक स्पष्ट एवं विशद है, जबकि संक्षिप्त शब्दों में मूल का आशय प्रस्तुत करने के कारण तन्त्रालोक की भाषा संदिग्ध एवं कठिन लगती है।[109] न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने तत्त्वज्ञान के लिए उद्देश्य, लक्षण तथा परीक्षा की शैली को प्रतिपादित किया है।[110] इसी शैली को अभिनवगुप्त ने अपनाया है, यह निम्नलिखित कारिका से स्पष्ट है :-

इत्युद्देशविधिः प्रोक्तः सुखसंग्रहहेतवे।
अथास्य लक्षणावेक्षे निरूप्येते यथाक्रमम्।। तन्त्रा, 1.329

विवेककार जयरथ ग्रन्थकार की शैली की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि एक आह्निक को

दूसरे आह्निक से परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए ग्रन्थकार उपक्रम तथा उपसंहार के सूचक पद्य अवश्य लिखता है।[111]

मुख्य विषय का बारम्बार अनुसन्धान करने पर भी ग्रन्थकार ने निष्फल पुनरुक्ति नहीं की है।[112]

अपने विषय को स्पष्टता एवं विशदता से प्रतिपादित करने के लिए अभिनवगुप्त ने विभिन्न दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये, चतुर्थ आह्निक में तन्त्रालोककार ने उपायों की अनेकता होने पर भी फलभेद नहीं होता, इसका दृष्टान्त विभिन्न साधनों द्वारा किये जाने वाले छेदनरूप एक फल के द्वारा दिया है (4.80-81), एकत्र किया हुआ संस्कार किस प्रकार अन्यत्र परिणाम उत्पन्न करता है इसके समर्थन में अभिनवगुप्त ने ऊपर उछलने के अभ्यास से नीचे गिरने के भय की स्वतः निवृत्ति का उदाहरण दिया है (4.99), समग्र करणवर्ग अहंकार में उसी प्रकार विश्रान्त है जिस प्रकार कि खड्ग, पाश आदि विभिन्न शस्त्रास्त्र प्रेरक हाथ पर निर्भर हैं (4.162), संविद् विभिन्न भंगिमाओं के द्वारा द्वैत को छोड़कर भैरव-रूप को उसी प्रकार प्राप्त कर लेती है जैसे कि सम-विषम स्थलों में दौड़ाया जाता हुआ घोड़ा अश्वचालक की स्वतन्त्रता को अन्ततः अभिव्यक्त करता है (4.205-6), जपादि विभिन्न उपायों से आत्मदर्शन उसी प्रकार सम्भव हो जाता है जैसे कि दर्पण में अपने चेहरे को बार-बार देखकर व्यक्ति उसे पहचानने लग जाता है (4.207-8)। कोई-कोई व्यक्ति ही भगवान् के अनुग्रह से परमाद्वैत की साधना में अनुरक्त हो पाता है, इसका अत्यन्त ललित उदाहरण अभिनवगुप्त ने दिया है जो यहाँ उल्लेख्य है :-

केतकी कुसुमसौरभे भृशं मृग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः।। तन्त्रा, 4.276

इसी के आगे एक और सुन्दर उपमा तन्त्रालोककार ने दी है। अद्वययज्ञ को पूरा कर लेने पर संसार का प्रपञ्च उसी प्रकार गल जाता है जैसे कि भयंकर गर्मी में बर्फ का पहाड़।[113] इस प्रकार की उपमाएँ केतकी-कुसुमों से सुरभित बर्फीली पहाड़ों की रमणीक नगरी में रहने वाला अद्वयदर्शन का रसिक भ्रमर ही दे सकता है जिसने अपने साधना-काल में ऊंचे-नीचे पहाड़ी इलाके (संसार) में घोड़ों (इन्द्रियों) को सावधानी से चलाते हुए पहाड़ी लोगों (साधकों) को निरन्तर देखा हो।

इसी प्रकार अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के पञ्चम आह्निक में शुद्धचैतन्य के प्राणादि से भिन्न होने की दर्पण से मुखबिम्ब के भिन्न होने से (5.11-12) द्वादश देवियों के द्वादश आदित्य के बिम्ब से (5.26-27), भैरवभैरवीयुग्म में समावेशजन्य आनन्द की रासभी अथवा वडवा की योनि के मूत्रकाल में संकोच-विकास में उत्पन्न आनन्द से (5.58-60), आणवादि विभिन्न उपायों के परम उपाय के साथ प्रकाशित रहने की सूर्य के रहते दीपकों के प्रकाशन से

(5.125) मन्त्रों द्वारा वस्तु-साक्षात्कार की मनोराज्य से (5.134-35), संस्कारों द्वारा शिवता-प्राप्ति की तांबे से सोना बनने से (5.151), तथा निर्वीर्यता की नपुंसक तथा मुर्दे से (5.158-59), उपमा दी है।

षष्ठ आह्निक में केवल एक उदाहरण आया है। पदार्थों का क्रम तथा अक्रम में प्रकाशन उसी तरह होता है जैसे कि कार्यकारणभाव का क्रम से तथा चित्रज्ञान का बिना क्रम के।

आगमों की रक्षा के उद्देश्य से लिखे गये[114] तन्त्रालोक में साहित्यिक चारुता की अपेक्षा करना अनुचित होगा। वस्तुतः प्रज्ञा एवं विश्लेषण की प्रधानता के कारण अभिनवगुप्त अच्छे कवि हैं भी नहीं।[115] तथापि कहीं-कहीं उनकी शैली में साहित्यिक छटा झलकती है। इस सम्बन्ध में अप्रस्तुतप्रशंसा द्वारा शास्त्र के अभिप्राय को न समझने वालों का उपहास (1.332), स्रष्टा मनुष्य द्वारा शिव के रूप में अपने स्वप्न का संहार[116], काव्यलिंग के द्वारा बाल्यकाल में ही माता से वियोग के सम्बन्ध में भावपूर्ण उक्ति[117] उल्लेखनीय हैं। किन्तु भाषा की सरलता, प्रसन्नता एवं उपमाओं की माला के प्रयोग का सबसे सुन्दर (और शायद एकमात्र) उदाहरण वत्सलिका का निम्नाङ्कित चित्रण है:

> मूर्ता क्षमेव करुणेव गृहीत देहा धारेव विग्रहवती शुभशीलतायाः।
> वैराग्यसारपरिपाकदशैव पूर्णा तत्त्वार्थरत्नरुचिरस्थितिरोहणोर्वी।।
>
> तन्त्रा, 37.74

प्रमुख रूप से तान्त्रिक रहस्यसाधना का ग्रन्थ होने के कारण अभिनवगुप्त ने स्वयं अत्यन्त गुह्य कौल-आचार के वर्णन में स्पष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, जैसाकि वे स्वयं कहते हैं:

> न पठ्यते रहस्यत्वात् स्पष्टैः शब्दैर्मया पुनः।[118] तन्त्रा, 29.169

उन्होंने पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तो किया ही है जैसे कि क्रियाशक्ति के लिए सोम शब्द का, प्रमाता के लिए अग्नि तथा हंस शब्द का[119] (इस सम्बन्ध में पारिभाषिक शब्द-सूची का परिशिष्ट द्रष्टव्य है), कहीं-कहीं विषय को जानबूझकर सामान्यजनों के लिए दुर्गाह्य बनाने के लिए अभिनवगुप्त ने नानार्थक शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए 'ख' (5.90-91), 'भाव' (5.92), 'धाम' (5.94-95), 'राव' (5.99-100) शब्दों का दश-दश अर्थों में प्रयोग किया है।

निर्माण की प्रेरणा तथा स्थल

आचार्य अभिनवगुप्त साधना (विकल्पसंस्कार) की भावना से प्रेरित होकर ग्रन्थ के निर्माण में प्रवृत्त हुए थे ताकि अज्ञात अर्थों का प्रकाशन हो सके (1.19) तथा परमेश्वर के विग्रहभूत शास्त्र का श्रवण, अध्ययन किया जा सके (1.46)।

यद्यपि सम्पूर्ण तन्त्रों (शैवागमों) का सार प्रस्तुत करने की प्रसुप्त इच्छा स्वयं अभिनवगुप्त के मन में थी[120] पर वे इस कार्य में शिष्यों एवं बन्धुओं की प्रार्थना पर ही वस्तुतः प्रवृत हुए थे, विशेषतः इसलिए कि त्रिकशासन की एक भी कृति उपलब्ध नहीं थी।[121] शौरि का पुत्र कर्ण (37.65) उसका बालमित्र मन्द्र (37.66) ग्रन्थकार के पितृव्यतनयः क्षैम, उत्पल, अभिनव, चक्रक, पद्मगुप्त (37.67), रामगुप्त (37.68) तथा अन्य कई जनों की सम्पूर्ण तन्त्रों के अधिगम-हेतु अभ्यर्थना से विवश होकर (37.69) अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक का निर्माण किया।

इय ग्रन्थ का निर्माण करने के लिए मन्द्र अभिनवगुप्त को अपने नगर में ले गया।[122] वहां उसने अपनी पितृव्यवधू वत्सलिका के घर इन्हें रक्खा जहाँ न केवल वह अपितु कर्ण की वधू अम्बा (जिसका वत्सलिका की भाँति, चित्रण किया गया है)[123], उसका गुरुतुल्य भाई आदि अभिनवगुप्त की सेवा में निरन्तर रत रहते थे। इस प्रकार वत्सलिका के घर में रहकर, अपने चित्त को स्थिर कर, पूर्वश्रुत आगमों का आकलन एवं सार ग्रहण कर, युक्ति एवं आगम परम्परा के अनुसार, महान् अर्थ से परिपूर्ण तन्त्रालोक नामक निबन्ध की अभिनवगुप्त ने रचना की, जिसका आलोक पाकर संसार-साधना के मार्ग पर सुखपूर्वक संचरण कर सकता है।[124] विभिन्न आगमों के उद्धरणों से ओत-प्रोत इतने विशाल ग्रन्थ की स्मरण शक्ति की सहायता से रचना कर लेना अपूर्व प्रतिभा, प्रज्ञा एवं सिद्धि का उदाहरण है।

इतने विशाल ग्रन्थ को पढ़ना तथा समझना सामान्य व्यक्ति के वश की बात नहीं है, इसी भावना से प्रेरित होकर तन्त्रालोककार ने इसके सार को प्रस्तुत करने के लिये क्रमशः संक्षिप्त रूपों में तन्त्रसार, तन्त्रोच्चय तथा तन्त्रवटधानिका का निर्माण किया[125], जैसे कि शारीरकभाष्यकार शङ्कर ने विवेकचूडामणि, उपदेशसाहस्री आदि का।

तन्त्रालोक की टीका

तन्त्रालोक के एक मात्र, सुपरिचित और बहुश्रुत टीकाकार हैं राजानक जयरथ। इनकी टीका का नाम विवेक सुप्रसिद्ध है। स्वयं जयरथ ने 37वें आह्निक के उपसंहारपद्य (41) में इस नाम का उल्लेख किया है। तन्त्रालोक के सम्पादक ने प्रथम दो आह्निकों की पुष्पिका में भ्रमवशात् 'प्रकाश' नाम दे दिया है। इस टीका का स्वरूप विवृत्ति[126] का है जो भाष्य की अपेक्षा छोटी तथा वृत्ति[127] की अपेक्षा बड़ी व्याख्या मानी जाती है। प्रत्येक आह्निक की तो नहीं, पर एक-दो आह्निकों की व्याख्या उन्होंने एक ही दिन में अवश्य पूरी की थी।[128] इस टीका को पूरी करने में उन्हें श्रीराजराज के सचिव शृंगाररथ से प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त हुई थी।[129] सुभटदत्त से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी जिन्होंने तन्त्रालोक पर सम्भवतः विवरण लिखा था।[130] प्रथम आह्निक के मंगलपद्य (6) से ऐसा प्रतीत होता है कि तन्त्रालोक के अभिप्राय को कुछ लोग गलत लगाते थे, संभव है यह बात उन्होंने तन्त्रालोक की अपने से पूर्व प्रचलित टीका अथवा व्याख्या की मौखिक परम्परा को लेकर कही हो। विवेक टीका के अन्त में जयरथ ने अपने कुल का परिचय

दिया है। इनके पूर्वज पूर्णमनोरथ, उत्पल तथा शिवरथ क्रमशः यशस्कर, अनन्त तथा उच्चल राजाओं के सचिव थे। इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी राजराज (राजदेव) नामक राजा कश्मीर के निकट सतीसर का एक राजहंस था। जयरथ ने महाविद्वान् श्रीसंगधर से विद्या ग्रहण की थी। इनके दीक्षागुरु श्री सुभटरत्न थे जो इनके पिता के भी गुरु थे। विवेककार ने अपने पिता शृंगाररथ को भी परमगुरु स्वीकारा है-**श्रीशृंगारो ममापि परमगुरुः**। व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों, मुख्यतः शैवागमों तथा कुलदर्शन एवं क्रमदर्शन के विख्यात विद्वान् के रूप में इन्हें सुप्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी।[131] जयरथ के वंश में परम्परा से ही शैवागमों का अध्ययन चला आ रहा था। इनके पूर्वजों में अनेक राजसम्मानित पदों पर थे तथा दूसरे अनेक शिवरथ, गुणरथ आदि मोक्षसेवा, मठादिनिर्माण और मन्दिरों के जीर्णोद्धार को अपना कर्त्तव्य मानते थे। विवेक टीका के अतिरिक्त इन्होंने रूय्यक के अलंकारसर्वस्व पर अलंकारविमर्शिनी टीका लिखी है तथा अलंकारोदाहरण नाम का एक स्वतन्त्र अलंकार ग्रन्थ लिखा है जो अभी भी अप्रकाशित है। सम्भवतः[132], हरिचरितचिंतामणि भी इन्हीं की कृति है, जिसमें भगवान् शिव के विभिन्न चरितों का तथा काश्मीर के विभिन्न तीर्थस्थलों का वर्णन पौराणिक शैली में मिलता है। इनका समय द्वादशशतक का अन्त तथा त्रयोदशशतक का प्रारम्भ माना जाता है।[133]

इस टीका का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि इसके बिना तन्त्रालोक को समझ पाना असम्भव है। वस्तुतः जिन अंशों पर टीका कम है या विशद नहीं है उन्हें लगा पाना दुस्साध्य कार्य है। जयरथ ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि उनकी व्याख्या अभिनवगुप्त के मूल मन्तव्य के अनुसार हो।[134] यदि कहीं उन्होंने मूल मन्तव्य को अन्यथा समझा भी होगा तो उसे ठीक करने के लिए आवश्यक सामग्री आज के अनुसन्धाता को उपलब्ध नहीं है, क्योंकि जिन आगमों और गुरुपरम्परा के आधार पर उन्होंने व्याख्या की है वह अधिकांश में लुप्तप्राय है।

व्याख्याकार, अभिनवगुप्त का उल्लेख सिद्धपाद[135] तथा भगवान्[136] के रूप में करता है तथा उन्हें जीवन्मुक्त मानता है जिसने परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है। अभिनवगुप्त शब्द की दार्शनिक व्याख्या से यह स्पष्ट है।[137]

विवेक में शब्दार्थ का व्याख्यान तो है ही पर इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिन आगमों के आधार पर अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक लिखा है उन सभी (जिनमें से अनेक अब अनुपलब्ध हैं) से उन्होंने उद्धरण दिये हैं।[138]

आगमों का ही नहीं, जिन आचार्यों (गुरुपरम्परा)[139], दर्शनों एवं मत-मतान्तरों के सन्दर्भ मूलकार को अभिप्रेत रहे होंगे उनका भी जयरथ ने उल्लेख किया है।[140] अनेकत्र अभिनवगुप्त ने उस आगम का कोई संकेत नहीं दिया है, जिसके आधार पर उन्होंने किसी विषय का विवेचन किया। ऐसे स्थलों पर भी जयरथ ने आगमों का उद्धरण देकर उन्हें सूचित किया है।[141]

आगमों का ज्ञान होने के कारण जयरथ अपनी व्याख्या में यह बता सके हैं कि कौन-सा

अंश आगम से अक्षरशः लिया गया है और कौन-सा अंश अक्षरशः न लेकर अर्थतः (अभिप्रायतः) ग्रहण किया है। जहाँ आगम का अक्षरशः उद्धरण है वहां 'तदेव पठति' करके अक्सर उल्लेख किया है और जहाँ अभिनवगुप्त ने आगम का अभिप्राय भर बताया है वहाँ प्रायशः 'इत्याह' करके जयरथ ने उल्लेख किया है।

जयरथ ने उन स्थलों का भी विवेचन किया है जहाँ अभिनवगुप्त ने आगम का पाठ देते हुए थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया है जैसे कि 'न द्वैतं नापि चाद्वयं' यह पाठ अभिनव ने रखा है जबकि आगम का पाठ है : 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्'। जयरथ ने लिखा है कि अभिनवगुप्त को यह पाठ-परिवर्तन छन्द के अनुरोध से करना पड़ा -

'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' इत्येवं वृत्तानुरोधात्र पठितम्'।

विवेक, आ. 4, पृ. 112

इसके अतिरिक्त भी विवेककार ने अनेकत्र तन्त्रालोक के पाठ का आलोचन किया है, जो सटिप्पण अनुवाद में द्रष्टव्य है।[142] विवेकटीका में मूल के मुद्रित पाठ से कहीं-कहीं पाठभेद भी हैं।[143]

इस टीका की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहाँ शब्दार्थ के विवरण-मात्र से विषय स्पष्ट नहीं हो सका है वहाँ उस विषय को स्पष्ट करने के लिए जयरथ ने अधिकतर 'एतदुक्तं भवति' कहकर सारे सन्दर्भ का निष्कृष्टार्थ (सार, मूल-मन्तव्य) अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। अथवा 'ननु' 'न च' के द्वारा विस्तृत व्याख्या कर दी है।[144] यह शैली विषय को समझने में बहुत सहायक है।

अस्तु, विभिन्न आगमों एवं गुरुपरम्परा का निबन्धन करने के कारण, तान्त्रिक वाङ्मय की भाषा से गहन परिचय के कारण, विभिन्न दर्शनों एवं मतों के पाण्डित्य के कारण तथा मूल ग्रन्थ की पाठपरम्परा तथा व्याख्यापरम्परा से परिचित होने के कारण जयरथ की विवेक टीका अत्यन्त मूल्यवान् है और हमारे लिए मूल को समझने का एकमात्र सहारा। अभिनवगुप्त की भाँति जिन रहस्यों को जयरथ ने किसी कारणवश नहीं खोला है वे रहस्य ही बने रहेंगे।[145]

-: सन्दर्भ :-

1. राजतरंगिणी,

1.105-107, 113, 124, 148, 154, 346-348; 2.14, 65, 123-135, 3.99, 268-280, 350, 440-463; 4.43, 190, 189, 209, 214, 513, 5.37, 40, 45, 46, 48- 49, 158, 163; 6.137, 173, 7.115, 180-181, 185, 201, 525-527; 8.2409, 2432, 3348, 3354, 3389-3391.

2. Early History of and Culture of Kashmir, P. 169-72

3. Abhi, P. 295-96

4. इसके खण्डन में बलजिन्नाथ पण्डित, श्री काश्मीरशैवदर्शन, पृ. 17 भी द्रष्टव्य है।

5. History of Shavism, P. 121-22, & Cultural Heritage of Kashmir, P. 106-107

6. शिवदृष्टि, 7.119-20.

7. देखिये शिवदृष्टि, 7.122.

8. तन्त्रालोक, 1.18, मा.वार्तिक, 1.391-92, Abhi, P. 141-43

9. द्रष्टव्य - मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की भूमिका

10. तन्त्रा, 4.15-16, 35, 46, 106-8.

11. इस आगम से उद्धरण के लिये द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.213-21, 5.107-8.

12. द्रष्टव्य - उद्योत, 8.39.

13. द्रष्टव्य - स्वतं, 1. 4-12.

14. तन्त्रा, 4.38; 6.50, 136-38.

15. Abhil, P. 572

16. देखिये - Ibid, P. 44-45

17. श्रीसोमानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमाः।
तथाहि त्रीशिकाशास्त्रविवृतौ तेऽभ्यधुर्बुधाः।। तंत्रा, 13.149

18. Abhi, P. 45

19. द्रष्टव्य -, नेत्रतन्त्र, 1.12

20. वही, 22.12

21. तन्त्रा, 4.26-27; 6.190-91 में कामिकागम का अक्षरशः उद्धरण तथा तन्त्रा, 4.25; 6.94-95, 189 में अभिप्राय दिया है।

22. शिवोद्गीर्णमिदं ज्ञानं मन्त्रमन्त्रेश्वरेश्वरैः। कामदत्वात् कामिकेति प्रगीतं बहुविस्तरम्।।
तेभ्योऽवगम्य दृग्ज्योतिर्ज्वालालीढस्मरद्रुमः। ददावुमापतिर्मह्यं सहस्रैर्भवसम्मितैः ।।
तत्रापि विस्तरं हित्वा सूत्रैः सारार्थवाचकैः। वक्ष्ये निराकुलं ज्ञानं तदुक्तैरेव भूयसा।।
विद्यापाद, श्लोक, 27-29

23. विभै, का. 162

24. स्पन्दनिर्णय, पृ. 2.

25. परात्रीशिकाविवरण, पृ. 282 का. 19.

26. देखिये-ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 4.4.3.

27. श्रीसोमानन्दग्रन्थस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्। ईप्र, 1.2.

28. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1.4.3; 2.2.7, 2.3.2; 3.2.16.

29. परात्रीशिकाविवरण, पृ. 69

30. शिवसूत्रवार्तिक का प्रारम्भिक पद्य,

31. शिवदृष्टि, 3.1.

32. शिवदृष्टिवृत्ति, 1.15.

33. स्पन्दविवृति, पृ. 129.

34. शिवदृष्टि, 3.2.3.

35. तन्त्रसार, पृ. 30.

36. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

37. राजतरंगिणी, 5.66.

38. स्पन्दनिर्णय, पृ. 777.

39. विज्ञानभैरवविवृति, पृ. 109

40. Abhi परिशिष्ट 'ब' P. 911-925

41. तन्त्रा, 1.284.

42. स तन्निबन्धं विदधे महार्थं युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्।
आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः सुखं संचरिता क्रियासु।। तन्त्रा, 37.83

43. यदुक्तमस्मदुरुभिरशेषागमोपनिषदालोके तंत्रालोके। स्वतं, 7.169 पर उद्योत, पृ. 268.

44. शैवैष्वथैणां तु पदार्थकानाम्। व्युत्पादकं यद् भवतीह शास्त्रम्। तत्त्रीतिवातोरिह धारणार्थात्।।
Tantras : Studies on their Riligion and Literature, P. 2 में उद्धृत।

45. तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने। तन्त्रा, 1.245.

46. आज्ञा वस्तु समन्ताच्च गम्यत इत्यागमो मतः। ....
तनुते लीयते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः।। ऊपर, पृ. 28 पादटिप्पणी 4

47. सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूनता संशयनिर्णयोक्तिः।
उद्देशनिर्देशमनुक्रमश्च संज्ञोपदेशाविह तन्त्रसंपत्।। युक्तिदीपिका पृ. 2 में उद्धृत
इसकी व्याख्या के लिये युक्तिदीपिका के पृ. 2-5 द्रष्टव्य हैं।

48. 'अथ' इत्यनेन आह्निकशब्दार्थस्तात्त्विकः। विवेक, 4.279.

49. देखिये - तन्त्रा, 4.276; 5.126-27

50. आत्मा संवित्प्रकाशस्थितिरनवयवा संविदित्यात्रशक्तिवातं तस्य स्वरूपं स च निजमहसश्छादनाद्बद्धरूपः।

आत्मज्योतिः स्वभावप्रकटनविधिना तस्य मोक्षः स चायं।
चित्राकारस्य चित्रः प्रकटित इह यत्संग्रहेणार्थ एषः।। तंत्रा, 1.330

51. द्रष्टव्य-तन्त्रा, 1.278-286 में सामान्यतः तथा 1.287-327 में विशेषतः विवरण उपलब्ध होता है।

52. इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम्।
तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने।। तन्त्रा, 1.245.

53. यत्तत्राद्यं पदमविरतानुत्तरज्ञप्तिरूपं तन्निर्णेतुं प्रकरणमिदमारभेऽहं द्वितीयम्।। वही, 2.1.

54. इति कथितमिदं सुविस्तरं परमं शाम्भवमात्मवेदनम्।। वही, 3.294.

55. अथ शाक्तमुपायमण्डलं कथयामः परमात्मसंविदे।। वही, 4.1.

56. आणवेन विधिना परधाम प्रेप्सतामथ निरूप्यत एतत्। तंत्रा, 5.1.

57. तेनैतः प्रभृत्याद्वादशाह्निकं यत् किंचिदुच्यते तत्सर्वं स्थानकल्पनाधिकारेण। आ. 6, विवेक, पृ. 2.

58. इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रमुखागमनिजानुभवसिद्धम्। 6.251.

59. अथ परमरहस्योऽयं चक्राणां भण्यतेऽभ्युदयः। 7.1.

60. विचारितोऽयं कालाध्वा क्रियाशक्तिमयः प्रभोः।
मूर्तिर्वैचित्र्यजस्तज्जो देशाध्वाथ निरूप्यते।। 8.2.

61. अथ तत्त्वप्रविभागो विस्तरतः कथ्यते क्रमप्राप्तः। वही, 9.1

62. तेषाममीषां तत्त्वानां स्ववर्गेष्वनुगामिनाम्।
भेदान्तरमपि प्रोक्तं शास्त्रेऽत्र श्रीत्रिकाभिधे।। वही, 10.2.

63. (क) कलाध्वा वक्ष्यते श्रीमच्छंभवाज्ञानुसारतः। वही, 11.1.
(ख) तदित्थमेष निर्णीतः कलादेर्विस्तरोऽध्वनः। वही, 11.118.

64. तन्त्रा, 11.3-5

65. अथाधिकृतिभाजनं क इह वा कथं वेत्यलं। विवेचयितुमुच्यते विविधशक्तिपातक्रमः।।
तत्र केचिदिह प्राहुः शक्तिपात इमं विधिम्। तं प्रदर्श्य निराकृत्य स्वमतं दर्शयिष्यते।। वही, 13.1-2.

66. अनपेक्ष्य शिवे भक्तिः शक्तिपातो फलार्थिनाम्। वही, 13.118.

67. वही, 13.129-133 आदि. नवधा शक्तिपातोऽयं शंभुनाथेन वर्णितः। 13.254.

68. वही, 13.138-147.

69. इदं सारमिह ज्ञेयं परिपूर्णा चिदात्मनः।। प्रकाशः परमः शक्तिपातोऽवच्छेदवर्जितः।।
तथाविधोऽपि भोगांशावच्छेदेनोपलक्षितः।। अपरः शक्तिपातोऽसौ पर्यन्ते शिवताप्रदः। वही, 13.254-256.

70. तिरोभावस्वरूपं तु कथ्यमानं विविच्यताम्। वही, 14.1.

71. इत्थं दीक्षोपक्रमोऽयं दर्शितः शास्त्रसंमतः। वही, 14.47.

72. इति समयदीक्षणमिदं प्रकाशितं विस्तराच्च संक्षेपात्।। वही, 15.613

73. अथ पुत्रकत्वसिद्ध्यै निरूप्यते शिवनिरूपितोऽत्र विधिः। वही, 16.1.

74. अथ सद्यः समुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा निरूप्यते। वही, 19.1

इसका मालिनीशास्त्र के अनुसार स्वरूप निम्नाङ्कित है:
तत्क्षणाच्चोपभोगाद्धा देहपाते शिवं व्रजेत्। वही, 19.1.

75. उक्तेयं सद्य उत्क्रान्तिर्या गोप्या प्राणवद्बुधैः। वही, 19.56.

76. इतीयं सद्य उत्क्रान्तिः सूचिता मालिनीमते। स्वयं वा गुरुणा वाऽथ कार्यत्वेन महेशिना।।
वही, 19.54.

77. अथ दीक्षां ब्रुवे मूढजनाश्वासप्रदायिनीम्। वही, 20.1.

78. एषा परोक्षदीक्षा द्विधोदिता जीवादितरभेदेन। वही, 21.61.

79. लिंगोद्धाराख्यामथ वच्मः शिवशासनैकनिर्दिष्टाम्। वही, 22.1

80. प्रोक्तमुद्धरणीयत्वं शिवशक्तीरितस्य हि। अथ वैष्णवबौद्धादितन्त्रान्तार्थरवर्तिनाम्।।
यदा शिवार्करश्म्योर्धैर्विकासि हृदयाम्बुजम्। लिंगोद्धृतिस्तदा पूर्वं दीक्षाकर्म ततः परम्।।
प्राग् लिंगान्तरसंस्थो वि दीक्षातः शिवतां व्रजेत्।। वही, 22.12-14 (अ).

81. अथाभिषेकस्य विधिः कथ्यते पारमेश्वरः। 23 1.

82. अथोच्यते शेषवृत्तिर्जीवतामुपयोगिनी। वही, 26.1.

83. बहुप्रकारभिन्नस्य लिंगस्यार्चा निरूपिता।। वही, 27.59.

84. देखिये - वही, 28.6-9.

85. अथ सर्वाप्युपासेयं कुलप्रक्रियोच्यते। वही, 29.1.

86. कुल शब्द का अर्थ निम्नाङ्कित है:-
कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता। स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम्।।
वही, 29.4.

द्रष्टव्य - तन्त्रा, 29.4 पर विवेक टीका।

87. अथ यथोचितमन्त्रकदम्बकं त्रिककुलक्रमयोगि निरूप्यते। वही, 30.1.

88. अथ मण्डलसद्भवः संक्षेपेणाभिधीयते। वही, 31.1.

89. अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम्। वही, 32.1.

90. अथावसरसंप्राप्त एकीकारो निगद्यते। यदुक्तं चक्रभेदेन सार्धं पूज्यमिति त्रिकम्।
तत्रैष चक्रभेदानामेकीकारो दिशानया।। वही, 33.1.

91. उच्यतेऽथ स्वरूपप्रवेशः क्रमसंगतः। वही, 34.1.

92. अथोच्यते समस्तानां शास्त्राणामिह मेलनम्। वही, 35.1.

93. आयातिरथ शास्त्रस्य कथ्यतेऽवसरागता। श्री सिद्धादिविनिर्दिष्ट गुरुभिश्च निरूपिता। वही. 36.1.

94. उक्तनीत्यैव सर्वत्र व्यवहारे प्रवर्तिते। प्रसिद्धावुपजीव्यायामवश्यग्राह्य आगमः।। वही, 37.1.

95. Abhi, P. 53

96. इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रमुखागमनिजानुभवसिद्धम्। तंत्रा, 6.252.

97. यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनाम्। आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते।। तन्त्रा, 4.77.

98. (क) पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्ध्या शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम्। तन्त्रा, 37.82.

(ख) स तन्निबन्धं विदधे महार्थं युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्। वही, 37.83.

99. Abhi, परिशिष्ट 'ब' 911.24.

100. अतश्च भेद-भेदाभेदाभेदप्रतिपादकं शिवरुद्रभैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्भूतम् इति सिद्धान्तः । तंत्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा। वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।। भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना। विवेक, 1.18, पृ. 49.

101. न तदस्तीह यत्र श्रीमालिनीविजयोत्तरे।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिंगतः।। तन्त्रा, 1.17.

102. दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः। तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्।। वही, 1.18

103. तत्र क्रियाप्रधानं सिद्धातंत्रं, ज्ञानप्रधानं वामकं तंत्रं, तदुभयमयं मालिनीमतम् इति तदेव मुख्यम् ....। विवेक, 1.18, पृ. 49

104. विद्यापीठप्रधानं च सिद्धयोगीश्वरीमतम्। तस्यापि परमं सारं मालिनीविजयोत्तरम्।। तन्त्रा, 37.24-25

105. तन्त्रा, 4.213-21; 5.107-8.

106. तन्त्रा, 4.15-16, 35-46, 10 6-8.

107. आगम का पाठ, 5.131, आगम (विज्ञानभैरव) का पाठ, 5.136, कामिकागम का पाठ, 4.26-27; 6.190-91, कामिकागम का अभिप्राय, 4.25; 6.94-95, 189, किरणा (-आगम) का अभिप्राय, 4.41-78, त्रिशकशासन (शास्त्र) का पाठ, 4.174, त्रिशकशासन का अभिप्राय, 4.49-50, त्रिशिरस् (त्रैशिरस) का पाठ, 5.9-10, 137, अभिप्राय, 5.128-30, 136; 6.22-23, त्रिशिरोमत का पाठ, 5.21, अभिप्राय, 5.20, त्रिशिरोभैरवागम का पाठ, 5.86, अभिप्राय, 5.93-94, दीक्षोत्तर का अभिप्राय, 5.148-50; निशाटन (निशिसंचर, निशाचार) का अभिप्राय, 4.79, 177-78; 6.31-33, ब्रह्मयामल का पाठ, 4.57-58, ब्रह्मयामल का अभिप्राय, 4.60-64; 5.97-98, भग्नशिखा का अभिप्राय, 4.25

108. द्रष्टव्य - 4.21, 48; 5.27-28, 6.6, 42, 49, 131, 144, 146, 159, 164, 167, 171, 174, 199-200, का सटिप्पण अनुवाद।

109. द्रष्टव्य - 6.205-6 इत्यादि का सटिप्पण अनुवाद।

110. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा च।
तर्कभाषा, पृ. 4, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1968 में उद्धृत उद्देश का अर्थ है नाममात्र से वस्तु का उल्लेख, लक्षण का अर्थ है असाधारण धर्म का वचन, परीक्षा का अर्थ है लक्षण की मीमांसा। द्रष्टव्य, वहीं।

111. इह आह्निकादाह्निकान्तरस्य संचयन्यायेन परस्परमनुस्यूततां दर्शयितुम्, एकेनैव श्लोकेन तत्पर्यन्तप्रारम्भयोरुपसंहारोपक्रमो करोति, इति अस्य ग्रन्थकारस्य शैली। विवेक, 1.334, पृ. 309.

112. वयं तूक्तानुवचनमफलं नाद्रियामहे। तन्त्रा, 37.31.

113. अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः। हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते।।तन्त्रा, 4.277.

114. तन्त्रा, 5.131.

115. द्रष्टव्य-जे.एल. मैसन, एम.बी. पटवर्धन, Shantras and Abhinavgupta's Philosophy of Aesthetics,

भूमिका पृ.16, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1969.

116. अनन्तचित्रसद्गर्भसंसारस्वप्नसद्घनः। प्लोषकः शिव एवाहं इत्युल्लासी हुताशनः।। तन्त्रा, 3.

117. माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव दैवं हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति। तंत्रा, 37.56.

इसके बाद का पद्य और भी मार्मिक हैः

माता परं बन्धुरिति प्रवादः स्नेहोऽतिगाढीकुरुते हि पाशान्।
तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य मन्ये स्थिता जीवत एव मुक्तिः।।

118. अलं रहस्यकथया गुप्तमेतत् स्वभावतः। 5.73.

119. तन्त्रा, 4.134-136 तथा 5.72.

120. तन्त्रा, 37.71.

121. सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा। अनुत्तरषडर्धार्थक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते।।

इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः। अर्थितो स्त्वये स्पष्टं पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम्।।तन्त्रा,1.14-15.

122. मन्द्रः स्वकं पुरवरे स्थितिमस्य वव्रे। तन्त्रा, 37.72.

123. तन्त्रा, 37.77-78.

124. हत्थं गृहे वत्सलिकावितीर्णे स्थितः समाधाय मतिं बहूनि।
पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्धया शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम्।।
स तन्त्रिबन्धं विदधे महार्थं युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्।
आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः सुखं संचरिता क्रियासु।। तन्त्रा, 37.82-83.

125. विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः। ऋजुवचन विरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः शृणुत।। तन्त्रसार, 1.2.

126. द्रष्टव्य - 6, 10, 12, 17 और 24 आह्निकों के जयरथकृत समाप्तिसूचक पद्य।

127. सूत्रमात्रस्य या व्याख्या सा वृत्तिरभिधीयते। वृत्ति का यह प्रसिद्ध, प्राचीन लक्षण है।

128. अह्नायाह्निकमेतच्चतुर्दशं जयरथः समाचख्यो।

129. आह्निक 37, पृ. 432, श्लोक 30.

130. द्रष्टव्य, आह्निक 37, पृ. 433, श्लोक 35,39।

131. पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि।

प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।।
तथाप्यस्यामंग क्वचन भुवि नास्ति त्रिकदृशि।
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः।

तन्त्रा, आह्निक - 37, पृ. 434-35, श्लोक 47,

तथा

कौमारिलनैयायिकमतविमतिसतत्त्वविज्जयरथाभिख्यः।
आख्यापयदतिविशदां दशमाह्निके विवृतिरीतिमिमाम्।। आह्निक 10, समाप्तिपद्यः।

132. हरचरितचिन्तामणि (निर्णयसागर संस्करण) की पुष्पिकाओं में जयरथ का भी नाम मिलता है और कुछ में उनके अनुज जयद्रथ का भी।

133. इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग के लिए द्रष्टव्य-रामचन्द्रद्विवेदी, अलंकार-मीमांसा, पृ. 46-57.

134. तदस्माकमपि एवं-व्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्तपादा एव प्रमाणम्। विवेक, आह्निक 5, पृ. 443.

135. देखिये-आह्निक 4, पृ. 199.

136. देखिये-आह्निक 6, पृ. 114.

137. आह्निक 4, कारिका 278, पृ. 306.

138. अजडप्रमातृसिद्धि-5.8, 82; 6.238, अनुत्तराष्टिका-5.74, अमरकोष-6.99, आगम - 4.125, 149, 173; 5.9, 70, 107, 130, 135; 6.12, 229, 251, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा -5.14, 50, 105, 129, 136, 139, 150; 6.29, ऊर्मिकीलि-4.184, कामीकिय (आगम)-6.190, कालिकाक्रम-5.80, किरणा-4.41, 78, क्रमभट्टारक-4.150, क्रमसद्भावभट्टारक-4.127, 158, क्रमस्तोत्र-4.148-49, 151-52, 154, 158, 163, 168, 173, छान्दोग्योपनिषद्-4.30, तन्त्रसार-4.43, 5.5, 18, 51, 60, 67-68, 82, 91, 98, 130-31, 144, 146; 6.5, 18, 22, 122, 203, 216, 236, 251, तन्त्रराजभट्टारक-4.173, त्रिशिरोभैरव-5.91-93, त्रिशिरोमत (त्रिशिरस्)-5.20, 113, 129, त्रिंशिका- 4.50, निशासंचर (निशाटन)-4.177; 6.33, नेत्रतन्त्र- 5.91, दीक्षोत्तर - 5.148, पंचशतिक-4.148-52, 154, 158, 163-67, 169-73, परमार्थसार-6.170, परात्रींशिका-4.49, 187; 5.67, 73, पाणिनिसूत्र-5.60, पूर्वशास्त्र-4.28, बृहदारण्यकोपनिषद्-4.30; 6.16, ब्रह्मयामल-4.58, 60-62, 64, भगवद्गीता-5.127, 144, भर्गशिखा-4.255, मातंगतन्त्र-6.227, मालिनीविजय-4.187; 5.100, 120, 133, 154, 157; 6.172, योगसूत्र-4.19, रौरवागम-6.141, वाक्यपदीय-4.41, वासिष्ठ - 6.62, विज्ञानभैरव-5.22, 47, 71, 88, 91; 135, 6.24, शिवसूत्र-4.194, 5.59, श्रीदेवीपंचशतिक-4.173, श्रीमांगलशास्त्र-5.40, श्रीयोगसंचर-4.126, श्रीसर्ववीर-4.56, श्रीसार्धशतिक-4.149, 173, श्रीस्तोत्र-4.173, श्रीस्तोत्रभट्टारक-4.191, सर्वदर्शनसंग्रह-6.16, सर्ववीरग्रन्थ-4.55, 56, साम्बपंचाशिका-6.96, सिद्धामत-4.66, सौन्दरनन्द-4.30, स्पन्दकारिका (-शास्त्र)- 4.184; 5.27, स्वच्छन्दतन्त्र-4.19, 38; 5.47, 53, 56, 105, 131; 5.4; 6.5, 10, 11, 23, 36, 50-52, 61, 65-66, 68-

69, 71, 76-77, 101, 104, 107, 109-111, 115-16, 120-28, 136, 139-40, 144, 146, 148, 150, 157, 165-67, 169, 177, 191, 195-96, 198-99, 203, 237, हरिमीडेस्तोत्र-5.11.

139. बिना गुरुपरम्परा के अर्थ (रहस्य) स्पष्ट नहीं हो पाता, इस सम्बन्ध में जयरथ की उक्ति उल्लेखनीय है-

इह यद्यत्त्यनुभवैकगोचरत्वात् करणस्वरूपं गुरुमुखादेव स्फुटमवगन्तव्यम्। आह्निक 5, पृ. 442.

140. अक्षपाद - आ. 4, पृ. 34, अभिनवगुप्तपाद - आ. 5, पृ. 443, अभियुक्त (चतुर्थ आ.) पृ. 19, अवतारकनाथ - आ. 4, पृ. 195, 197, आगमज्ञ - आ. 4 पृ. 23, 222, उज्जट, आ. 4, पृ. 192, उद्भट, आ. 4, पृ. 192; एरक, आ. 4, पृ. 193, एरकसम, आ. 4, पृ. 192; ककारदेवी, आ. 4, पृ. 195; कपिल, आ. 4 पृ. 38; कल्याणिका, आ. 4, 192, 195; केयूरवती, आ. 4 पृ. 192, चक्रभानु, आ. 4, पृ. 193; चार्वाक, आ. 6 पृ. 15, 17; गुरु (महागुरु, परमगुरु) आ. 4, पृ. 161, 192, 201, 222, 233, गोविन्दराज, आ. 4, पृ. 161-92, 196, 197, 198; दर्शनान्तर, आ. 6, पृ. 18-19, नवेरकनाथ, आ. 4, पृ. 196, ब्रह्मवादी, आ. 4 पृ. 25, 32, बाह्य (अन्य दार्शनिक) आ. 4, पु. 227, 232; भगवान्, आ. 4 पृ. 18; आ. 6, पृ. 114, भट्ट श्री कल्लट, आ. 6, पृ. 11, भानुक, आ. 4, पृ. 191-92, 196, भूतिराज, आ. 4 पृ. 194, भेदेश्वरवाद, आ. 4, पृ. 81, भोजराज, आ. 4, पृ. 196, 197; मदनिका, आ. 4, पृ. 192, 195, भोजराज, आ. 4, पृ. 196, 197, मदनिका, आ. 4 पृ. 192, 195, रौरवमत, आ. 6, पृ. 123, वामनदत्ताचार्य, आ. 5, पृ. 467, वामनभानु, आ. 4, पृ. 196; विज्ञानवादी, आ. 4, पृ. 32, वीरनाथ, आ. 4, पृ. 196, वीरवर, आ. 4, पृ. 192, वैभाषिक, आ. 4, पृ. 33, वैरिंच, आ. 4, पृ. 25; वैष्णव, आ. 4, पृ. 30, 31, 36, 38, 39-40, 43 शिवानन्दनाथ आ. 4 पृ. 192; श्रीतपस्वी, आ. 4, पृ. 131, सांख्य, आ. 4, पृ. 16; आ. 6, पृ. 17, सिद्धपाद (अभिनवगुप्त आ. 4 पृ. 199; सोमराज, आ. 4, पृ. 196, सोमानन्द आ. 4, पृ. 192, 194, सौगतमत, आ. 6, पृ. 6, ह्रस्वनाथ, आ. 4, पृ. 196, 202

141. उदाहरण के लिए - आ. 6, पृ. 59-60, 97, 101-102.

142. विवेक, 4.38, पृ. 42; 4.107-8, पृ. 112, 4.109, पृ. 114.

143. द्रष्टव्य - तन्त्रालोक एवं विवेक, 4.48 (पराःपरः), 4.152 (संहृत्य, परिहृत्य).

144. आ.4, पृ.128-134, 156, 162, 177, 214, 216, 269, 271, 282, आ.5, पृ. 341, 363, 368, 370, 377, 383, 417, 474; आ. 6, पृ. 70, 72, 135, 143, 177.

145. यश्च अत्र एतत्पूरणे सम्प्रदायः, स रहस्यत्वात् समयभंगभयाच्च न इह अस्माभिः प्रदर्शितः। आ.29, पृ.19.

■

द्वितीय परिच्छेद

शाक्तोपाय

संवित् के साक्षात्कार के चार उपाय हैं। तन्त्रालोक के चतुर्थ तथा पञ्चम आह्निक में उनमें से शाक्तोपाय एवं आणवोपाय की क्रमशः विवेचना है। चतुर्विध मोक्षोपायों की चर्चा के पूर्व त्रिकदर्शन के अनुसार परम तत्त्व के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

संवित् का स्वरूप

इस दर्शन के अनुसार संवित् निर्विकल्प एवं स्वतन्त्र है। यह न केवल प्रमाता से अपितु प्रमेय से भी अभिन्न है अर्थात् मूलतः एक एवं अद्वय संवित् ही प्रमाता एवं प्रमेयादि रूपों में अवभासित होती है। पूर्वपक्षी की आपत्ति है कि यह प्रमाता से एक होने के कारण ज्ञानरूपा तो हो सकती है, परन्तु यदि इसे ज्ञेय विषयों में रहने वाली अथवा घटादि जड़ पदार्थों के रूप में आभासित होने वाली माना जाता है तो निश्चित रूप से इसका स्वरूप जड़ता का होगा। इस शंका का समाधान है कि स्वात्मरूपा संविद् स्वभावतः पूर्ण स्वतन्त्र है। इसे अपने अवभासन के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं।[1] वह अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के कारण ही वस्तुतः अभिन्न होते हुए भी प्रमाता एवं प्रमेय के विविध रूपों में आमासित होती है।[2]

प्रमातृरूपा संविद् न केवल ज्ञेय पदार्थों में अवस्थित है अपितु वह सर्वात्मक होने के कारण बुद्धि, प्राणादि में भी समानरूप से अवस्थित है।[3] यह शुद्ध स्वभाव वाली संविद् अपने अवभासों के रूप में कहीं-कहीं निर्मल स्वभाव को धारण किये हुए स्थित है।[4]

संवित् प्रमातृवर्ग में विविध (बारह-द्वादश देवियों के) प्रकार से अवस्थित है किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि उसमें अनेकता अथवा विभाजन है। क्योंकि उसका परम वैशिष्ट्य है विविध रूपों में अवभासित होने पर भी अपने एकत्व को बनाए रखना। यह क्रम-रहित है और इसमें यौगपद्य का भी अभाव है। अर्थात् यह क्रम एवं अक्रम की कथा से परे है।[5]

संवित् के अहं परामर्श को शास्त्रों में 'हृदय', 'स्पन्द' आदि नामों से अभिहित किया गया है।[6] यह संवित्त्व ही संवित् का वास्तविक स्वभाव है। संवित्त्व के बिना संवित् को ठीक उसी प्रकार संवित् नहीं कहा जा सकता है, जिस प्रकार सिन्धुता के बिना सिन्धु को। एक ही संविद्

का अनेक रूपों में अवभासन ही उसका परमार्थ है[7] जो उसी प्रकार उसकी एकता को भंग नहीं करता है जिस प्रकार तरंगें समुद्र की एकता को भंग नहीं करती हैं। समुद्र में उठने वाली तरंगों की भाँति ही संविद् में भी उससे अनवच्छिन्न संवित्त्व है। 'श्रीमदूर्मिकील' में संविद् के स्वभाव विमर्श को ऊर्मिरूप से कहा गया है।[8]

यदि संवित् का स्वभाव संवित्त्व नहीं माना जाएगा तो यह चिद्रूपा न रहकर जड़ हो जाएगी। जड़ किसी का आमर्शन नहीं करता और स्वरूपनिष्ठ होता है जैसे स्फाटिकादि अपने में अन्य वस्तुओं को प्रतिष्ठित करते हुए भी आत्मज्ञान से दूर हैं।[9]

अकृत्रिम एवं कलंकरहित इस परामर्श का ही अपरपर्याय अहंपरामर्श है। इस अहंपरामर्श से अनुस्यूत संवित् तत्त्व सभी मन्त्रों का हृदय-रूप वीर्य है। यही प्रकाश की प्रकाशता है।[10] इस स्वभाव के बिना सभी वस्तुएँ जड़[11] अर्थात् अप्रकाश होने से निरर्थक हैं।[12] यद्यपि संविद् निराकार है तथापि फल की इच्छा रखने वाले साधकों के ध्येय के दृष्टिकोण से वह विशिष्ट आकार की भी है। उस निराकार को साकार मान लेने से भी सिद्धान्त की कोई हानि नहीं होती। यद्यपि मिट्टी एवं सोने आदि के घड़े घटत्व की दृष्टि से अभिन्न हैं पर जिस प्रकार जल लाने के लिये व्यक्ति विशिष्ट घट का ही प्रयोग करता है उसी प्रकार साधक उस निराकार एवं पूर्ण संवित् की फलेच्छा से विशिष्ट आकार में अर्चना करता है। पर जो साधक फल की आकांक्षा से परे रहता है उसके लिए संवित् निराकार ही है।[13]

संवित् के स्वभाव के ही अपर-पर्याय संवित्स्पन्द, विमर्श एवं प्रकाशता है। यह विमर्श परम शिव की दशा में सभी विशेषों को अपने में आत्मसात् कर लेने के कारण आन्तर तथा सामान्यात्मा है। इस दशा में विमर्श की अनुभूति केवल अहंरूपा ही होती है। इसी संविद् को बाह्य तथा विशेषात्मा भी तब कहते हैं जब वह माया से पृथ्वी पर्यन्त सभी भेदों को अवभासित करता है। इस स्थिति में विमर्श का बोध केवल 'इदं' के रूप में होता है। आन्तर एवं बाह्य तथा 'अहमिदम्' की जो समानरूप में अनुभूति होती है तब वही स्पन्द अथवा विमर्श सामान्य-विशेषात्मा होता है। 'अहं' की अनुभूति में विमर्श विकासशील होता है, 'इदं' की अनुभूति में संकोचशील तथा 'अहमिदम्' की स्थिति में संकोचविकासात्मा।[14]

व्यवहारदृष्टि से एवं अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के कारण संवित् स्वयं को संकोच एवं विकास के स्वभाववाली प्रदर्शित करती है, परन्तु वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से वह संकोच एवं विकास से परे है।[15]

काश्मीर के सुप्रसिद्ध शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में त्रिकदर्शन की तीनों शाखाओं-क्रम, कुल एवं प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तों का आगमसम्मत सविस्तर विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके प्रारम्भिक आह्निकों का उपायों के आधार पर नामकरण करते हुए उनमें विविध उपायों एवं अभिनवगुप्त की समन्वयदृष्टि[16] के अनुकूल एकात्मता की विस्तृत व्याख्या की गई है।

त्रिक दर्शन की सभी शाखाओं में सामान्यतः मुक्ति के चार[17] उपायों को स्वीकार किया

गया है-अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय। इन चतुर्विध उपायों को ही तत्तत् गुणों के प्राधान्य के कारण क्रमशः आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय एवं क्रियोपाय भी कहा जाता है। इनमें से शाम्भवोपाय अभेददृष्टि-प्रधान, शाक्तोपाय भेदाभेददृष्टि-प्रधान तथा आणवोपाय भेद-दृष्टि प्रधान है।

त्रिकदर्शन एक अनुभूति-सिद्ध दृष्टि है। इसके दार्शनिकों ने अपनी मान्यताओं का आधार एवं लक्ष्य साधारण जन को बनाया है, शास्त्राभ्यासी विद्वानों अथवा मूर्खों को नहीं।[18] यही कारण है कि वे दुर्लभ एवं जटिल मुक्ति का अथवा मुक्ति के उपायों का उपदेश नहीं देते। उनकी दृष्टि दुःख में सुख, विष में अमृत एवं संसार में मोक्ष (अथवा जीवन्मुक्ति) की अनुभूति कराने की है।[19] इस दर्शन में वही उपाय सहज एवं सर्वोत्कृष्ट है जो बिना किसी प्रयत्न के सामान्य जन को आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करा सके।[20] अनुपाय का विचार इसी दृष्टि का परिचायक एवं प्रमाण है।

अभिनवगुप्त ने इसी उपाय को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए तंत्रालोक के द्वितीय आह्निक में इसका विस्तृत विवेचन किया है। इस उपाय का सम्बन्ध प्रमुखतः प्रत्यभिज्ञा शाखा से है। इसके नाम में ('नञ्') का प्रयोग निषेध अथवा अभाव के लिये न होकर 'ईषत्' अर्थ में किया गया है। दूसरे शब्दों में अनुपाय का अर्थ उपायों का निषेधमात्र[21] नहीं है अपितु इसका वास्तविक अर्थ उपायों की अत्यल्पता है। इसमें उपायों की गन्धमात्र भी नहीं होती।[22] इसमें मुमुक्षु शिष्य गुरूपदेशों के द्वारा यह समझता है कि सभी उपाय परमेश्वर से और स्वयं उसके स्वरूप से मलिन हैं। उसके आत्म-स्वरूप को ये प्रकाशित नहीं कर सकते। स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान के लिये उसे किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं है।[23] इस उपदेश के फलस्वरूप वह अपने भीतर शिवत्व का विमर्श करने लगता है। शिवैक्य का यह परामर्श उसे बिना किसी योगाभ्यासादि के हो जाता है जैसे गुरु के अनुग्रह मात्र से, उसके दृष्टिपात से, उसके स्पर्श से, उसके द्वारा दिये गये किसी भोज्य पदार्थ को खाने से अथवा किसी अन्य ही प्रकार से।[24] जब यह अनुभव-परामर्श प्रतिदिन के अभ्यास द्वारा दृढ़ हो जाता है तब मुमुक्षु शरीर धारण करते हुए तथा देह-धर्मों का निर्वाह करते हुए भी मुक्त रहता है।

शाम्भवोपाय में मुक्ति की प्रबल इच्छा के अभ्यास के द्वारा ही साधक को शरीर, मन, बुद्धि एवं प्राणादि के द्वारा किसी भी प्रकार की साधना नहीं करनी पड़ती।

इसीलिये इस उपाय में मन्त्र, मुद्रा आदि क्रियाओं की अपेक्षा नहीं है।[25] साधक शरीरादि की क्रियाओं से निवृत्त होकर मुक्ति-विषयक इच्छाशक्ति की तीव्रता एवं दृढ़ता का अभ्यास करता रहता है। वह शरीरादि के द्वारा न किसी वस्तु का ग्रहण करता है और न ही परित्याग। वह हेयोपादेयता से परे रहकर अपनी इच्छा को आत्म-स्वरूप में ही केन्द्रित किये रहता है। स्वस्थिति अथवा स्वात्म-विश्रान्ति का यही अभ्यास शाम्भवोपाय है। यही मुक्ति का साक्षात् उपाय माना

गया है।[26] अनुपाय इसी की पराकाष्ठा है।[27]

शाम्भवोपाय में अभेददृष्टि का विशेष महत्त्व है। इस उपाय का साधक विकल्पों से परे रहते हुए[28] दर्पणनगरन्याय से प्रतिबिम्बित इस विश्व को स्वयं से अभिन्न समझता है।[29] विश्व शिवेच्छा का मूर्त रूप है एवं तद्रूप है। अतः शाम्भवोपाय का स्वरूप भी स्वात्म-परामर्श का है।[30]

त्रिक दर्शनानुसार अज्ञान अर्थात् अपूर्ण ज्ञान की निवृत्ति ही मुक्ति है। पारिमित्य बन्ध का पर्याय है एवं अपरिमितता की अनुभूति मोक्ष का। अशुद्ध विकल्पों अथवा अज्ञान के कारण प्रमाता स्वयं को अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा अनीश्वर समझने लगता है। यही अशुद्ध विकल्प है। अतः जब मुमुक्षु सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमत्ता, पूर्णाहन्ता एवं पूर्णैश्वर्य की अनुभूति के शुद्ध विकल्पों द्वारा इदन्ता के स्पर्श से कलुषित अशुद्ध विकल्पों को समाप्त कर लेता है तभी उसको अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से अपूर्ण ज्ञान की निवृत्ति के लिये शुद्ध विकल्पात्मक ज्ञान का अभ्यास ही शाक्तोपाय है।[31] यही इसके ज्ञानोपाय नाम की सार्थकता है। इसमें उच्चारादि का पूर्ण अभाव होता है। जप, ध्यानादि अनेक उपायों के समावेश के कारण इसे 'उपायमण्डलं' भी कहा गया है।

इस उपाय की तुलना वेदान्त के ज्ञानोपाय से की जा सकती है जिसमें आत्म-ज्ञान को ही मुक्ति का प्रधान एवं प्रत्यक्ष उपाय माना गया है।

त्रिक दर्शन में स्वीकृत चतुर्विध उपायों में सर्वाधिक स्थूल (बाह्य) अथवा मूर्त उपाय आणवोपाय है। क्रिया के प्राधान्य के कारण इसे क्रियोपाय कहा जाता है। इस उपाय में कतिपय कल्पित मन्त्रों का उच्चारण होता है। मन्त्रोच्चारण में शारीरिक क्रियाओं का भी विशिष्ट स्थान है। मन्त्रोच्चारणादि संवित् के सन्निकृष्ट उपाय हैं तथा ध्यानादि विप्रकृष्ट जो क्रमशः बुद्धि एवं मन से साध्य हैं। दीक्षा का इसी उपाय में अन्तर्भाव किया गया है। इस उपाय को भेदोपाय कहने का औचित्य यह है कि इसमें साधक इदन्ता तथा अहन्ता को समान महत्त्व देता है। मुमुक्षु का अपने से भिन्न वस्तुओं पर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास ही आणवोपाय है।

उपायों का नानात्व, औचित्य एवं फल

शैव दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अनेकत्र यह मत प्रस्तुत किया है कि अन्य दर्शनों द्वारा प्रदर्शित मुक्ति का स्वरूप एवं उसके उपाय अपूर्ण हैं। ये दर्शन पूर्ण मोक्ष के जिज्ञासुओं को सही मार्ग दिखाने के स्थान पर द्वैत के पंक में गिरा देते हैं। उनकी बुद्धि को भ्रमित कर देते हैं। परन्तु स्वयं त्रिक दर्शन में उपायों के इस विस्तार को देखकर सहज शंका उठती है कि क्या इनसे अद्वयतत्त्व का जिज्ञासु भ्रमित नहीं होता है? उपायों का यह नानात्व मुक्ति के स्वरूप में भी नानात्व को उत्पन्न नहीं करेगा? सभी प्रकार के मायीय तत्त्वों से परे रहने वाले परम तत्त्व का इन मायीय उपायों के द्वारा कैसे साक्षात्कार किया जा सकता है? इस तरह की अनेकानेक शंकाओं को स्वयं शैव दार्शनिकों ने प्रस्तुत करते हुए उनका तर्कसंगत एवं आगम-सम्मत समाधान प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त चतुर्विध उपाय एवं उनके अन्तर्गत स्वीकृत अनेकानेक अन्य उपाय मुक्ति के जिज्ञासु को भ्रमित नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि उपायों का यह विभाजन अधिकारि-भेद से किया गया है। सभी प्रमाता एवं स्वरूप-ज्ञान के जिज्ञासु, परमार्थदृशा एक होते हुए भी, विविध मलों[32] से आवृत्त होने के कारण, अलग-अलग सामर्थ्य वाले होते हैं। उनके अज्ञान में प्रकार एवं स्तर का भेद होता है। अतः विविध प्रकार के मलों की निवृत्ति के लिये अधिकारि-भेद से अलग-अलग उपायों का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही इन उपायों के विषय में दार्शनिकों ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी उपाय परमार्थतः उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं हैं। जिज्ञासु का मन जिस किसी उपाय में विश्वास रखे, जिस उपाय से आश्वस्त हो तथा जिस उपाय को वह अपने अनुकूल समझे वही उसके लिये वास्तविक उपाय है। उपायों के नानात्व में जिज्ञासु भ्रमित न हों इसलिये त्रिक दर्शन में यह मान्यता प्रस्तुत की गई है कि उपायों का यह वैचित्र्य फल-भेद उत्पन्न नहीं करता है। अर्थात् यद्यपि स्थूल दृष्टि से यह कहा जाता है कि साधक विविध उपायों के द्वारा अद्वय तत्त्व की विविध भूमिकाओं एवं स्तरों का साक्षात्कार करता है तथापि फलों का यह भेद कल्पित है, व्यवहार मात्र है। वास्तव में तो आत्म-ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है और वही उसका फल है। उपाय एवं उसके फल की चर्चा का परमार्थ स्तर पर कोई महत्त्व नहीं।[33] उपायों की व्यावहारिक चर्चा का औचित्य यह है कि ये मुमुक्षु के द्वैत अथवा भेद-ज्ञान की निवृत्ति करके स्वरूप-ज्ञान में सहायक बनते हैं।

पारमार्थिक दृष्टि से उपायों की निष्प्रयोजनता का एक कारण और है। उपाय अज्ञात अर्थ के ज्ञापक माने गये हैं।[34] त्रिक दर्शन में आत्म-स्वरूप को सर्वथा अज्ञात नहीं माना गया है। आत्म-स्वरूप को संकुचित समझना व्यवहारदृशा बन्ध कहा जाता है। यह संकोच, स्वरूप का ज्ञानाभाव न होकर, अपूर्ण एवं संकुचित ज्ञान ही है। इसके साथ ही मुक्ति अथवा स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कोई नूतन उपलब्धि नहीं है। इस प्रकार अवास्तविक बन्ध एवं मोक्ष के प्रसङ्ग में अन्ततोगत्वा उपाय भी अवास्तविक अर्थात् निष्प्रयोजन ही सिद्ध होते हैं। उपाय का स्वरूप या लक्षण ही यह है कि जिन्हें ग्रहण करके भी छोड़ दिया जाये।[35]

शाक्तोपाय

शाक्तोपाय में ज्ञान का प्राधान्य होने के कारण इस उपाय के अनुसर्ता आत्म-ज्ञान के द्वारा अपने वास्तविक एवं पूर्ण स्वरूप की अनुभूति करते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति के अनेक माध्यम, प्रकार एवं स्तर हैं। इसी दृष्टि से इस 'उपायमण्डल' के विविध पक्ष हैं। तन्त्रालोक के सम्पूर्ण चतुर्थ आह्निक में अभिनवगुप्त ने इन विविध पक्षों की विस्तृत, सयुक्तिक एवं आगम-परम्परा से प्रमाणित मीमांसा की है।

विकल्प-संस्कार

संवित् समग्र भेदों से परे होने के कारण निर्विकल्प है क्योंकि विकल्प भेद हैं। वह अपनी

स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा स्वात्मभित्ति पर विविध विकल्पों का अवभासन करती है। ये विकल्प दो प्रकार के होते हैं:- मायीय विकल्प एवं शुद्ध विद्यारूप विकल्प।[36] इन विकल्पों के संस्कार भी दो प्रकार के हैं-उपायान्तरनिरपेक्ष एवं उपायान्तरसापेक्ष।[37] उपायान्तरनिरपेक्ष विकल्प-संस्कार में मुमुक्षु स्व के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य उपाय का आश्रय न लेते हुए स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करता है जबकि दूसरे प्रकार के विकल्प-संस्कार में मुमुक्षु स्व के अतिरिक्त ध्यान, उच्चार आदि अन्य उपायों का आश्रय ले सकता है। शाक्तोपाय के अन्तर्गत जिस विकल्प-संस्कार की चर्चा अभीष्ट है वह उपायान्तरनिरपेक्ष है। आणवोपाय में दूसरे प्रकार के विकल्प-संस्कार का स्वीकार है।

विकल्प-संस्कार के प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किस विकल्प का संस्कार होता है। संवित् शुद्ध एवं निर्विकल्प है। अतः उसके संस्कार का प्रश्न व्यर्थ है और विकल्प का भी संस्कार नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में अभेद है। निर्विकल्प संविद् के संस्कार के औचित्य पर प्रमुख रूप से क्षणभङ्गवादी बौद्धों ने आपत्ति की है। बौद्ध मत में ज्ञान क्षणिक है। विकल्प भी एक प्रकार का ज्ञान होने के कारण क्षणिक है। जो वस्तु क्षणिक है उसका संस्कार नहीं हो सकता क्योंकि संस्कृत होने के लिये वस्तु को एकाधिक क्षण के लिये स्थायी होना चाहिए। इसके बावजूद यदि विकल्प का संस्कार मान भी लिया जाए तो एक संस्कृत विकल्प अपने ही समान दूसरे संस्कृत विकल्प को जन्म देगा और दूसरा तीसरे को। इस प्रकार एक विकल्प के संस्कृत हो जाने पर सभी विकल्प संस्कृत हो जाते हैं। यह सादृश्य-परिणाम विकल्प-संस्कार के उपदेश को निरर्थक सिद्ध करता है। परन्तु त्रिकदार्शनिकों का समाधान यह है कि यद्यपि एक से दूसरे संस्कृत विकल्पों की उत्पत्ति के क्रम में चारों विकल्पों में सादृश्य प्रतीत होता है फिर भी ये निरर्थक नहीं है क्योंकि इनमें क्रमशः अतिशय आया है। उन चारों विकल्पों का संस्कार ही क्रमशः अस्फुट, स्फुटन की योग्यता वाला, स्फुटता की ओर बढ़ने वाला तथा स्फुट रूप होता है। यह क्रम यहीं पर नहीं रुकता और अग्रिम क्षणों में स्फुटतर तथा स्फुटतम होता है। स्फुटतम विकल्प के बाद ही जिज्ञासु को विमल एवं निर्विकल्प संविद् का अनुभव होता है।

निर्विकल्प से अभेद के आधार पर विकल्प के संस्कार की व्यर्थता की शंका अनुचित है। तत्त्वतः दोनों एक एवं अभिन्न हैं फिर भी निर्विकल्पज्ञान भेद के स्पर्श से भी परे होता है जबकि विकल्प-ज्ञान भेदात्मक होता है। अतः विकल्प ज्ञान की इस भेद-दृष्टि को हटाने के लिये उसके संस्कार की आवश्यकता होती है।[38] यह विकल्प-संस्कार आत्मा अथवा संवित् में किसी वैशिष्ट्य को जोड़ता अथवा घटाता नहीं है अपितु इसका वास्तविक प्रयोजन है-संवित् के अस्फुट स्वरूप को क्रमशः स्फुटतम करना।[39] श्रुत ज्ञान का बार-बार तब तक चिन्तन करते रहना जब तक कि वह स्फुटतम न हो जाए और इसके फलस्वरूप गुणों का हृदय में आधान न हो जाए - इसी का नाम संस्कार है।

रागतत्त्व का उपर्युक्त स्वरूप सांख्य दर्शन के राग से भिन्न है। सांख्यमत राग को बुद्धि के आठ गुणों में से एक मानते हुए अवैराग्य[54] के रूप में प्रस्तुत करता है। यह अवैराग्य सभी प्रमाताओं में स्वभावतः हो ऐसा आवश्यक नहीं, जबकि शैवमतानुसारी रागतत्व अवैराग्य मात्र नहीं है।[55] अपितु माया के पाँच कञ्चुकों में से एक होने के कारण अनिवार्यतः प्रमाता के संकुचित स्वरूप का नियामक है। सांख्य दृष्टिकोण में राग के स्वरूप को अपेक्षाकृत संकुचित बनाया गया है, क्योंकि इस मत में रागतत्त्व प्रकृति के विकार बुद्धि का एक धर्ममात्र है और उसका पुरुष से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, जबकि दूसरे मत में राग को प्रकृति विकार से सम्बन्धित न मानकर प्रमाता के संकुचित स्वरूप को बनाने वाले कञ्चुकों में परिगणित किया गया है। अतः बुद्धि के धर्म के रूप में रागतत्त्व का स्वरूप स्थूल है तथा मितात्मा को विशिष्ट वस्तु के प्रति आसक्त करने में सूक्ष्म है।

गुरुतत्व

ऊपर सत्तर्क को आत्मस्वरूप के प्रत्यभिज्ञान का सर्वोत्तम साधन माना गया है। यह सत्तर्क किसी-किसी मुमुक्षु में गुरूपदेश के द्वारा, किसी में शास्त्र-श्रवण के द्वारा तथा किसी में स्वतः ही उत्पन्न होता है। इस मान्यता की पृष्ठभूमि में गुरु का स्थान एवं महत्त्व कम नहीं है क्योंकि इस दर्शन में प्रत्यभिज्ञान का उपाय वही है-**गुरुरुपायः** (शिसू. 2.6)। सत्तर्क के उदय के दृष्टिकोण से तन्त्रालोक में गुरुरूप उपाय का विवेचन निम्न प्रकार से किया गया है -

सर्वोच्च कोटि का गुरु वह है जिसमें सत्तर्क का उदय शास्त्र आदि के द्वारा न होकर स्वतः ही होता है। स्वतः से आशय यह है कि ऐसे गुरु में शिव का शक्तिपात तो कारण होता है, अन्य नहीं। इस प्रकार के गुरु को सांसिद्धिक, यौगिक तथा अकल्पित कहा जाता है (तन्त्रा. 4.51).

सांसिद्धिक की अपेक्षा निम्नतम कोटि का गुरु कल्पित गुरु माना गया है। इसे कल्पित कहने का आशय यह है कि इसमें मुमुक्षु सेवा, धन, प्रतिविद्या आदि विविधि साधनों से गुरु की भक्तिपूर्वक आराधना करता है जिसके फलस्वरूप वह दीक्षित होकर शास्त्रज्ञान प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, इस मान्यता का आशय यह है कि निम्नकोटि के कल्पितगुरु के लिए अपने से श्रेष्ठ गुरु से शास्त्रज्ञान प्राप्त करने हेतु दीक्षा की आवश्यकता होती है क्योंकि नियम यह है कि गुरु अदीक्षित शिष्य के सामने शास्त्रोच्चार नहीं करता है, इसलिए शास्त्रोच्चार के श्रवण की योग्यता पाने के लिए शिष्य अथवा कल्पित गुरु को दीक्षित होना आवश्यक है और इस दीक्षा को वह भक्तिपूर्वक गुरु की आराधना, सेवा, धन, प्रतिविद्या आदि जिस किसी उपाय से प्राप्त करता है।[56]

अकल्पित एवं कल्पित गुरु के मध्य स्तर के गुरु दो प्रकार के माने गये हैं-अकल्पितकल्पक एवं कल्पिताकल्पित। प्रथम प्रकार के गुरु में शास्त्रज्ञान भावना के द्वारा तथा दूसरे में यह ज्ञान आकस्मिक उत्पन्न होता है। इन दोनों का ही वैशिष्ट्य यह है कि इनमें अकल्पितगुरु एवं कल्पितगुरु के लक्षण

मिले-जुले रूप में रहते हैं। कुछ अंशों में अपनी प्रतिभा के द्वारा शास्त्रज्ञान प्राप्त करना अकल्पितगुरु का स्वरूप है तथा कुछ अंशों में भावनादि का सहयोग लेना कल्पित गुरु का स्वरूप है।[57]

दूसरे शब्दों में, इसमें सांसिद्धिक गुरु की भाँति कुछ ज्ञान तो सहज होता है तथा कुछ को वह शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त करता है। किसी भी एक पक्ष की पूर्णता न होने के कारण इसे मध्यम कोटि का माना गया है (तन्त्रा, 4.52)। इसमें सांसिद्धिक का वैशिष्ट्य उत्तम अंश है।[58] यह गुरु शास्त्र ज्ञान आदि में भावना, ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत, आहुति आदि के द्वारा योग्यता प्राप्त करता है (जिसके स्वरूप का विवेचन यथास्थान किया जायेगा)। इसका यह आशय नहीं कि अकल्पितकल्पकगुरु का प्रमुख लक्षण भावना आदि में स्थित रहना है, क्योंकि भावना आदि उपाय कल्पित हैं और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति वास्तविक है। अतः कल्पिताकल्पितगुरु का प्रमुख लक्षण भावना आदि न होकर तत्त्वज्ञान है।[59]

गुरु के इन भेदों में से प्रत्येक के शक्तिपात के क्रमानुसार, उत्कृष्ट, मध्यम एवं मन्द तीन-तीन भेद होते हैं।[60]

यद्यपि सांसिद्धिक गुरु में शास्त्र एवं अन्य गुरु के बिना स्वतः ही ज्ञानोदय होता है तथा उसका ज्ञान स्व के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है तथापि यदि ऐसा अकल्पितगुरु शास्त्र अथवा अन्य गुरु से या दोनों से अपने ज्ञान का इदमित्थं निर्णय कर लेता है तो वह साक्षात् भैरव बन जाता है।[61]

क्रमदर्शनानुसार प्रस्तुत व्यवस्था में स्पष्ट ही स्वतः प्राप्त ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है एवं शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान को उसकी अपेक्षा निम्न स्तर का माना गया है। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन की मान्यता इससे भिन्न है। इस दर्शन में ज्ञान को बौद्ध एवं पौरुष[62] रूप में द्विविध बताते हुए यह मत प्रस्तुत किया गया है कि यद्यपि पौरुष ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है तथापि बौद्धज्ञान (अर्थात् शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान) के बिना मुक्ति को स्थायी एवं दृढ़ नहीं बनाया जा सकता।

शास्त्र एवं स्वानुभव

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक में शाक्तोपाय का विवेचन किया है। यह शाक्तोपाय प्रमुख रूप से क्रमदर्शन से सम्बद्ध है जो त्रिकदर्शन (क्रम, कुल एवं प्रत्यभिज्ञा) की एक शाखा है। तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में शाम्भवोपाय का विवेचन किया गया है जो कुलदर्शन द्वारा मान्य सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। क्रमदर्शन के मतानुसार साधक को वास्तविक एवं पूर्ण मुक्ति क्रमशः होती है। इसलिए इसमें ज्ञान के विविध क्रम-सोपानों का उल्लेख मिलता है जबकि कुलदर्शन की मान्यता के अनुसार शाम्भवोपाय के द्वारा मुमुक्षु सीधे एवं प्रत्यक्ष रूप से आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसे क्रमशः मुक्ति के स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करने की आवश्यकता नहीं।

शाक्तोपाय के द्वारा क्रमिक मुक्ति प्राप्त करने के प्रमुखतः तीन माध्यम हैं-गुरु, शास्त्र एवं स्व। इन तीनों में गुरु की अपेक्षा शास्त्र तथा दोनों की अपेक्षा स्व श्रेष्ठ है। इसके साथ ही गुरु शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का तथा शास्त्र स्वात्मज्ञान का माध्यम है। परन्तु इन तीनों में आत्मस्वरूप के प्रत्यभिज्ञान का साक्षात्, वास्तविक एवं सर्वोत्तम उपाय स्व ही है, क्योंकि गुरु और शास्त्र प्रत्यक्ष कारण न होते हुए प्रयत्न करने पर भी मुमुक्षु में तब तक स्वात्मबोध की अनुभूति नहीं करा सकते जब तक कि उसके स्व में आत्मानुभूति की क्षमता न हो।[63]

सर्वोत्तम स्तर के गुरु के सांसिद्धिक अथवा प्रातिभज्ञान के अनेक भेद हैं जिनका कारण उपाधि है। मूलतः इसके दो भेद हैं-निर्भित्तिक एवं सहभित्तिक। सहभित्तिक के पुनः तीन भेद माने गये हैं-सर्वगत, मुख्यांशगत एवं अमुख्यांशगत। निर्भित्तिक ज्ञान वह होता है, जिसमें दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए शास्त्रादि भित्ति अथवा आधार की अपेक्षा नहीं रहती है। इससे भिन्न सहभित्तिक-ज्ञान वह है जिसमें दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए शास्त्रादि का सहारा लिया जाता है।[64]

जो मुमुक्षु गुरु की अपेक्षा प्रधानरूप से शास्त्र को उपाय बनाता है वह समस्त शास्त्रज्ञान को सत्तर्क अथवा शुद्ध विद्या के द्वारा ही अधिगत कर लेता है। यदि उसका तर्क उसमें स्वयं ही शास्त्रज्ञान प्राप्त करने की क्षमता उत्पन्न नहीं करता है तो वह वस्तुतः सत्तर्क नहीं है।[65] क्योंकि जिस मुमुक्षु में सत्तर्क है उसमें शास्त्र-ज्ञान अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाता है।

शाक्तोपाय के द्वारा आत्मप्रत्यभिज्ञान में शास्त्र-ज्ञान को एक महत्त्वपूर्ण उपाय माना गया है। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि यहाँ शास्त्र का अर्थ अद्धयवादी शैवशास्त्र अथवा शैवागम है। जो शास्त्र शैवमत के अन्तर्गत नहीं हैं उन शास्त्रों का ज्ञान मुमुक्षु को अभीष्ट की प्राप्ति कराने में असमर्थ है क्योंकि वे एक ओर द्वैतवादी अथवा अद्वैत के आभासमात्र से ग्रस्त हैं तो दूसरी ओर उनकी मान्यताएँ पूर्ण एवं वास्तविक मोक्ष से अनभिज्ञ हैं। इसीलिए शैव दार्शनिक यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि वैष्णव आदि के मतानुयायी मुमुक्षु को वास्तविक, नित्य एवं पूर्ण मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब वह शैवमार्ग का अनुगमन करे।

गुरु, शास्त्र एवं स्व की उपायता के प्रसङ्ग में यह शंका उठती है कि ये तीनों उपाय अलग-अलग रहकर, मिलकर, क्रम से अथवा अक्रम से आत्मस्वरूप की अनुभूति कराते हैं। साथ ही आत्मस्वरूप नित्यसिद्ध एवं एकस्वभाव का होने के कारण विविध उपायों से कैसे प्रापणीय होगा। क्योंकि कारण के भेद से कार्य में भेद होना स्वाभाविक है। दूसरी शंका यह है कि यदि एक ही उपाय से मुमुक्षु उपेय को प्राप्त कर लेता है तो अन्य उपाय निरर्थक हो जाते हैं। शैव दार्शनिक ऐसी शंकाओं का बड़ा ही सहज, स्पष्ट, सन्तोषजनक एवं प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत करते हैं, इसके अनुसार गुरु, शास्त्र एवं स्व में से प्रत्येक उपाय मुमुक्षु को अभीष्ट की प्राप्ति कराने में समर्थ है। यदि कोई मुमुक्षु अपनी संकुचित अथवा विशिष्ट अधिकारिता के कारण इन

उपायों को क्रम से अथवा विपरीत क्रम से अपनाता है तब भी इसके कारण फलभेद नहीं होता।[66] जिस प्रकार छेदन क्रिया के विभिन्न साधनों का प्रयोग करने पर भी छेदनरूपी फल एक ही होता है उसी प्रकार स्वात्मज्ञान के विविध उपाय संघात, विपर्यास एवं विग्रह आदि के द्वारा अन्त में परतत्त्वसमावेशरूप एक ही फल की प्राप्ति कराते हैं (तन्त्रा, 4.78-81) विविध उपायों की व्यस्तता, समस्तता आदि का औचित्य मुमुक्षु की रुचि एवं क्षमता पर निर्भर है। जिस प्रमाता को जो उपाय सर्वाधिक निकट, अनुकूल एवं आश्वासन दिलाने में समर्थ प्रतीत होता है वही उसके लिए उचित एवं वास्तविक उपाय है।[67] यही नहीं, शैव दार्शनिक उपाय के इस आश्वासन को ही तत्वज्ञान मानते हैं अर्थात् मुमुक्षु को अपने अनुकूल एवं आश्वस्त कराने वाला उपाय मिल जाना ही प्रमेय की प्राप्ति है। इसके साथ ही यह स्मरणीय है कि सभी प्रमाताओं को यह आश्वासन सहज सुलभ नहीं होता और सब में एक-सा नहीं होता अपितु शक्तिपात के तीव्र, मध्य एवं मन्द भेदों के अनुसार तीव्र आदि रूपों में होता है।[68] अतः किसी भी उपाय की निरर्थकता का प्रश्न निरर्थक है।

शक्तिपात

अवास्तविक बन्ध एवं मोक्ष का कारण शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति है। स्वातन्त्र्य में अनेक शक्तियाँ समाविष्ट हैं। उनमें तिरोधान बन्ध का कारण है और अनुग्रह मोक्ष का। इस अनुग्रहशक्ति के फलस्वरूप ही परम शिव शक्तिपात करके अपने अनुग्रह से मितात्मा को उसके स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराता है। न केवल गुरु[69], शास्त्रादि अपितु सभी चतुर्विध उपाय शक्तिपात के बिना निरर्थक हैं, निष्फल हैं। इसके बिना जप, ध्यानादि तथा मुमुक्षु के अन्य पुरुषार्थ भी निरर्थक हैं, क्योंकि जपादि तो शिव की नियति शक्ति से समुत्थित हैं और शिव इन सब शक्तियों से परे हैं। अतः इन भेद-प्रधान शक्तियों के माध्यम से उन अभिन्न, अद्वय तत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकती। अतः परमेश्वर का अनुग्रह या शक्तिपात ही मुक्ति में एकमात्र परम एवं अकृत्रिम उपाय है।[70]

परमशिव के शक्तिपात के अनेक स्तर हैं। सर्वप्रथम पर एवं अपररूप से यह दो प्रकार का तथा तीव्र, मध्य एवं मन्दादि के भेद से नौ प्रकार का है।[71]

योगाङ्गों की अनुपयोगिता

शाक्तोपाय में सत्तर्क को ही सर्वोत्तम योगाङ्ग माना गया है, जो संविद् के साक्षात्कार का आन्तर उपाय है। योग आदि दर्शनों में मान्य प्राणायाम आदि को इस मत में सत्तर्क की अपेक्षा निम्न स्थान प्राप्त है, क्योंकि यह बाह्य विस्तार होने के साथ ही उपेय की प्राप्ति में साक्षात् कारण नहीं है। योग के आठ अङ्गों में भी प्रथम पाँच यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार अङ्ग बाह्य हैं तथा इनकी अपेक्षा अन्तिम तीन अङ्ग ध्यान, धारणा एवं समाधि अन्तरङ्ग हैं। तथापि शरीर को पीड़ित करने वाले ये दोनों ही प्रकार के अङ्ग शैव मार्ग में साक्षात् उपाय के रूप में

स्वीकार नहीं किये गये हैं।[72] फिर भी इनका यत्किंचित् उपयोग यह है कि ये सत्तर्क को बाह्यरूप से बढ़ाने में उपाय हैं (तन्त्रा, 4.105)। अर्थात् यम आदि के द्वारा प्राण, देह एवं बुद्धि का संस्कार सम्भव है[73], परन्तु इनके द्वारा संविद् का संस्कार सम्भव नहीं है2। संविद् के सर्वव्यापक होने के कारण प्राण आदि में भी वही व्याप्त है। अतः यम आदि के द्वारा प्राण आदि का संस्कार भी अन्ततोगत्वा संविद् के स्वरूप की अनुभूति में परम्परया सहायक है।[74]

स्नानादि का तात्त्विक स्वरूप

परमेश्वर का स्वभाव शुद्ध संविद् मात्र है। उसमें पारमार्थिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का विकल्प सम्भव नहीं है। फिर भी क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता उसमें दो प्रकार के विकल्प उत्पन्न करती है- शुद्धविद्यात्मक विकल्प तथा मायीय विकल्प। शुद्धविद्यारूप विकल्प मायीय विकल्प को नष्ट कर देता है। इसी शुद्ध-विद्यात्मक विकल्प के स्नान, शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान, जप आदि अनेक प्रकार हैं (4.114-15)। स्नान आदि भेदात्मक हैं, इसलिए इन्हें मायीय विकल्प में परिगणित किया जाना चाहिये। परन्तु ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि यहाँ स्नान आदि का आशय सामान्य लौकिक स्नानादि से न होकर अलौकिक स्नान आदि से है। ज्ञानाग्नि के द्वारा जब विश्वरूप इन्धन जल जाता है तब उससे बची हुई अपरिमित प्रमातृरूप भस्म के द्वारा देहादिरूप परिमित प्रमाता का मज्जन ही अलौकिक स्नान है (4.116-17)। भेदज्ञानरूप अशुद्धि का विनाश ही परम ज्ञानरूप शुद्धि है (4.118-19)। इन्द्रियवृत्ति में रह कर मानस को आह्लादित करने वाली वस्तु को ब्रह्मरूप सद्धाम में जोड़ना पूजा का उपकरण है तथा चिदात्मा के साथ रूप, रस आदि विभिन्न भावसमूहों का एकीकरण ही पारमार्थिक पूजा है (4.121-22)। दूसरे शब्दों में संविद् से ऐक्य स्थापित करना ही पूजा है (4.180-81)। स्वात्म में विश्रान्त योगी का श्वास-प्रश्वास लेना, सोचना-विचारना आदि प्रत्येक आचरण अलौकिक जप है (4.191)। अपनी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा योगी जो कुछ बाह्य एवं आन्तर वस्तु का आभासन करता है वही उसका ध्यान है (4.195)। भैरवीय परम आसव से घूर्णित योगी के शरीर के रहने पर भी देह की जो स्थिति होती है वही मुद्रा है (4.200)। समग्र इन्द्रिय-समूह के रूप में फैली हुई प्रचण्ड ज्वालाओं वाली अग्नि का हृदय में निरन्तर जलना ही होम है (4.201)। इन ध्यानादि उपायों का निरन्तर अभ्यास करने के फलस्वरूप योगी शीघ्र ही भैरवमय हो जाता है (4.206) यद्यपि सांसारिक पुरुष उसे देह की सीमा के कार्यों में लगा हुआ देखते हैं।

शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध एवं शास्त्र-प्रामाण्य

किसी भी लौकिक वस्तु एवं व्यवहार के शुद्ध अथवा अशुद्ध होने तथा शुद्धि-अशुद्धि के कारण विधेय और निषिद्ध होने के विषय में तीन मत हैं: प्रथम मत मुक्ति के प्रसङ्ग में कुछ विशिष्ट क्रियाओं का विधान करता है, दूसरा मत उनका सर्वथा निषेध करता है तथा इन दोनों अतियों से भिन्न तीसरा मत है जो अपने अनुयायियों को सब प्रकार के विधि-निषेध से परे रहने

का उपदेश देता है। विधि को स्वीकार करने वाला प्रथम मत क्रमदर्शन का है जिसमें मुक्ति को क्रमिक माना गया है। निषेध का उपदेश देने वाला दूसरा मत कुलदर्शन का है जो आत्मानुभूति में किसी भी क्रम को नहीं मानता है। विधि और निषेध से परे रहने का उपदेश देने वाला तीसरा मत प्रत्यभिज्ञादर्शन का है। सत्तर्कों पर आधारित होने तथा समन्वय की दृष्टि को पूर्णता प्रदान करने के कारण उपर्युक्त मतों में तीसरा मत ही तात्त्विक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।

शुद्धि और अशुद्धि का विचार एवं व्यवहार एक संकुचित दृष्टिकोण है। इसका कारण वस्तु नहीं, अपितु प्रमाता है। यदि शुद्धता को वस्तु का धर्म माना जाता है तो उसे सदा शुद्ध ही रहना चाहिए और जब वस्तु स्वभावतः शुद्ध है तो उसके बारे में अशुद्धि के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर यदि वस्तु का धर्म अशुद्धता का है तो उसे सदा अशुद्ध ही रहना चाहिये। क्योंकि स्वभावतः अशुद्ध वस्तु को किसी भी संस्कार से शुद्ध नहीं किया जा सकता।[75] वस्तुओं को शुद्ध अथवा अशुद्ध मानने पर तीन दोष उत्पन्न होंगे। पृथ्वी को जल से और जल को पृथ्वी से शुद्ध मानने पर अन्योन्यात्तयता का दोष उत्पन्न होगा। अशुद्ध पृथ्वी आदि की अशुद्ध जल आदि से शुद्धि मानने पर व्यर्थता का दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि दोनों ही समान रूप से अशुद्ध हैं और यदि पृथ्वी को जल से, जल को वायु से, वायु को तेज से, तेज को आकाश आदि से शुद्ध मानते हैं तो अनवस्था दोष होगा। अतः वास्तव में किसी भी वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है।[76]

पृथ्वी आदि तत्त्वों में भी मन्त्रों की भाँति ही शिवात्मकता होने पर एक को अशुद्ध और दूसरे को शुद्ध मानने में क्या औचित्य है? इस शंका का समाधान यह है कि मन्त्रों में मनन एवं त्राण धर्म होता है और उसकी उसी रूप में अनुभूति होती है किन्तु पृथ्वी आदि में ये धर्म नहीं होते हैं। इसलिये मन्त्र पृथ्वी आदि से विलक्षण हैं। वस्तुतः पृथ्वी आदि सभी भाव पदार्थ शुद्ध हैं। किन्तु उन्हें अपनी शुद्धता का परिज्ञान नहीं होता। उनकी शुद्धता का परिज्ञान योगियों को होता है।[77]

शुद्धि और अशुद्धि के विचार को उचित मानने वाले आचार्य कहते हैं कि न केवल लोक-व्यवहार में यह भेद विद्यमान है अपितु धर्मशास्त्र स्वयं कुछ वस्तु एवं व्यवहार को शुद्ध तथा कुछ को अशुद्ध मानते हैं। अतः शुद्धि-अशुद्धि के विचार को उपर्युक्त तीन दोषों के उल्लेख द्वारा उपेक्षित करना उचित नहीं। इस शंका के निवारण में उत्तरपक्ष का कहना है कि शास्त्र तो दोनों ही तथ्यों के लिये प्रमाण है। एक ओर उनमें शुद्धि-अशुद्धि के विचार का समर्थन मिलता है तो दूसरी ओर सभी वस्तुओं की शिवात्मकता का। वेदादि शास्त्र शुद्धि-अशुद्धि का समर्थन करते हैं और आगम-साहित्य सर्वशिवात्मकता का। अतः शुद्धि-अशुद्धि का यह प्रश्न वेद एवं आगम के प्रामाण्य के प्रश्न से जुड़ा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुद्धि और अशुद्धि का विचार एवं भेददृष्टि तर्कसंगत नहीं है। शैवमतानुसार पारमार्थिक रूप में [illegible] का कोई औचित्य नहीं

है फिर भी इस बिन्दु के अनिवार्य विवेचन में यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु संविद् के निकट है अथवा तदात्म है वह शुद्ध है तथा जो उससे दूर अथवा उसके स्वभाव से पतित है वह अशुद्ध है। दूसरे शब्दों में, संविद् से भेद एवं अभेद के आधार पर अथवा उसके स्वभाव की तद्रूपता एवं अतद्रूपता के आधार पर ही शुद्धि और अशुद्धि का विभाजन मानना उचित है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि इस विभाजन का मूलाधार वस्तु स्वभाव न होकर प्रमातृधर्म है। अर्थात् स्वयं वस्तु अपने आप में शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं होती बल्कि प्रमाता अपने संस्कार, ज्ञान के स्तरादि के भेदानुसार वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध रूप में देखता है। ऋषियों ने भी इसी नियमानुसार शुद्धि-अशुद्धि का विभाजन करते हुए लोक-व्यवहार का निर्वाह किया था। वे शास्त्रों द्वारा निन्दित एवं लोक-विरुद्ध गोमांस का भक्षण संविद् से एकात्मता के आधार पर, उसे शुद्ध मानते हुए करते थे। उन्हीं ऋषियों ने साधारण लोगों के लिए मांस-भक्षण का निषेध केवल इसलिए किया है कि सामान्य जन उससे एकात्मता की अनुभूति किये बिना उसका उपभोग न करें।[78]

वैदिक मतानुयायी आगमों को अप्रामाणिक मानते हैं क्योंकि वे वेद-बाह्य हैं। दूसरी ओर आगम मतानुयायी वेदों को अप्रामाणिक मानते हैं, क्योंकि वे आगम-बाह्य हैं। वैदिक कथनों से निश्चित ही आगम-वचनों का अनेकत्र विरोध है। इस पर आगम मतानुयायी कहते हैं कि जहाँ तक विरोध का प्रश्न है केवल इसी आधार पर किसी शास्त्र को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं वेद में भी एक स्थान पर कही गई बात का दूसरे स्थान पर कही गई बात से विरोध मिलता है। जैसे कि सामान्य नियम के रूप में हिंसा का निषेध किया जाता है तथा अन्यत्र अपवाद रूप में हिंसा का समर्थन। वास्तव में किसी विधि का बाध दो प्रकार का होता है - कहीं समान कार्यकारिता के कारण और कहीं विरोध के कारण। प्रथम का उदाहरण है -**'चमसेनापः प्रणयेत्'** इसमें चमसी का सामान्य विधान किया गया है। इसका बाध **'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्'** के द्वारा होता है। दूसरे का उदाहरण है-**'अष्टाश्रिर्यूपो भवति।'** इसमें यूप के अष्टात्रि होने का सामान्य विधान है, किन्तु इसका बाध **'वाजपेयस्य चतुरत्रः'** की अपवाद विधि में प्राप्त होता है। इस प्रकार जब सामान्य विधि का विशिष्ट विषय में अपवाद होना स्वयं वैदिक मानते हैं तब आगमोक्त विधि के द्वारा वैदिक विधि का अपवाद क्यों नहीं माना जा सकता।

मीमांसा दर्शन में अर्थवाद विधि-वाक्यों के अङ्ग बनकर ही प्रमाण माने जाते हैं, उदाहरण के लिए **'बर्हिषि रजतं न देयम्'** इस विधि-वाक्य का अङ्गभूत अर्थवाद वाक्य है **'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।'** परन्तु शैवदर्शन में शैवागम का प्रत्येक वाक्य स्वतन्त्र रूप से प्रमाण है, वह किसी का अङ्ग नहीं है। इस मत में अर्थवाद की न केवल स्वतन्त्रता अपितु परतन्त्रता भी सत्य अर्थात् निरर्थक नहीं है। जैसे पद का अङ्ग होने पर भी परस्पर सन्निधि के कारण वर्णों की निरर्थकता नहीं मानी जाती। 'गज' पद में 'ग' एवं 'ज'

परस्पर सन्निधि के कारण सार्थक हैं। इन्हें यदि निरर्थक माना जाता है तो 'ग' एवं 'ज' इन दोनों की सन्निधि से बनने वाला 'गज' पद भी निरर्थक हो जायेगा, जबकि 'गज' पद सार्थक है। इसी तरह अवयवों के निरर्थक होने पर अवयवी को भी निरर्थक मानना पड़ेगा। अर्थवाद विधि का अङ्ग अथवा अवयव है। अतः अर्थवाद को भी सार्थक एवं सत्य ही माना जाना चाहिए। लोक-व्यवहार भी अर्थवाद के अनुसार ही चलता है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन की अर्थवाद-सम्बन्धी मान्यता तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं होती।[79]

वस्तुतः इस दर्शन का दृष्टिकोण यह है कि किसी भी शास्त्र को सर्वथा मिथ्या मानना उचित नहीं है, क्योंकि विज्ञानस्वरूप परमेश्वर न केवल उनका रचयिता है अपितु वह स्वयं शास्त्रों के रूप में विद्यमान है। शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा ही जिस प्रकार भाव पदार्थों के रूप में अवस्थित है उसी प्रकार वह शब्दात्मक शास्त्र के रूप में भी विद्यमान है।[80] तथापि शैवमतानुयायी मुमुक्षु को विविध शास्त्रों को देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिये। शास्त्रों की यह विविधता अधिकारि-भेद के कारण है।[81] परमेश्वर ने ही वेद आदि शास्त्रों का उपदेश संकोच एवं भेद के तारतम्य से किया है।[82] अतः जिस स्तर के अधिकारी के लिए जो शास्त्र उपदिष्ट हैं उसको उसी का आचरण करना चाहिये। परन्तु जहाँ तक शैवसाधक का प्रश्न है उसे केवल शैवागमों का ही अनुसरण करना चाहिये।[83]

मुक्ति

पूर्व पृष्ठों में शाक्तोपाय के अन्तर्गत गुरु, शास्त्र एवं स्व की उपायता का विवेचन किया गया। इसी विवेचन से प्रसङ्गतः यह भी कहा जा चुका है कि गुरु आदि उपायों के वैचित्र्य के कारण फल में भेद उत्पन्न नहीं होता। यही मान्यता न केवल शाक्तोपाय पर अपितु अनुपाय आदि सभी चतुर्विध उपायों पर भी घटित होती है अर्थात् अधिकारि-भेद से बताये गये विविध उपायों से जो फल प्राप्त होता है वह एक ही है जिसे मुक्ति, आत्मज्ञान अथवा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कहा जाता है।[84] मुक्ति को आत्मज्ञान अथवा स्वरूप की प्राप्ति कहने का यह आशय कदापि नहीं कि मोक्ष कार्य है और आत्मज्ञान उसका कारण। यहाँ उपाय एवं उपेय में यदि कार्य-कारणभाव माना जायेगा तो अनेक असङ्गतियाँ उत्पन्न होंगी।[85] मोक्ष कोई नूतन उपलब्धि नहीं है[86] अपितु ज्ञात का ही ज्ञान है। यह अनुत्तर तत्त्व से तन्मय हो जाना है। यही पूर्णता है। इसमें सभी प्रकार के संकोचाभिमान गल जाते हैं। इस महान् फल की प्राप्ति होने पर किसी भी प्रकार के अन्य फल की आकाङ्क्षा शेष नहीं रहती।[87] इस पूर्णता में पारतन्त्र्य का लेशमात्र भी नहीं होता। यह तुर्यातीत अवस्था है जिसे शिव के शक्तिपात से पवित्र कोई ही मुमुक्षु योगी अनुभूत करता है।[88] जिस योगी को आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो चुका है वह समस्त विश्व से स्वयं को अभिन्न समझता है तथा सभी वस्तुओं में शिवता को देखता है। उसका जगत् के प्रति वही दृष्टिकोण एवं अनुभव हो जाता है जो वस्तुतः शिव का जगत् के प्रति है अर्थात् मुक्त पुरुष इस जगत् को त्याज्य, मिथ्या

अथवा हेय न मानकर इसे शिवरूप अथवा अपने से अभिन्न समझता है। वह लौकिक देह को धारण करते हुए तथा उस देह के द्वारा लौकिक विषयों का उपभोग करते हुए भी तत्सम्बन्धी दोषों से उसी प्रकार अप्रभावित रहता है जैसे मन्त्रादि से सम्पन्न व्यक्ति विष से प्रभावित नहीं होता। अतः सर्वशिवात्मकता की अनुभूति ही परम एवं पूर्ण मुक्ति है। बद्ध एवं मुक्त पुरुष में भी व्यवहार-दृशा यही भेद है कि मुक्त पुरुष सांसारिक वस्तुओं को स्वात्मा से अभिन्न मानकर उनका उपभोग करता है तथा बद्ध पुरुष उनमें मंदबुद्धि रखते हुए एवं उन्हें अपने से भिन्न समझते हुए उनका उपभोग करता है।[89] यही इस दर्शन के अनुसार बन्ध और मोक्ष का स्वरूप है। इसीलिए इस दर्शन में जीवन्मुक्ति का दृढ़ता से समर्थन करते हुए उसे भोग-मोक्षरूपा माना गया है।[90]

मुक्ति के बारे में त्रिकदर्शन का उपर्युक्त मत शाङ्करमत से तुलनीय है। दोनों ही मतों में जीवात्मा के परमतत्त्व से ऐक्य को मुक्ति माना गया है। दोनों ही मत मुक्ति को नित्य, उपायों से परे, असंस्कार्य मानते हैं। परन्तु जहाँ शङ्कर जीवन-मुक्ति का अर्थ जीव में सांसारिकता अथवा द्वैत प्रपञ्च का अभाव मानते हैं क्योंकि उनके मत में जगत् हेय है। वहाँ त्रिकदर्शन जगत् को सत्य शिव का सत्य आभास मानता है। इसलिए उसकी मुक्ति में जगत् के प्रति आत्मीयता का अनुभव स्वीकार किया गया है। शाङ्करमत में जगत् के नानात्व को मिथ्या मानकर उनके प्रति भेदबुद्धि का परित्याग करने की बात कही गई है। किन्तु त्रिकदर्शन में नानात्व को शिव के स्वातन्त्र्य का विस्फार तथा शिवरूप मानकर उसके प्रति भेद-व्यवहार को समाप्त किया जाता है।[91]

त्रिकदर्शन के अद्वयवादी होने के कारण द्वैतवादी दर्शन-विचारों से इसका अत्यन्त भेद होना स्वाभाविक है। यह शिवाद्वयवाद द्वैतवादी दार्शनिकों द्वारा प्रदर्शित मुक्ति एवं उसके उपायों की समालोचना करता है तथा उन्हें हेय बताता है क्योंकि वे मुमुक्षु को परमाद्वय तत्त्व की ओर ले जाने तथा विषयों के प्रति उसके दृष्टिकोण को यथार्थ बताने के स्थान पर विपरीत मार्ग का उपदेश देते हैं।[92] इस विपरीत मार्ग में उनकी प्रवृत्ति का कारण रागतत्त्व है। इसी के कारण वे सुलभ शैवज्ञान की महत्ता को जानते हुए भी तदनुकूल आचरण करने से पराङ्मुख रहते हैं।[93] इसके साथ ही वैष्णवादि अन्य दर्शनों के द्वारा अपूर्ण मोक्ष का उपदेश देना तथा उसके अनुयायियों द्वारा तदनुसार आचरण करना शिव की इच्छा का परिणाम है। शिव स्वयं अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा उन्हें उसी रूप में मोक्षलिप्सा में भ्रमित करना चाहता है।[94] अतः वेद, सांख्य[95], पुराण आदि शास्त्रों को जानने वाले, पाञ्चरात्र में श्रद्धा रखने वाले, बौद्ध, आर्हत अथवा अन्य किन्हीं भी शास्त्रों के मत मायापाश से बद्ध माने गये हैं। ये शैवों की पूर्ण मोक्ष की दीक्षा को प्राप्त करने में असमर्थ हैं।[96] दूसरे शब्दों में वेद एवं अन्य दर्शनों का ज्ञान मायीय है और शैव ज्ञान माया से ऊर्ध्ववर्ती है। अतः शैवेतर दर्शनानुयायियों का मायाग्रस्त रहना स्वाभाविक है।[97] त्रिकदर्शन ने अपनी आलोचना में सांख्यादि मतों को हेय कहा है। परन्तु इस आलोचना में

यह असङ्गति प्रतीत होती है कि जब सभी वस्तुएँ शिवात्मक हैं तथा इस दर्शन का दृष्टिकोण भी हेयोपादेयता के विभाजन से सर्वथा परे रहने का है तब सांख्यादि मतों को हेय कैसे कहा जा सकता है। वस्तुतः असङ्गति की यह प्रतीति आभासमात्र है। इस दर्शन का वास्तविक दृष्टिकोण समन्वय का है। यह मत व्यावहारिक रूप से अन्य मतों की आलोचना करते हुए भी अन्त में उन्हें निश्चित स्तर पर रखता है। अतः अन्य दर्शनों द्वारा प्रदर्शित मोक्षावस्था का भी इस अद्वयज्ञान के क्रम में निश्चित स्थान है[98] जिसके अनुसार उनका मोक्ष प्रलयाकलता की स्थिति तक पहुँचना मात्र है।[99]

-: सन्दर्भ :-

1. तन्त्रा, 4.9.
2. तन्त्रा, 4.147; ईप्रविवि, 1.1 पृ. 4
3. तन्त्रा, 4.98.
4. तन्त्रा, 4.110.
5. तन्त्रा, 4.178-80.
6. तन्त्रा, 4.182-83
7. परस्याः हि संविदोऽनन्तविश्ववैचित्र्यलयोदयरूपतया परिस्फुरणं नाम परमार्थः। विवेक, 4.193.
8. तन्त्रा, 4.184-86
9. इदमेव हि संविदः संवित्त्वं यत् सर्वमामृशतीति, अन्यथा हि अस्यास्तत्तदर्थोपरागेऽपि स्फटिकादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्। विवेक, 4.184.
10. (क) विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमहमिति स्फुरणम्। पराप्रवेशिका, पृ. 2
    (ख) विमर्शो हि संर्वसहः परमपि आत्मीकरोति आत्मानं च परीकरोति उभयमेकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः। ईप्रवि, 1.8.11
    (ग) प्रकाशो हि विमर्शसारः विमर्शोऽपि प्रकाशसारः। भा, 1.1.3,
    (घ) प्रकाशश्च विमर्शं विनाऽसत्कल्प एव। भा, 1.1.1,
    (ङ) और भी द्रष्टव्य विभेवि, 137.
11. जडा इति स्फुरत्ताशून्यत्वादप्रयोजकाः। विवेक, 4.193.
12. तन्त्रा, 4.192-93.
13. तन्त्रा, 4.196-99 आचार्य शङ्कर ने इसी बात को, तत्त्वतः निर्गुणब्रह्म की शालिग्राम आदि के रूप में उपासना के सम्बन्ध में कहा है।
14. अन्तर्ग्राह्ये द्वये वापि, सामान्येतरसुन्दरः।
    संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा, संकोचप्रविकासवान्।। तन्त्रा, 5.79.

15. (क) असंकोचविकासोऽपि तदाभासनस्तया। तन्त्रा, 5.80.

(ख) एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा। शिदृ, 4.5.

(ग) चिद्रूपो हि भगवान् शक्तत्वेन परामृष्टं स्वमेव जगद्भावेन प्रादुर्भावयति जलमिव स्वं तरंगभावेन। भा, खण्ड - 1, पृ. 14.

(घ) न पुनः शिवव्यतिरिक्तं किंचित् पदार्थजातमस्ति। एष एव च भगवान् शिवः स्वातन्त्र्यात् भोक्तृभोग्यलक्षणं प्रमातृप्रमेययुगलकं क्रीडनकमिव समुत्थापयति। यदपेक्षया अयं भेदप्रधानो व्यवहारः। पसावि, 5. और भी द्रष्टव्य वही, 13.

16. अतोऽत्रान्तर्गतं सर्वं सम्प्रदायोज्झितैर्बुधैः। अदृष्टं प्रकटीकुर्मो गुरुनाथाज्ञया वयम्।। तन्त्रा, 1.19

17. अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती त्रिक दार्शनिकों ने मुक्ति के तीन (शाम्भव, शाक्त एवं आणव) उपायों को ही प्रदर्शित किया है जबकि अभिनवगुप्त ने 'अनुपाय' नामक चौथे उपाय को प्रस्तुत करते हुए उसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उपायों के ऐतिहासिक विकास हेतु द्रष्टव्य- Jash, History of Shavism, पृ.129-30

18. (अ) तत्त्वनिरूपणमुपदेश्यजनापेक्षया .....। पसावि, 14.

(ब) जयरथ भी इस बात का समर्थन करते हैं कि इस दर्शन में अत्यन्त ज्ञानी एवं मूर्ख दोनों का अधिकार नहीं है। ज्ञानी के लिये शास्त्र तृणवत् हैं (तत्त्वज्ञस्य तृणं शास्त्रम्) और मूर्ख के लिये व्यर्थ। फलस्वरूप मध्यम जन ही शास्त्र का लक्ष्य है:-

संसाराम्बुनिधिं यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः।

नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्खः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान्।। विवेक, 2.3.

19. दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते। मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शंकरः।। शिवस्तोत्रावली, 20.12

20. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थम् ...। ईप्रवि, 4.1.18.

21. अनुपायः इति नोपायनिषेधमात्रम्। विवेक, 1.142.

22. नात्र उपायगन्धोऽस्ति। विवेक, 1.242.

23. (क) उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।

स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः।।

इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत् केचन निश्चिताः।

विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः।। विवेक, 2.2.

(ख) उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।

विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात्।। तन्त्रसार, 2.6.

24. सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम्।। कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्।

इत्याथो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने।। विवेक 2.2 में उद्धृत.

25. मन्त्रमुद्राक्रियोपासास्तदन्या नात्र काश्चन। तन्त्रा, 3.270.

26. साक्षादुपायेनेति शांभवेन। विवेक, 1.142.

27. स (शाम्भव) एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते। विवेक, 1.142.

28. (क) निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्। विभै, 108.

(ख) अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः। विभैवि, 24

(ग) अकिञ्चच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः।

जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः।

29. मत्त एवोदितमिदं मय्यैव प्रतिबिम्बितम्। मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शांभवः।। तन्त्रा, 3.280.

30. परामर्शमात्राद्विश्वस्य संविन्मात्ररूपत्वमित्येवं परामर्श एव चास्य शांभवोपायस्य स्वरूपम्। विवेक, 3.280.

31. सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमर्शरूपः शाक्तः। विभैवि, 24.

32. मल त्रिविध हैं - आणव, मायीय एवं कार्म। इनके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य- तन्त्रा, 13.103, 110; तन्त्रावि, 1.4, 9.65-88, शिदृवि, 1.42-43, ईप्रवि 3.2.4,5,10, पसावि, 24.

33. .....एक एव ज्ञानात्मा मोक्षावाप्तावुपाय इति न उपायनानात्वम्, अत एव तत्फलभूते मोक्षेऽपि न कश्चिद्भेदः ..... काल्पनिकेऽपि हेतुफलयोर्भेदे ज्ञानात्मा एक एव उपायोऽभ्युगतः इति उपायनानात्वस्यैव अभावात् को नाम फलभूतेऽपि मोक्षे भेदः स्यात्। विवेक, 1.165.

34. वस्तुतो हि परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः। स च सर्वत एवावभासते तस्य क्वचिदपि अनपायात्। अत एव नात्र किञ्चित्प्रयोजनम्। अज्ञातज्ञापकत्वात् तेषाम्। विवेक, 1.145.

और भी द्रष्टव्य-विवेक, 1.166, शिदृवृ, 3.26-29.

35. उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते। विवेक, 4.41 में उद्धृत वाक्यपदीय.

36. द्रष्टव्य-तन्त्रा, 4.113-14.

37. विकल्पस्य द्वयी गतिः, स हि कस्यचिदुपायान्तरनिरपेक्षतया स्वस्वातन्त्र्यादेव संस्कृतः स्यात्, कस्यचित्तु अन्यथा। विवेक, 5.3.

38. चिदेकरूपत्वेऽपि विकल्पोऽन्यापोहरूपत्वात् भेदमयः, इति तदपसारणाय स्वात्मनि संस्कारमपेक्षते।विवेक, 5.5.

39. संस्कारश्चास्य अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वापत्तिपर्यन्तं पारमार्थिकस्वात्मप्रत्यय-रूपनिर्विकल्पकज्ञानात्मत्वासादनम्। विवेक, 5.5.

40. द्विविधो हि तर्कः-कश्चिद्धि वस्तुनिर्णयशून्यश्छलादिप्रधानः परपराजयमात्र पर्यवसानो जल्पप्रायः, कश्चित् हेयोपादेयविवेककारितया वस्तुनिर्णयफलः छलादिशून्यो वादप्रायः। विवेक, 4.17.

41. अस्माकः सत्तर्को दर्शनान्तरीयस्त्वसतर्कः। विवेक, 4.17.

42. द्रष्टव्य - विवेक, 4.14.

43. दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तन्ति कोविदाः।
धारारूढेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चयः।। तन्त्रा, 4.13.

44. तामेनां भावनामाहुः सर्वकामदुघां बुधाः। स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथपदादपि।।तन्त्रा, 4.14

45. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.15, 86.

46. ननु स्वार्थतत्परो लोकः स्वयमेव अनपेक्षितशास्त्रो हेयमपहातुमुपादेयं च उपादातुं प्रवर्तते, नहि बुभुक्षितस्याशने मलिनस्य वा स्नाने शास्त्रमुपयुज्यते। विवेक, 4.18.

47. तन्त्रा, 4.18-19.

48. सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः। तन्त्रा, 4.34.

49. तन्त्रा, 4.87-88.

50. वही 4.17-18.

51. वही 4.19-20.

52. वही 4.28.

53. यद्यपि सामान्येन सर्वविषयाभिलाषमात्रमत्वं नाम रागतत्त्वस्य स्वरूपं, तथापि नियतविषयोपारोहमन्तरेण तत् नाभिव्यक्तिमियात्। विवेक, 4.28.

54. विरागः वैराग्यं रागाभावः। आद्याप्रसादमिश्र, सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, पृ. 227

55. न च तद्बुद्धिगतभवैराग्यमेव, तद्धि स्थूलं वृद्धस्य प्रमदायां न भवेदपि, रागस्तु भवत्येव। बुद्धिधर्माष्टकेऽपि च दृष्टोऽभिष्वङ्गः। अत्रैव कस्मादभिष्वङ्गः इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यते इति। ईप्रवि, 3.1.9.

56. ..... प्रथमं गुरोरेव तावदाराधनं कार्यं, ... स च नैकः-आराधनीयानामानैक्यात्, कश्चिद्धि शुश्रूषया, कश्चिच्च प्रतिविद्यादिना आराध्यते.....यस्य हि यथाराधनं सिद्ध्यति तस्य तथा कार्यमिति.....। विवेक, 4.70.

57. अकल्पितत्वेऽपि कस्यचिद्यथा स्वात्मज्ञानपारिपूर्ण्याय भावनादिना कल्पितत्वमपि संभवेदिति अकल्पितकल्पकः.....तथाकल्पितस्यापि गुर्वाद्यनपेक्षमेव स्वस्वप्रतिभावबलात् क्वचिच्छास्त्रेऽधिगमो जायते इत्यकल्पितत्वं भवेत्। विवेक, 4.72

58. तस्य योऽकल्पितो भागः स तु श्रेष्ठतमः स्मृतः। तन्त्रा, 4.73.

59. परतत्त्वात्मकं पूर्णं ज्ञानं तदेव नाम यत्र क्वापि दृश्यते स एव अकल्पितकल्पको गुरुर्ज्ञेयो, न पुनर्भावनादिहेतुजालमात्रनिष्ठः ..... तेनैह फलभूतं पूर्णज्ञानवत्त्वमेवास्य मुख्यं लक्षणम्। विवेक, 4.59

60. विस्तृत विवेचन तन्त्रालोक, 13.132-47 में द्रष्टव्य है।

61. तन्त्रा, 4.76-77.

62. विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य - तन्त्रा, 1.41-51.

63. न ह्यस्य गुरुणा शक्यं स्वं ज्ञानं शब्द एव वा। धियि रोपयितुं तेन स्वप्रबोधक्रमो ध्रुवम्।। तन्त्रा, 4.101

64. तन्त्रा, 4.47-48.

65. तन्त्रा, 4.44-45.

66. संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः। मावि, 2.25.

67. परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा। उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित्।। न यन्त्रणा कार्येति प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने।। तन्त्रा, 4.273-74. और भी द्रष्टव्य - 4.91, 108-9.

68. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.82-83.

69. शक्तिपातात् सदुरुविषया यियासा भवति। असदुरुविषयायां तु तिरोभाव एव। असदुरुतस्तु सदुरुगमनं शक्तिपातादेव। तंत्रसार, पृ. 122.

70. विस्तारार्थ द्रष्टव्य - तन्त्रा, 13.166; ईप्रवि, 1.1.1; पसावि, 9.96; प्रहसूवृ, 8.

71. शक्तिपात के विभिन्न लक्षण एवं दूसरे दर्शनों से भेद के लिये द्रष्टव्य-तन्त्रा, 13.118, 129-33, 254-56.

72. तदेव, 4.95.

73. तदेव, 4.97.

74. तदेव, 4.98.

75. प्रमाता हि व्यवस्यति इदं शुद्धमिदमशुद्धमिति, वस्तुधर्मत्वे हि अनयोरशुद्धं न कदाचिदपि शुद्ध्येत् शुद्धमपि वा नाशुद्धं स्यात्, न हि नीलमनीलमपि कदाचिद् भवेत् स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। विवेक, 4.221.

76. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.213-25.

77. द्रष्टव्य - तदेव, 4.228.

78. द्रष्टव्य - तदेव, 4.243-44.

79. द्रष्टव्य - तदेव, 4.236-37.

80. द्रष्टव्य - तदेव, 4.235.

81. भगवता हि पृथगधिकारिभेदेन परस्परविलक्षणानि शास्त्राण्युपदिष्टानि। विवेक, 4.251.

82. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.252-53.

83. पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं समाश्रयेत्। विवेक, 4.253 में उद्धृत.

84. संविदेव सर्वम् इति को नाम हेतुफलभेदः। विवेक, 1.165.

85. इह आत्मज्ञानमेव मोक्षः इति ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव एव वस्तुतो नास्ति - इति नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात् इत्यनिष्टापाद- नात्मायं प्रसङ्गो नाशंकनीयः। विवेक, 1.161.

86. अभिमानमात्रसारौ परिमितप्रमात्रपेक्षया बन्धमोक्षौ, न पुनः परमार्थे संवित्त्वे एवं किंचित् सम्भवति। तस्मात् मुक्तौ नूतनं न किंचित् साध्यते, निजमेव स्वरूपं प्रथते। पसावि, 60

87. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.209-210

88. केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।। भैरवीयपरमाद्वयार्चनेकोऽपि रज्यति महेशवोदितः।। तन्त्रा, 4.276.

89. (क अयमेव हि समानेऽपि व्यवहारे बद्धमुक्तयोर्विशेषो यन्मुक्तस्य स्वाङ्गरूपतया भावा अवभासन्ते, बद्धस्य तु स्वरूपतः परस्परतश्चात्यन्तं भेदेन। विवेक, 4.212.

(ख) मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते। महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत्।। ईप्रका, 4.1.13.

(ग और भी द्रष्टव्य - पसावि, 58; ईप्रवि, 4.1.13; विवेक, 4.228.

(घ) गीता भी इसी का समर्थन करती है:

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। 6.30.

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि। 6.29.

90. भोगमोक्षसाक्षात्कारलक्षणो जीवन्मोक्षः। ममंप, 52.

91. भेदा अपि तदात्मकाः। शिदृवृ, 1.49.

92. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.17.

93. द्रष्टव्य - तदेव, 4.20-21.

94. देखिये - तदेव, 4.21-22, 33-38.

95. चार्वाक तथा सांख्य मत के खण्डन के लिये द्रष्टव्य - तन्त्रा, 6.15-21.

96. (क) तेनेह वैष्णवादीनां नाधिकारः कथंचनः। ते हि भेदकवृत्तित्वादभेदे दूरवर्जिताः।। तन्त्रा, 13.280-81.

(ख) वैष्णवा सौगताः श्रौतास्तथा श्रुत्यन्तवादिनः। इत्यादयो नाधिकृता जातुचित्पतिशासने।। विवेक, 13.315-16 में उद्धृत.

(ग) और भी द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.26-27, शिदृ, अध्याय 6

97. वेदादिशास्त्रनिष्ठा मायान्तःपातात् तदुत्तीर्णं शैवं ज्ञानं न लभन्ते। विवेक, 4.27.

98. (क) नैरात्म्यदृष्टैश्चात्मदृष्टिर्विशिष्यते, इति सांख्यानां बौद्धेभ्यः पूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम् इत्येषां बुद्धितत्त्वोर्ध्ववर्तिपुंस्तत्त्वप्राप्तिः..... पातञ्जलानां पुंस्तत्त्वोर्ध्ववर्तिनियतितत्त्वप्राप्तिः। विवेक, 1.33 पृ. 69

(ख) और भी द्रष्टव्य - भा, 1.1.1 पृ. 10.

99. विस्तारार्थ द्रष्टव्य - तन्त्रा, 4.29-32 कारिकाओं का सटिप्पण अनुवाद।

■

तृतीय परिच्छेद

आणवोपाय

स्वरूप एवं भेद

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के पञ्चम तथा षष्ठ आह्निकों में इस उपाय का विस्तृत विवेचन किया है। विकल्प-संस्कार के सन्दर्भ में यह बताया जा चुका है कि वह दो प्रकार का होता है: उपायान्तरनिरपेक्ष तथा उपायान्तरसापेक्ष। शाक्तोपाय के विकल्पों के संस्कार के लिए उपायों की अपेक्षा नहीं होती। अतः वह उपायान्तरनिरपेक्ष है। किन्तु विकल्प अपने संस्कार के लिए जब विभिन्न उपायों का आश्रय लेता है अर्थात् उपायान्तरसापेक्ष होता है तो बुद्धि, प्राण, देह तथा घटादिक प्रमेयरूप परिमित उपायों को स्वीकार करने के कारण, अणुता (सूक्ष्मता) को प्राप्त होकर वह आणव ज्ञान को प्रकाशित करता है। इस आणवविज्ञान के प्रकाशक उपाय को ही आणवोपाय कहा जाता है।[1]

तन्त्रालोक में आणव शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की गई है। अणु का एक अर्थ है संकुचित प्रमाता। जो उपाय अणु (संकुचित प्रमाता) में स्वातन्त्र्य का संयोजन करे वह आणवोपाय है। विकल्प क्षेत्रज्ञ अथवा संकुचित प्रमाता का व्यापार है। जो इस विकल्प के द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है वह इस आणवोपाय का साधक है। उदाहरण के लिए घट-ज्ञान के साथ-साथ घटभिन्न वस्तुओं का भी अनुभव कर लेना प्रमाता की स्वतन्त्रता का ही बोधक है।[2] बुद्धि द्वारा निश्चयात्मक विकल्प तक पहुँचने के अनेक उपाय हैं जो परस्पर भिन्न हैं क्योंकि उनमें से कुछ संवित् से सन्निकृष्ट हैं और कुछ विप्रकृष्ट।[3]

अणु शब्द इन परस्पर भिन्न उपायों का भी वाचक है। अतः आणवोपाय का अर्थ है परस्पर भिन्न उपाय।[4] अस्तु, संकुचित प्रमाता के स्वातन्त्र्ययोजक जो ध्यानादि विभिन्न उपाय हैं जिनके द्वारा विकल्प अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है वह आणवोपाय कहलाता है।

शाक्तोपाय में ज्ञान का प्राधान्य रहता है, जबकि आणवोपाय में क्रिया का। क्रिया ज्ञान की अपेक्षा स्थूल है, इसलिए जिन साधकों के विकल्प ज्ञान के द्वारा संस्कृत नहीं होते वे अशुद्ध

विकल्पों को संस्कृत करने के लिए आणवोपाय का आश्रय लेते हैं। शाक्तोपाय ज्ञानयोग है तो आणवोपाय क्रियायोग। इसी को क्रियोपाय, भेदोपाय आदि भी कहा जाता है। शाम्भवोपाय में चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता तथा वह अभेद-प्रधान है। शाक्तोपाय में चित्त क्रियाशील रहता है तथा चित्त का आलम्बन स्वात्मा होता है तथा यह भेदाभेद-प्रधान होता है। इन दोनों के विपरीत, आणवोपाय में चित्त के विभिन्न आलम्बन होते हैं तथा इसकी साधना भेदप्रधान भूमिका में होती है। यद्यपि शाम्भव तथा शाक्त उपायों की दृष्टि से यह उपाय बाह्य आलम्बन का ग्रहण करने से तथा भेदरूप विकल्प की साधना के कारण स्थूल है, किन्तु परतत्त्व के साक्षात्कार के लिये यह भी समर्थ उपाय है।

प्रश्न यह उठता है कि भेद-प्रधान आणवोपाय से अथवा भेदरूप विभिन्न उपायों की साधना से अभेद का साक्षात्कार किस प्रकार सम्भव है? इस भूमि का साधक कौन है? इसका उत्तर है कि समग्र विकल्प किंवा भेद चिदात्मा हैं। परमार्थतः भेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। चैतन्य एक रहकर अनेक आकारों को धारण करता है। भेदों में चैतन्य की विश्वात्मा का साक्षात्कार ही आणवोपाय की साधना का रहस्य है। जिस प्रकार हम दर्पण में प्रतिबिंबित मुख को उससे भिन्न समझ लेते हैं (5.11-12) उसी प्रकार विभिन्न भेदों का अनुसन्धान करते हुए हम यह निश्चय कर सकते हैं कि प्राण, बुद्धि, देहादि संवित् से व्यवहार में भिन्न हैं और परमार्थतः अभिन्न।[5] भेदों के द्वारा अभेद के साक्षात्कार की साधना करने वाले तीन प्रकार के प्रमाता होते हैं: बुद्धिप्रमाता, प्राणप्रमाता तथा देहप्रमाता। शिव की व्यापक परा शक्ति ही विकल्पों से संकुचित होकर बुद्धिप्रमाता आदि बन जाती है।[6] बुद्धि-प्राण-देह-प्रमाताओं में ही ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व के सम्बन्ध में विकल्प उठते हैं, न कि शून्य प्रमाता में (5.16-17)। अतः ये प्रमाता ही ध्यानयोगादि के साधक हैं। भेदभूमिका में अवस्थित ये प्रमाता अन्तःस्थित विश्व को बाह्यात्मना ही देख पाते हैं (5.14-16)। ये त्रिविध प्रमाता जिन उपायों का अवलम्बन लेते हैं वे क्रमशः ध्यान, उच्चारण, करण, वर्ण (ध्वनि) एवं स्थानकल्पना हैं।[7] ध्यान का सम्बन्ध बुद्धि से है, उच्चारण का प्राण से तथा करण आदि का देह से।

इन पाँच उपायों में से अन्तिम का विवेचन तन्त्रालोक के छठे अध्याय में है तथा शेष सभी का पञ्चम आह्निक में। ये सभी उपाय अनुत्तरपद की प्राप्ति कराते हैं।[8] शाम्भव, शाक्त, ध्यान, उच्चारण, करण, वर्ण तथा स्थानकल्पना इनमें पूर्व-पूर्व उपाय बलवतर हैं। सामान्य व्यक्ति इन उपायों की साधना क्रमशः करता है अर्थात् स्थानकल्पना से प्रारम्भ कर वह शाम्भवोपाय तक आरोहक्रम से पहुँचता है। किन्तु श्रेष्ठ योगी के लिए इस क्रम का पालन करना आवश्यक नहीं है।[9] आगमों में इन उपायों को वीर्य कहा गया है। जिस प्रकार वीर्य के बिना व्यक्ति नपुंसक होता है उसी प्रकार इन उपायों के बिना साधक निस्तेज अथवा निर्वीर्य होता है। नपुंसक व्यक्ति में भी थोड़ा बहुत बल होता है पर मृत शरीर में तो उसका सर्वथा अभाव होता है। उसी प्रकार इन उपायों

ी साधना न करने वाला व्यक्ति शव की भाँति जड़ बना रहता है।[10] अब क्रमशः आणवोपाय
क अन्तर्गत आने वाले ध्यानादि विभिन्न यागों की चर्चा अपेक्षित है।

ध्यान

ध्यान आणवोपायों में प्रथम है। ध्यान की साधना का सबसे प्रथम उपदेश श्रीसुमतिप्रभु ने श्री शम्भुनाथ को दिया था और उनसे अभिनवगुप्त को सीखने को मिलता था।[11] ध्यान के जिस स्वरूप का प्रतिपादन तन्त्रालोक के पञ्चम आह्निक में किया गया है वह त्रिशिरोमत[12] तथा मांगलशास्त्र[13] के अनुसार है। दूसरे शास्त्रों में ध्यान की दूसरी पद्धतियाँ भी बताई गयीं थीं। अभिनवगुप्त के अनुसार, अन्य शास्त्रों में वर्णित ध्यानों को करने में कोई हानि नहीं है। केवल इस बात को दृष्टि में अवश्य रखना चाहिये कि उनसे अनुत्तरपद की प्राप्ति हो।[14]

बुद्धि में अनुसंधान की प्रधानता होती है। अतः उसे ध्यानमयी कहा गया है। बुद्धि के इस स्वरूप को आलम्बन बना कर जो धारणा की जाती है वही ध्यान है। परमेश्वर का ज्ञातृत्व और कर्तृत्वस्वरूप बुद्ध्यादि उपाधियों में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। बुद्धिरूप उपाधि के माध्यम से परमेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का निश्चय करना ध्यान है। चित्स्वभाव परमतत्त्व का स्वतन्त्र प्रकाश, विभिन्न रूप धारण कर, हृदय में स्फुटतया स्थित रहता है अर्थात् हृद्देश में सर्वतत्त्वमय परमात्मा साररूप में उसी प्रकार अवस्थित है जैसे कि कदली के विभिन्न दलों में उसका पुष्प। हृदय में स्थित सारभूत परमेश्वररूप का साक्षात्कार ही ध्यान है।[15] साधक को चाहिये कि वह सोम, सूर्य, अग्नि (-प्राण, अपान एवं उदान अथवा प्रमेय, प्रमाण एवं प्रमाता) के सामरस्य का हृदय में ध्यान करे क्योंकि यह ध्यान भैरवाग्नि को प्रज्वलित करने में अरणि का कार्य करता है अर्थात् सोम, सूर्याग्नि की एकात्मता के अनुभव से (5.23) प्रमेय एवं प्रमाण पूर्ण प्रमातृभाव में विलीन हो जाते हैं। शाक्तदृष्टि से शक्ति सृष्टि, स्थिति, संहार तथा अनाख्य इन चार अवस्थाओं में परा, अपरा, परापरा तथा नित्योदिता के रूप में स्थित रहती है जो प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय से सम्बन्धित होकर द्वादश देवी या द्वादश काली कहलाती है।[16] द्वादश देवियों का यह अनुत्तर चक्र हृदय से चलकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों तक निरन्तर चलता रहता है। अभिप्राय यह है कि प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण में निरन्तर सृष्टि, स्थिति एवं संहार होते रहते हैं। इनकी अभिव्यक्ति इन्द्रियों तथा विषयों के प्रतिक्षण सन्निकर्ष से होती है। इन्द्रियों द्वारा विषयों के साक्षात्कार में तादात्म्य तथा सर्वात्मकता का अनुभव करना ध्यान है। इसी को दूसरे शब्दों में द्वादशात्मक अनुत्तर चक्र की साधना कहा गया है। इस चक्र के ध्यान की तीन अवस्थाएँ हैं: प्रथम अवस्था प्रशाम्यत् चक्र की है जिसमें विषयों की चेतना समाप्त हो जाती है, किन्तु उसके संस्कार शेष रहते हैं। द्वितीय अवस्था वह है जिसमें संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। यही शान्तचक्र है। तीसरी अवस्था में शुद्ध संवित् का ही ध्यान होता है। उसमें विषय और संस्कार दोनों ही नहीं रहते। यह शमावस्था है। प्रथम दो अवस्थाएँ सवेद्य समाधि के समान हैं और अन्तिम अवस्था अपवेद्य समाधि के समकक्ष है।[17]

इस प्रकार के ध्यानयोग से विश्व का इन्द्रियचक्र में तथा इन्द्रियों का संविद् में विलय एवं उसके अनन्तर पुनः सृष्टि होती रहती है यह धारणा स्थिर हो जाती है तथा विश्व का यह प्रलयोदक आत्मसंविद् से अभिन्न है, इस चिन्तन के द्वारा भैरवस्वरूप की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में भैरवाग्नि ध्यान की वायु से प्रदीप्त होकर जल उठती है[18] तथा सृष्ट्यादिचक्र के ईश्वर का वृत्ति तथा विषय के माध्यम से साक्षात्कार हो जाता है।[19]

द्वादशदेव्यात्मक चक्र (प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयगत सृष्टि, स्थिति, संहार तथा अनाख्य दशा) के ध्यान के अतिरिक्त, इसी प्रसङ्ग में त्रिशूल से प्रारम्भ कर चतुष्पञ्चारक, पञ्चाशरद, चतुष्षष्टिशतार, सहस्रार, असंख्यारसहस्र चक्रों के क्रमशः चिन्तन का उपदेश भी निबद्ध किया गया है।[20] महेश्वर अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है। प्रत्येक शक्ति एक अर का प्रतीक है। उपर्युक्त विभिन्न चक्र अनन्त-शक्तिसम्पन्न होने के कारण असंख्यार शिव की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए त्रिशूल प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाणरूप शक्तित्रितय का वाचक है।[21] इस प्रकार इन चक्रों के ध्यान का अर्थ है शक्तिमान् की विभिन्न शक्तियों का साक्षात्कार।[22]

उच्चार

जिस प्रकार ध्यान का आलम्बन बुद्धि है उसी प्रकार उच्चार का आलम्बन प्राण है। ध्यान का साधक बुद्धिप्रमाता है और उच्चार का साधक प्राण-प्रमाता। प्राण की प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान वृत्तियों को उपाय बनाकर जब अनुत्तर की साधना की जाती है तो वही प्राणोच्चार या केवल उच्चार कहलाता है। इस साधना में स्थित योगी जिन छह आनन्दों का क्रमशः अनुभव करता है वे निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द तथा चिदानन्द कहलाते हैं। जब साधक की सामान्य स्पन्दात्मा प्राणवृत्ति हृदय में केवल प्रमातृतत्त्व का साक्षात्कार करती है तो जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसे निजानन्द कहा जाता है। इस अनुभूति में प्रमाता स्वयं (निज) आलम्बन बनता है। अतः इसे निजानन्द कहना उचित है। जब स्वयं प्रमाता भी अनुभूति का विषय नहीं बनता तथा विषय और विषयी की शून्यता का अनुभव होता है तो उसे निरानन्द कहते हैं। प्राणोदय को प्रमेय बनाकर अपान द्वारा प्रमेय के अनन्त अंशों के पूरण करने पर परानन्द की अनुभूति होती है। विभिन्न प्रमेयों के सामरस्य के अनुभव में समान की भूमिका में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। प्रमाण तथा प्रमेय को उपसंहृत कर जब योगी उदान की भूमिका में अवस्थित होता है तब उसे महानन्द की अनुभूति होती है। इस स्थिति में प्रमाण और प्रमेय प्रमातृरूप उदान में विश्रान्त हो जाते हैं। व्यान की भूमिका उपाधिशून्य है और वह कलातत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक व्याप्त है। अतः व्यानभूमिका में अवस्थित योगी चिदानन्द का अनुभव करता है जिसमें चेतन से भिन्न अचेतन की स्थिति होती ही नहीं। चिदानन्द से भी ऊपर एक और परात्पर अवस्था है जिसे त्रिकदर्शन में जगदानन्द कहा गया है।[23] यह पूर्ण, निस्सीम परम अमृत का अनुभव है, जिसमें इच्छा, ज्ञान आदि का भी किसी प्रकार का सीधा

सम्बन्ध नहीं है। यह शुद्ध चिद्रूप परम तत्त्व का अनुभव है जो आनन्द की परम कोटि है किंवा अनुत्तर दशा का साक्षात्कार है। इस प्रकार हृदय से प्रारम्भ कर विभिन्न प्राणवृत्तियों के माध्यम से छह प्रकार के आनन्दानुभवों से गुजरते हुए जगदानन्द की प्राप्ति उच्चारविधि का एक मार्ग है। इसको दूसरे शब्दों में हृदयोच्चार भी कहा जाता है क्योंकि इसमें प्राणादि का योग हृदय में भावित होता है।

उच्चार का दूसरा मार्ग मन्त्रव्याप्ति का है। त्रिशिरोभैरवागम में परतत्त्व को मन्त्रभूमि माना गया है। उसमें समावेश की साधना का प्रकार मन्त्रव्याप्ति है। प्राण तथा अपान का समीकरण कर ब्रह्मारन्ध्र के अधोवर्ती 'चिन्तामणि' नामक आधार तथा भूमध्यवर्ती 'विद्याकमल' नामक आधार का सहारा लेकर योगी पहले सकार में विश्राम करे। फिर ब्रह्मरन्ध्र की ऊर्ध्ववर्तिनी त्रिशूल नामक भूमि पर चढ़े। इसके अनन्तर ही वह विसर्ग नामक इच्छा-ज्ञान-क्रिया की साम्य भूमि में किंवा भैरव में समाविष्ट होता है (5.54-56)। वस्तुतः भैरवात्मक विसर्ग-भूमि मत्स्योदर के समान ऊर्ध्वकुण्डलिनी भूमि में प्रतिष्ठित है जहाँ पहुँचने के लिये भूबिन्दु (भूपृष्ट) से प्रारम्भ कर बिन्दु-नाद-नादान्तशक्ति-व्यापिनी समना की लम्बी सीढ़ी चढ़ना पड़ती है (5.56-58)। ऊर्ध्वकुण्डलिनी भूमि में विश्रान्त योगी निरन्तर सृष्टि संहारशील अथवा संकोचविकासशील भैरवभैरवीयुग्म का साक्षात्कार करता है। इस अवस्था में समग्र विश्व अहं परामर्श से एकाकार हो जाता है (5.60)। प्रकाश की आत्मविश्रान्ति के कारण, ऊर्ध्वकुण्डलिनी भूमि में प्रवेश से प्रमेय का अहन्ता से पृथक् अस्तित्व भासित हीं नहीं होता। इसी भूमि से पुनः अहन्ता से विभिन्न भावों की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का क्रम प्रारम्भ होता है। सभी पदार्थ इन्द्रियवृत्ति के सम्पर्क में आकर ज्ञेय बनते हैं अपना-अपना कार्य कर आत्मा में पुनः विश्रान्त होते हैं - इस प्रकार भावों की अहन्ता के साथ एकात्मता के निरन्तर अभ्यास से संवित् की पूर्णता का अनुभव होता है। इसी को दूसरे शब्दों में संवित् देवी का तर्पण कहा गया है।[24] बोधाग्नि (प्रमाता) में दिव्य प्रमेय का यह संहार ही हवन है।

विसर्ग अनुत्तर की कौलिकी शक्ति है। इस विसर्ग के क्षोभ (शाक्तस्पन्दन) से ही पृथिव्यादि तथा पुरुषान्त तत्त्व क्रमशः क वर्ग से प्रारम्भ कर म वर्ग तक की मातृका में प्रकाशित होते हैं।[25] इस प्रकार यह समग्र विश्व विसर्ग का ही स्फार माना गया है। इस विसर्ग का परम प्रमाता (शुद्ध अहन्ता) के रूप में परामर्श करने से भी एकात्म्य का अनुभव होता है (5.68)।

इस विसर्गभूमि को प्राप्त करने का एक सहज किन्तु रहस्यात्मक उपाय भी है। सिद्धयोगिनी की वरांगरूप नाडीयुगल के स्पन्दन के प्रति सावधान योगी वीर्य के क्षरण द्वारा पारमेश्वर रूप की अमृतमयी भूमि का साक्षात्कार कर सकता है (5.70)।[26] जयरथ इसका अभिप्राय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ग्राम्य धर्म (मैथुन) का सेवन सभी बिना कहे करते हैं, उसी क्रिया में व्यक्ति यदि थोड़ा ध्यान दे तो सहज ही विसर्ग भूमि प्राप्त कर सकता है।[27] सिद्धयोगिनी में

वीर्यक्षरण के द्वारा विसर्ग भूमि की प्राप्ति का यह सहज उपाय शाक्त क्षोभ कहलाता है।[28] इसके अतिरिक्त कुल (अर्थात् शक्ति) के स्मरणमात्र से भी विसर्गभूमि की प्राप्ति होती है।[29] इसे 'कुलावेश' कहा गया है (5.71)। शक्ति-क्षोभ तथा कुलावेश की तरह, 'व्याप्ति' (सर्वात्मता का अनुभव अथवा विकाससमाधि) तथा सर्वात्मसंकोच (सर्वात्मना बाह्य वस्तु के निषेध) द्वारा भी योगी हृदय में प्रवेश कर सकता है अर्थात् विसर्गभूमि को पा सकता है। इन सभी उपायों में शाक्त क्षोभ को प्रधान माना गया है, क्योंकि अग्नि सोमात्मक मध्यम धाम में विसर्गानन्द का उन्मेष अथवा परम सामरस्य का उदय मुख्यतः सोम और सूर्य (मेय तथा मान) के परस्पर मिलन से उत्पन्न संघर्ष से ही होता है। इस सामरस्य में स्थित (योगिनीहृदय में विश्रान्त) योगी हेय तथा उपादेय को छोड़कर विश्व को चिति-चमत्कृति से एकात्म देखता है (5.74)। वह विमर्शप्रधान संवित् का आश्रय लेकर शून्यात्मक ज्ञेय को संवित् की अग्नि में जला डालता है (5.76-77)। इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मोन्मुखता के द्वारा वह पूर्णता का अनुभव करता है। प्राण तथा अपान के निरोध से ही योगी परम धाम में प्रवेश से शिवात्मिका वृत्ति को पा पाता है। इसी वृत्ति को 'ख' तथा 'धाम' के विभिन्न अर्थों द्वारा आगमों में प्रतिपादित किया गया है (5.90-95)। श्रीब्रह्मयामल में दशविध 'ध्वनि' की साधना से परम व्याप्ति की प्राप्ति बताई गई है।[30]

आणवोपाय की साधना से जो योगी परतत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है, उसमें पाँच प्रकार के बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं। इन्हें श्रीमालिनीविजयोश्वर में क्रमशः आनन्द, उद्भव, कंप, निद्रा तथा घूर्णि कहा गया है। इन पाँचों लक्षणों के प्रकट होने पर योगी त्रिकोणादि विभिन्न चक्रों पर विजय प्राप्त कर लेता है (5.107-8)। सबसे पहले पूर्णता का स्पर्श होने पर आनन्द की अनुभूति होती है। इसके अनन्तर परम धाम में क्षणिक समावेश से 'उद्भव' अर्थात् ऊर्ध्वगमन (प्लुति) का अनुभव होता है। जिस प्रकार बिजली के गिरने पर सब कुछ अपना स्वरूप छोड़कर विद्युत् से अकस्मात् एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार देहादि में आत्माभिमान के सहसा विनष्ट होने पर 'उद्भव' का अनुभव होता है। यह परतत्त्व में क्षणमात्र समावेश की स्थिति है (5.101)। तीसरे लक्षण को 'कंप' कहा जाता है। अहन्ता की अनुभूति जब संवित् तथा देह के ऐक्य को झकझोर देती है तो एक प्रकार के कम्पन का अनुभव होता है। देह-तादात्म्य के शिथिल हो जाने पर योगी अन्तर्मुख हो जाता है। यह अन्तर्मुखता ही 'निद्रा' है (5.103)। इस प्रकार क्रमशः योगी सत्यपद पर आरूढ़ हो जाता है। इस स्थिति में वह संवित् का विश्वात्मा के रूप में साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार योगी को स्पन्दन की दशा में पहुँचा देता है। यह स्पन्दन ही परम पारमेश्वर रूप है, यही महाव्याप्ति है और इसी को सृष्टि-संहारशीलस्पन्द (भ्रमण, चलन) की प्रधानता के कारण 'घूर्णि' कहा गया है (5.104)। यह महाव्याप्ति दो प्रकार के बन्ध (आणवमल): आत्मा में अनात्मा का तथा अनात्मा में आत्मा के अभिमान के क्रमशः विनष्ट होने से होती है (5.105-7)। इस प्रकार पूर्णता के प्रथम अनुभव (स्पर्श) से प्रारम्भ कर महाव्याप्ति की सिद्धि आणवोपाय (प्राणोच्चार) से होती है। दूसरे आगमों में पाँच के स्थान पर दश लक्षण बताये गये हैं, किन्तु तन्त्रालोककार के अनुसार उनका अन्तर्भाव इन्हीं पाँच में हो जाता है।[31]

आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा तथा घूर्णि इन पाँच लक्षणों का जिन चक्रों से तादात्म्य माना गया है वे क्रमशः त्रिकोण (योगिनीवक्त्र), कन्द (लिङ्गमूल), हृदय, तालु तथा द्वादशान्त हैं। अर्थात् 'आनन्द' की अनुभूति त्रिकोण में होती है, उद्भव की कन्द में, कम्प की हृदय में, निद्रा की तालु में तथा घूर्णि की द्वादशान्त में (5.111)। यह प्रतिपादन श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र के अनुसार था। त्रैशिरसमत में इसी विषय का प्रतिपादन लिङ्गत्रय के द्वारा किया गया है। उसके अनुसार भैरव अव्यक्त लिङ्ग है, जिसमें शिव, शक्ति तथा नर का अद्वैत है (5.112-114)। यह पूर्ण अहंता की स्थिति है जिसे पहले महाव्याप्ति कहा गया था। दूसरा लिङ्ग व्यक्ताव्यक्त है जो 'अहमिदम्' युक्त, मन्त्रवीर्यात्मक, परापर तथा नर-शक्ति-प्रधान है (5.115-16)। नर-प्रधान, भेदमय तथा विशेषस्पन्दात्मक लिङ्ग व्यक्त कहलाता है, इसमें 'इदं' की प्रधानता होती है। व्यक्त लिङ्ग की भावना से सिद्धि, व्यक्ताव्यक्त से मुक्ति, मुक्ति तथा अव्यक्त लिङ्ग से पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। वस्तुतः यह त्रिविध लिङ्ग अनुत्तर का ही स्पन्दन है, जिसे 'योगिनीहृदय' तथा 'आनन्दसुन्दर' कहा गया है। यह परम आनन्दधाम है जिसमें शिवशक्ति एकात्म होकर विश्रान्त रहते हैं। वस्तुतः अनुत्तर में समावेश आणवोपाय से आगे की तथा अन्तिम भूमिका है। आणवोपाय का साध्य अव्यक्तलिङ्ग (मालिनीविजय के अनुसार महाव्याप्ति अथवा घूर्णि) है।[32]

करण-

ध्यान तथा उच्चार के अनन्तर तीसरा स्थान करण का है। करण के सात भेद हैं : ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, व्याप्ति, त्याग, आक्षेप तथा निवेशन। इनमें से ग्राह्य एवं ग्राहक[33] का षोडश आह्निक में, संवित्ति[34] का ग्यारहवें आह्निक में, व्याप्ति[35] का पन्द्रहवें आह्निक में, त्याग[36] तथा आक्षेप[37] का उन्तीसवें आह्निक में तथा मुद्राओं के स्वरूपनिरूपण के द्वारा निवेशन (सन्निवेश) का बत्तीसवें आह्निक में विस्तृत विवेचन किया गया है। तन्त्रालोककार का कथन है कि करणविधि का ज्ञान वस्तुतः गुरुमुख से ही सम्भव है (5.130)। जयरथ के अनुसार ग्राह्य आदि सात प्रकारों को आलम्बन बनाकर ज्ञानपूर्वक अभ्यास 'करण' कहलाता है। शैव का तिरस्कार कर ज्ञान का आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर देना ही करणविधि का साध्य है।[38] इस करणविधि का प्रतिपादन आचार्य अभिनवगुप्त ने त्रिशिरःशास्त्र के अनुसार किया है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के अनुसार विकल्पों की स्थिति में जिसे विश्वात्मता का अनुभव (: यह मैं हूँ और यह सब मेरा ही वैभव है) कहा गया है।[39] वही करणविधि में व्याप्तिपूर्वक आक्षेप अथवा स्वात्मविश्रान्ति की साधना है।

वर्ण (ध्वनि)

प्राणोच्चार में सहजरूप में स्थित अनाहत नाद वर्णों की उत्पत्ति का निमित होने के कारण वर्ण कहलाता है। अनाहत नाद में सभी वर्ण अविभक्त अवस्था में रहते हैं। अतः यह नाद अव्यक्त होता है (5.139)। इसी अनाहत नाद (ध्वनि अथवा वर्ण) के अभ्यास, स्मरण तथा मन्त्ररूप में जप से योगी चिन्मय हो जाता है (5.133)। यह वर्णतत्त्व मुख्यतः दो प्रकार का

है-सृष्टिबीज तथा संहारबीज। अनाहत नाद अपने को 'क' से लेकर 'म' तक स्वररहित वर्णों तथा सस्वर वर्णों में अभिव्यक्त करता है। सृष्टिबीज कन्द से प्रारम्भ कर हृदय, कण्ठ, तालु, शक्तिद्वादशान्त तथा शिव द्वादशान्त तक के विभिन्न आधारों को पार कर मध्यधाम में अनुत्तर की अनुभूति उत्पन्न करता है (5.145)। संहारबीज में 'ख' को हृदयस्थ, 'फकार' को औष्ठ्य, 'रेफ' को मूर्धन्य, यकार को कण्ठतालव्य तथा बिन्दु को द्वादशान्त में स्थिर माना गया है (5.146)। दीक्षोत्तर ग्रन्थ में एकार अथवा ओंकार एवं बिन्दु तथा अर्धचन्द्र से युक्त क्षकार, मकार, रेफ तथा यकार को मिलाकर[40] हृदय में स्मरण करने का विधान किया गया है (5.148-49)। इस संहारबीज की साधना से सात दिनों में भावना-तारतम्य के अनुसार दीप के समान अथवा ग्रीष्म के सूर्य के समान बिन्दु (आत्मा) का साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कार से आत्मा शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लेती है जैसे कि ताम्बा रसायन-प्रक्रिया से सोना बन जाता है (5.151)।

सभी वर्ण परमार्थतः संविद्रूप हैं। भौतिक अथवा मायीय अवस्था में विद्यमान वर्णों में संवित् की प्रमुखतया भावना करने पर वर्णों की भौतिकता समाप्त हो जाती है और वे आत्मसाक्षात्कार के उपाय बन जाते हैं। इस प्रकार सृष्टि-बीज और संहारबीज या अन्य मन्त्र (5.152-54) ही नहीं अपितु किसी भी वर्ण अथवा ध्वनि की निरन्तर साधना से शिवता का साक्षात्कार किया जा सकता है। विज्ञानभैरव का कथन है कि भैरव शब्द के सतत उच्चारण से शिवत्व की प्राप्ति होती है।[41] श्रीत्रिशिरस् शास्त्र में मन्त्रोद्धार प्रकरण के पूर्व कहा गया है कि भैरव के स्मरण मात्र से मन्त्रों में वीर्य उत्पन्न हो जाता है।[42] अभिनव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी[43] में आगमों के प्रामाण्य पर प्रतिपादित किया है कि मन्त्र से अनुप्राणित परमतत्त्व का स्मरण शिवप्रत्यभिज्ञा का उपाय है।

स्मरण परमेश्वर की शक्ति है जिसके आधार पर प्राचीन अनुभव का परामर्श होता है। इस कारण इसे प्रत्यवमर्शात्मक माना जाता है। स्मरण ही अनुभूयमान पदार्थ के स्वरूप को व्यवस्थापित करता है अर्थात् स्मरण से एकाकार होकर ही वस्तु का स्वरूप-ज्ञान हो पाता है। इसीलिए कहा गया है कि स्मरण के आधार पर होने वाले अभिलाप (शब्द-प्रयोग) से समग्र सांसारिक व्यापार सम्भव है। चूँकि स्मरण समग्र विश्व का मनन (परामर्श) करता है। अतः यह मन्त्रस्वरूप है (5.127)। स्मृति वस्तु के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। वह अनेक आकारों में और अनेक पदार्थों के रूप में विद्यमान भावों को स्फुट रूप में प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार स्मृति अपने स्वभाव की प्राप्ति तथा पारमार्थिक संवित्ति है तथा इसे परा सत्ता कहा गया है।[44] अस्तु, शिव नाम के उच्चारण तथा स्मरण से भी जब संवित् से ऐकात्म्य सम्भव है तो मन्त्रादि से निश्चित ही उस एकात्मता की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि मन्त्र स्वरूपतः संविद्रूप होते हैं, वाच्यार्थ उनसे पृथक् नहीं होता, वे अपने तेज से उल्लसित होते हैं तथा स्वात्मविश्रान्ति होने के कारण निराकांक्ष तथा पूर्ण होते हैं (5.141) जबकि घटादि लौकिक शब्द वाच्यार्थ की

पृथक् सत्ता के कारण अपूर्ण होते हैं।[45] इस प्रकार सस्वर अथव स्वरहीन 'क' से लेकर 'म' तक के वर्णों के उच्चारण तथा स्मरण से संवित् का स्पर्श होता है।[46] कुछ लोग वर्ण शब्द से शुक्ल, पीत आदि वर्णों का ग्रहण करते हैं और उनका कहना है कि अन्तःविमर्श के अनन्तर उद्भूत शुक्लादि वर्णों की भावना से संवित् की अनुभूति होती है।[47]

स्थानकल्पना

आणवोपाय की अन्तिम विधि स्थानकल्पना है। इसका प्रतिपादन षष्ठ आह्निक में किया गया है। ध्यान, उच्चार, करण तथा वर्ण स्थानकल्पना की अपेक्षा आन्तर तथा सूक्ष्म हैं। इसलिए स्थानकल्पना को बाह्य उपाय कहा गया है (6.1)। 'स्थान' शब्द से प्राण, देह तथा बाह्य अभिप्रेत हैं। जो साधक आणवोपाय के आन्तर अंगों (ध्यानादि) की भावना या धारणा नहीं कर सकता है उसके लिए इस बाह्य विधि का विधान किया गया है। बाह्य के अन्तर्गत ग्यारह पदार्थों को सम्मिलित किया गया है: मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिङ्ग, तूर, पट, पुस्त (लेपादि से निर्मित आकृति), प्रतिभा तथा गुरु आदि की मूर्ति (6.3)। इनमें से प्रत्येक के अनेक उपभेद हैं जिसका विस्तार तन्त्रालोक के दूसरे आह्निकों में किया गया है। मण्डलादि बाह्य स्थानों को आश्रय बनाकर जो साधना की जाती है वह स्थानकल्पना के तीसरे भेद के अन्तर्गत आती है। स्थानकल्पना के प्रथम दो भेद प्राण तथा देह को एक साथ मिलाकर इस विधि का प्रतिपादन मुख्यतः षष्ठ आह्निक का विषय है।

त्रिकदर्शन के अनुसार काल एवं देश से अतीत संवित् अपने को काल तथा देश के रूप में आभासित करती है। काल क्रिया-वैचित्र्य का तथा देश मूर्ति-वैचित्र्य का प्रतीक है। यह समग्र विश्व क्रियावैचित्र्य तथा देश वैचित्र्यरूप है।[48] काल के तीन भेद हैं: पाद, मन्त्र तथा वर्ण। देश के भी तीन भेद हैं: कला, तत्त्व तथा पुर (भुवन)। इस प्रकार कालाध्वा[49] तथा देशाध्वा दोनों मिलकर षडध्वा कहलाते हैं। प्रत्येक अध्वा स्थूल, सूक्ष्म तथा पर के भेद से षड्विध भी माना जाता है।

कालशक्ति एवं प्राणवृत्ति

विश्व में पदार्थों का प्रकाशन दो रूपों में होता है क्रम से तथा अक्रम से। जहाँ वस्तुओं में परस्पर कार्यकारणभाव होता है। वहाँ कारण के पूर्ववर्ती तथा कार्य के पश्चाद्वर्ती होने से वस्तुओं का प्रकाशन क्रमिक होता है। इसके विपरीत चित्र में वस्तु एक साथ बिना क्रम के प्रकाशित होती है (6.6)। वस्तुओं का क्रम अथवा अक्रम से प्रकाशन ही काल का स्वरूप है। यह क्रमाक्रमात्मा काल काली नामक शक्ति के रूप में संवित् में वर्तमान है (6.7)। त्रिकदर्शन में परिगणित 36 तत्त्वों में एक काल नामक तत्त्व भी है। किन्तु जिस काल-शक्ति की यहाँ चर्चा की जा रही है वह शिव की विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ क्रियाशक्ति है जिसे ईश्वर तत्त्व अथवा शिव का बहिर्मुखरूप माना गया है। यही कालशक्ति मायीय प्रमाता से सम्बन्धित होकर काल नामक

तत्त्व[50] कहलाती है (6.38.42)। कालशक्ति से युक्त संवित् भावों का क्रमाक्रमतया प्रकाशन करती हुई प्राणवृत्ति हो जाती है (6.8)। इसके पूर्व संवित् प्रमेय को प्रमाता से पृथक् कर शून्यप्रमाता के रूप में अवस्थित रहती है। इस स्थिति में प्रमेय का भान नहीं होता। शून्यता की यह स्थिति ही योगियों की परम दशा है, जिसमें 'नेति-नेति' का विमर्श रहता है (6.9-10)। इसके अनन्तर यह शून्य-प्रमाता जब 'अहं' से पृथक् 'इदं' (प्रमेय) को स्वीकार करना प्रारम्भ करता है तो उसे प्राणप्रमाता[51] कहते हैं। इसी को आगमों में 'प्राण', 'स्पन्द' तथा 'ऊर्मि' नाम से अभिहित किया गया है (6.11)। शून्यता की स्थिति में संवित् अपने से भिन्न किसी दूसरे रूप का ग्रहण नहीं करती, जबकि प्राणप्रमाता की स्थिति में उसका प्रथम स्पन्दन होता है, जैसे कि निस्तरङ्ग समुद्र में पहली लहर उठी हो। इसी कारण प्राणप्रमाता को 'स्पन्द' तथा 'ऊर्मि' कहा गया है। संवित् का प्रथम स्पन्दन प्राणना शक्ति है, जिसे आगमों में स्पन्द, स्फुरत्ता, विश्रान्ति, जीव, हृदय, प्रतिमा (1.13) तथा शिखा (6.22) कहा गया है। इस प्राणना शक्ति से युक्त प्रमाता प्राणप्रमाता कहलाता है। इसी प्राणना शक्ति से संयोग के कारण देह चेतन लगती है (6.14) जिसे चार्वाक आदि आत्मा मान बैठते हैं (6.15-16)। कालाध्वा तथा देशाध्वा इसी प्राण में विश्रान्त हैं (6.21)। पहले कालाध्वा का प्रकाशन होता है बाद में देशाध्वा का। सामान्य-स्पन्दनात्मक प्राण (अर्थात् प्राणना शक्ति या वृत्ति) के पाँच भेद हैं: प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान। प्राण शक्ति सामान्यरूप में तथा उपर्युक्त पाँच विशिष्ट रूपों में काल के विभिन्न आयामों में निरन्तर स्पन्दित रहती है। यही प्राणचार कहलाता है। अनेकशः विभक्त इन प्राणचारों की साधना से संवित् का साक्षात्कार ही प्राणात्मिका स्थानकल्पना का साध्य है। त्रिशिरसशास्त्र में प्राण को शिखा कहा गया है। अतः प्राण के प्रत्येक स्पन्दन में अद्वैत के परामर्श को वहाँ 'शिखाबन्ध' कहा गया है।[52] अहोरात्र से प्रारम्भ कर काल की अन्तिम कोटि तक इस प्राणचार के विभिन्न विभाग विस्तारपूर्वक छठे आह्निक में बताये गए हैं।

देह में बाहर-भीतर सर्वत्र ओत-प्रोत प्राणस्पन्दन के आठ भेद हैं।[53] इसका प्रस्फुटसंवेद्यप्रयत्न हृदय से ही प्रारम्भ होता है, कन्द[54] से नहीं। अतः प्राण-चार का अहोरात्रादि विभाग हृदय से ही बताया गया है (6.50)।

प्राण सर्वत्र व्यापक है। फिर उसका स्पन्दन कहीं स्फुट रूप में और कहीं अस्फुट रूप में क्यों प्रतीत होता है तथा इस स्पन्दन का निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में अभिनवगुप्त का कथन है कि शिव की वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री नामक शक्तियाँ[55] (संक्षेपतः प्रभुशक्ति), आत्मशक्ति तथा प्राणशक्ति प्राणस्पन्द की निमित्त हैं। सामान्यतः एक शक्ति प्रमुख होती है और दूसरी गौण। उदाहरण के लिये आँख के फड़कने में प्रमुख शक्ति प्रमुख होती है, लिंगमूल के संकोच विकास में आत्मशक्ति प्रमुख होती है तथा हृदय में स्फुट प्राणचार में प्राणशक्ति प्रमुख होती है। कोई योगी अपने विशेष अवधान से दो और तीन शक्तियों का भी प्रमुखता से प्रयोग कर सकता है

(6.53-54)। यद्यपि प्रत्येक शक्ति का कार्य नियत है तथापि अवधान, अदृष्ट (जन्मान्तरीय संस्कार), बलवत्ता तथा प्रेरणा के कारण इन शक्तियों का मुख्य कार्य से विपर्यय भी सम्भव है। उदाहरण के लिये चक्षुःस्फुरण यद्यपि प्रभुशक्ति का मुख्य कार्य है पर योगी अपनी अवधानता (एकाग्रता) से इसका सम्पादन आत्मशक्ति से भी कर सकता है। सृष्टि, स्थिति तथा संहार काल के अधीन हैं तथा काल प्राण में प्रतिष्ठित है किंवा प्राणात्मक है। अतः उस प्राण के स्पन्दन (प्राणचार) को जान कर ही व्यक्ति सृष्ट्यादि के रहस्य को समझ सकता है। इस रहस्यज्ञान से ही योगी स्वयं मुक्त हो पाता है और दूसरों को मुक्त कर पाता है।[56] इसी कारण प्राणचार का विवेचन आणवोपाय के अङ्ग के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[57]

नासिका के छिद्र से बारह अंगुल तक का बाहरी आकाश बाह्य द्वादशान्त कहलाता है तथा शरीर के भीतर हृदय तक का आकाश आन्तर द्वादशान्त कहलाता है। प्रत्येक जीव का शरीर चाहे वह मच्छर का हो या हाथी का हृदय से प्रारम्भ कर बाह्य द्वादशान्त तक का प्राणचार उच्छ्वास-निःश्वास में अपने प्रमाण से छत्तीस अंगुल का होता है[58], क्योंकि सभी में वीर्य, ओज, बल तथा स्पन्दन समान होता है (6.62)। छत्तीस अंगुल के इस प्राणापानात्मक प्राणीय स्पन्दन में घटिका, तिथि, मास, वर्ष तथा विभिन्न वर्ष-समूह उदित होते हैं, इस प्रकार समस्त काल प्राणचार में अवस्थित है।[59] वेद्य-ग्रहण में तारतम्य होने के कारण किसी प्रमाता को जो क्षण प्रतीत होता है वही दूसरे को कल्प अथवा निमेष भी प्रतीत हो सकता है।[60] एक व्यक्ति का जो चषकोदय है वह अन्यत्र अब्दोदय हो सकता है। छोटे से छोटे कालांश दूसरों के अनुभूति-भेदों में बढ़ जाते हैं। स्वप्न, स्वप्न-स्वप्न (ऐसा स्वप्न जिसमें पूर्ववर्ती स्वप्न जागरण प्रतीत होता है), सुषुप्ति, कल्पना, विश्वसाक्षात्कारमयी समाधि तथा विश्व की सृष्टि तथा संहार के क्रम-विवेचन में परिमित काल भी विभिन्न विस्तार ग्रहण कर लेता है। जब हम किसी दूसरे से तादात्म्य स्थापित करते हैं अथवा जब हम केवल अपनी असाधारण अनुभूति भोगते हैं तब भी कालांश का विस्तार हो जाता है (6.183-84)। आध्यात्मिक काल की यह अवधारणा सापेक्षतावाद के प्रतिष्ठापक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन की भौतिक काल के सम्बन्ध में अवधारणा से मिलती है। आध्यात्मिक काल के सापेक्ष होने का यह सिद्धान्त शरीर को ही लेकर नहीं अपितु विभिन्न भुवनों के सम्बन्ध में भी लागू होता है (6.87)। अर्थात् जिस प्रकार शरीर में काल की अनुभूति प्रमाता के स्वानुभवों के आधार पर भिन्न-भिन्न होती है उसी प्रकार प्रत्येक भुवन में काल भिन्न-भिन्न है। इस संसार में जो अहोरात्र, मास या वर्ष हैं वह दूसरे भुवन में क्षण, प्रहर अथवा अहोरात्र हो सकता है। अभिनवगुप्त के अनुसार आध्यात्मिक काल की सापेक्षता का यह सिद्धान्त उन्हें त्रैयम्बक सम्प्रदाय के आचार्य श्रीशम्भु से प्राप्त हुआ था[61] (6.88)। अस्तु, अनुभूतिभेद से अहोरात्र का उदय ही मासोदय है।

घटिकोदय

सवा दो अंगुल की एक तुटि होती है। छत्तीस अंगुल के प्राणचार में सोलह तुटियाँ होती हैं ($36+2\frac{1}{2}=16$)। इसी प्रकार अपानचार में सोलह तुटियाँ होती हैं। प्राण तथा अपान के वाह में कुल मिलाकर बत्तीस तुटियाँ होती हैं।[62] सवा अंगुल का एक चषक होता है। छत्तीस अंगुल के प्राणवाह में तीस ($36+1\frac{1}{5}=30$) तथा इसी प्रकार अपानवाह में तीस चषक होते हैं। प्राण तथा अपान दोनों में कुल मिलाकर आठ चषक होते हैं। साठ चषक की एक घटिका होती है। इस प्रकार छत्तीस-छत्तीस अंगुल के प्राण तथा अपान के वाह में बत्तीस तुटियाँ अथवा साठ चषकों की एक घटिका (जिसे नाडी या नालिका भी कहा जाता है) का उदय होता है।[63]

अहोरात्र (तिथि) का उदय

नौ अंगुलों की चार तुटियों का एक प्रहर होता है। चार प्रहरों का दिन होता है जिसमें प्राणरूपी सूर्य संचरण करता है। इसी प्रकार रात भी चार प्रहर की होती है जिसमें अपानरूपी चन्द्रमा उदित रहता है। इस प्रकार आठ प्रहरों के अहोरात्र में प्राणापानरूप सूर्य-चन्द्र संचरण करते हैं। अहोरात्र में आधी-आधी तुटि की एक संध्या होती है, सूर्योदय के साथ चन्द्रास्त, चन्द्रोदय के साथ सूर्यास्त की चार सन्धियों में दो तुटियाँ होती हैं। संध्याकाल की इन दो तुटियों को यदि घटा दें तो तीस तुटियों का अहोरात्र कहलायेगा।[64] अहोरात्र में प्राणापानरूप सूर्यचन्द्र का ही नहीं अपितु सूर्य के साथ केतु का, चन्द्र के साथ राहु का उदय रहता है।[65] इसके अतिरिक्त शेष भौमादि ग्रह भी दो या ढाई प्रहर तक अहोरात्र में उदित रहते हैं (6.66)। मध्याह्न तथा मध्यनिशा में अभिजित् नक्षत्र का तालु में उदय होता है।[66] शेष नक्षत्रों, राशियों तथा तारादिकों का भी उदय अहोरात्र में होता है।[67] इनके अतिरिक्त आठ प्रहरों में नाग, लोकपाल, मूर्तीश्वर, गणेश, नायक, भैरव आदि (6.69-71) का (जिनमें से प्रत्येक संख्या में आठ हैं तथा जिनमें परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव है) क्रमशः उदय होता है। सायं-प्रातः की संध्याओं में किया हुआ ध्यानादि मुक्ति दायक होता है (6.73)। वीरावलीकुल[68] नामक आगम में दिन को शुक्ल तथा प्राण एवं रात्रि को कृष्ण तथा अपान मानते हुए यह विधान किया गया है कि कृष्णपक्ष में क्रूर कर्म करने से तथा शुक्लपक्ष में सौम्य कर्म करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

मासोदय

अहोरात्र के सन्दर्भ में जिसे दिन कहा गया था उसी को मास के सन्दर्भ में कृष्णपक्ष तथा जिसे रात्रि कहा गया था उसी को शुक्लपक्ष माना जाता है। संवित् के दो पक्ष हैं: प्रकाश तथा आनन्द। प्रकाश की प्रधानता रहने पर दिन कहलाता है तथा आनन्द की प्रधानता में रात्रि (6.77.78)। अतः दिन एवं रात्रि का और इसी प्रकार काल के अन्य विभागों का, प्राणोच्चार की साधना में आध्यात्मिक अर्थ ही अभिप्रेत है, बाह्य (भौतिक) कालविभाग नहीं। प्रकाश की

स्थिति में (अर्थात् दिन में) प्रमाता को वेद्यमयता का अनुभव होता है तथा आनन्द (स्वात्मविश्रान्ति अथवा रात्रि) में वेद्य का विचारयिता में लय हो जाता है (6.80)। दूसरे शब्दों में प्रमाता का बहिर्मुख होना दिन की अनुभूति है तथा उसका अन्तर्मुख होना रात्रि है (6.80-82)। यही अहोरात्र का आध्यात्मिक अर्थ है।

अहोरात्र के प्रसङ्ग में कहा गया था कि दिन-रात में सोलह-सोलह तुटियाँ होती हैं तथा आधी-आधी तुटि को मिलाकर दिन में एक तुटि का और उसी प्रकार रात में एक तुटि के संध्याकाल होते हैं। संध्याकाल की एक-एक तुटि को निकाल देने पर दिन तथा रात में पन्द्रह-पन्द्रह तुटियाँ होती हैं। ये तुटियाँ ही मासोदय के सन्दर्भ में पन्द्रह-पन्द्रह तिथियाँ हैं (6.76)। इस प्रकार पन्द्रह तिथियों का कृष्ण पक्ष तथ पन्द्रह तिथियों का शुक्ल पक्ष होता है।

कृष्ण पक्ष में अपानचन्द्र प्रत्येक तिथि में आप्यायन करने वाली एक-एक कला को प्राण सूर्य में अर्पित करता रहता है।[69] पन्द्रहवीं तुटि (तिथि) में, द्वादशान्त के पास, कलाओं से क्षीण चन्द्रमा प्राणसूर्य में विलीन हो जाता है (6.92-93)। सोलहवीं तुटि[70] का आधा अमावास्या का भाग है और दूसरा भाग शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का। यही दो पक्षों की सन्धि कहलाती है (6.98-99)। जब तिथिच्छेद[71] के कारण अमावस्या का तुट्यर्ध (शुक्लपक्ष की) प्रतिपदा के तुट्यर्ध में प्रविष्ट होता है तो सूर्यग्रहण[72] होता है (6.100)। सूर्यग्रहण में राहु सूर्यमण्डल के भीतर विद्यमान चन्द्रमा की मधुमय कलाओं को पी डालता है।[73] सूर्य प्रमाण है, चन्द्र प्रमेय है तथा राहु माया प्रमाता है। तमोरूप राहु सूर्य का आच्छादन कर सकता है किन्तु उसका विनाश नहीं कर पाता (6.102-103)। सूर्यग्रहण का आध्यात्मिक अभिप्राय है मायाप्रमाता द्वारा प्रमाण में स्थित प्रमेय का रसग्रहण।[74] चूँकि सूर्यग्रहण में प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय तीनों का संघटन या सामरस्य होता है अतः अद्वय की साधना के कारण इसे पुण्यकाल कहा गया है:

अर्केन्दुराहुसंघट्टात् प्रमाणं वेद्यवेदकौ।
अद्वयेन ततस्तेन पुण्य एष महाग्रहः।। तन्त्रा, 6.104

अमावस्यारहित शुद्ध प्रतिपदा में भी सूर्यग्रहण हो सकता है जैसे कि लोक में सूर्य के मेष राशि में तथा राहु के अश्विनी नक्षत्र में रहने पर ग्रहण होता है (6.105)। ग्रहण तथा मोक्ष के समय किया गया स्नान-ध्यान-होम-जपादि लौकिक एवं अलौकिक फल प्रदान करता है (6.107-8)।

इसी प्रकार सूर्य जब चन्द्र को एक-एक तुटि (तिथि) में एक-एक कला से क्रमशः आपूरित कर देता है तो पन्द्रह तुटियों या तिथियों के पूर्ण होने पर पूर्णिमा होती है (6.110-11)। इन दिनों प्राण शाक्तद्वादशान्त से हृदय में पूर्णिमा तक अवरोहण करता है, जबकि कृष्णपक्ष में प्राण हृदय से चलकर अमावस्या तक द्वादशान्त में पहुँचता है। (हृदय से द्वादशान्त तक के आरोहण को प्राणवाह तथा द्वादशान्त से हृदय तक अवरोहण को अपानवाह कहा जाता है।) पूर्णिमा के तुट्यर्ध तथा (कृष्णपक्ष की) प्रतिपदा के तुट्यर्ध की पक्षसन्धि में ही चन्द्रग्रहण

होता है (6.112)। शुद्ध प्रतिपदा में चन्द्रग्रहण नहीं होता[75]। इस चन्द्रग्रहण में शेष सभी (प्रमाण-प्रमेयादि का संघटन) सूर्यग्रहण की भाँति होता है। चन्द्रग्रहण में की गई साधना लौकिक फलदायिनी होती है क्योंकि इसमें लौकिक सृष्टि की प्रधानता होती है।

वर्णोदय

मास के सन्दर्भ में जो कृष्ण पक्ष है वही वर्ष के प्रसङ्ग में उत्तरायण है। इसमें प्राणसूर्य का, हृदय से प्रारम्भ कर नासान्त तक[76], मकर से मिथुन तक की राशियों में, माघ से लेकर आषाढ़ तक, छह-छह अंगुल का संचार होता है।[77] प्राणसूर्य जब मकर, कुम्भ तथा मीन राशियों में संचरण कर लेता है (अर्थात् तीन संक्रान्तियों के समाप्त होने पर) और मेष राशि में प्रविष्ट होता है तो वह उत्तरायण का विषुवत् काल होता है, जो पारलौकिक सिद्धि प्रदान करता है (6.114-15)। जब प्राणसूर्य कर्क, सिंह तथा कन्या राशियों में संक्रमण कर तुला राशि में प्रविष्ट होता है तो वह दक्षिणायन का विषुवत् होता है, जो लौकिक सिद्धि देने वाला है। अर्थात् उत्तर विषुवत् में प्राणोच्चार की साधना पारलौकिक तथा दक्षिण विषुवत् में की गई साधना लौकिक फल देती है[78] (6.116)। दक्षिणायन में भी प्रत्येक राशि में संक्रान्ति छह-छह अंगुल की होती है[79] तथा इसमें नासिका के अग्र भाग से तालु तक प्राणसूर्य संचरण करता है। जिस प्रकार आठ प्रहरों में से प्रत्येक के नाग, लोकपाल, भैरवादि (6.69-71) होते हैं उसी प्रकार कार्तिक से प्रारम्भ कर बारह मासों के दक्ष आदि बारह रुद्र होते हैं।[80]

बारह तथा साठ वर्षों का उदय

द्वादशाब्दोदय में एक अंगुल में साठ तिथियाँ होती हैं जबकि वर्षोदय में पाँच। एक वर्ष में जो बारह संक्रान्तियाँ हैं वे ही द्वादशाब्दोदय में बारह वत्सर हैं[81] (6.124)।

षष्ट्यब्दोदय में प्रत्येक अंगुल में तीन सौ तिथियाँ मान लेने पर अंगुल के पाँचवे भाग में साठ तिथियाँ होंगी और इस प्रकार 1- अंगुल में 360 तिथियों का एक वर्ष होगा।[82] छत्तीस अंगुल के प्राणवाह तथा छत्तीस अंगुल के ही अपानवाह में अर्थात् 72 अंगुल के प्राण-चार में साठ वर्ष होंगे। इस षष्ट्यब्दोदय में प्रत्येक संक्रान्ति में पाँच वर्ष होते हैं तथा कुल मिलाकर 21600 तिथियाँ होती हैं[83] (6.127)। इस आध्यात्मिक षष्ट्यब्दोदय में जितनी तिथियाँ हैं उतनी ही बाह्य अहोरात्र में प्राणचार की संख्या मानी गई है, अर्थात् दिन-रात में कुल मिलाकर 21600 बार प्राण का स्पन्दन होता है जितना कि आध्यात्मिक साठ वर्षों में।[84] आनन्त्य के कारण षष्ट्यब्दोदय से अधिक संख्याओं का परिगणन नहीं किया गया है। योगी अपने अवधान से एक ही प्राणचार में प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, द्वादशाब्द, षष्ट्यब्द आदि का अपने अन्दर अनुभव कर सकता है तथा विभिन्न काल-सन्धियों में ध्यान-पूजन का पुण्य प्राप्त कर सकता है (6.128) जिसे सामान्य व्यक्ति अपनी सारी आयु में हजारों प्रयत्न करने पर भी बाह्य काल में प्राप्त नहीं कर सकता।[85]

जयरथ ने यह प्रश्न उठाया है कि घटिका (नालिका) से प्रारम्भ कर एक वर्ष तक की गणना तो क्रम से बताई गई है किन्तु उसके बाद दो-तीन-चार आदि वर्षों का क्रम छोड़कर सीधे द्वादशाब्द पर तथा उसके बाद तेरह-चौदह वर्षों की चर्चा न कर सीधे साठ वर्ष की ही चर्चा क्यों की गई है, इनसे अधिक या कम की चर्चा क्यों नहीं की गई है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उनका कथन है कि योगशास्त्र के अनुसार, तुटि आदि के क्रम का पालन करते हुए योगी जब वर्ष की साधना तारतम्य से समाप्त कर लेता है तो उसके बाद उस प्राणजयी योगी के लिये वर्षों का क्रम आवश्यक नहीं रह जाता। वह अपनी इच्छानुसार वर्षों के किसी समूह का साक्षात्कार कर सकता है। अतः प्राणजयी योगी के लिये क्रम को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। तथापि एक वर्ष की साधना के अनन्तर सीधे साठ वर्षों की साधना न बताकर द्वादशाब्दोदय को इसलिए बताया गया है कि अगली सीढ़ी बहुत दूर न हो। षष्ट्यब्द से अधिक वर्ष-समूहों का उदय न बताने का भी यही कारण है कि परम योगी साठ वर्षों से अधिक जिस किसी भी वर्ष-समूह (कल्पनादि) का साक्षात्कार करना चाहे वह निश्चित ही कर सकता है पर उन सभी वर्ष-समूहों का उल्लेख करना, काल की अनन्तता के कारण निरर्थक है।[86] जैसे थोड़ा-थोड़ा करके विष खाने वाला व्यक्ति जब पूर्णतः विषपायी हो जाता है तब बिना किसी मात्रा के बहुत सारा विष खाकर पचा सकता है उसी प्रकार वर्षोदय की क्रमिक साधना के अनन्तर प्राणजयी योगी बिना किसी क्रम के सीधे द्वादशाब्द तथा षष्ट्यब्द का साक्षात्कार कर सकता है।[87]

बाह्य कालविभाग

घटिका से लेकर षष्ट्यब्द तक के जिस काल की अभी तक चर्चा की गई है वह शिव की क्रियाशक्ति है जो प्राण में प्रतिष्ठित है तथा जिसका योगी अपने हृदय में प्राणचार के साथ साक्षात्कार करते हैं (6.181)। इस आध्यात्मिक काल का सारा क्रिया-वैचित्र्य संवित् की इच्छा में प्रतिष्ठित है। अतः उसका स्वरूप नियत नहीं है (6.182)। इसके विपरीत जो काल व्यवहार में, ज्योतिःशास्त्र आदि में, भौतिक जगत् में आकलित होता है वह काल बाह्य है। इसका निम्नाङ्कित विभाग, स्वच्छन्दतन्त्र[88] तथा गुरुपरम्परा[89] के अनुसार, अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (6.130-148, 153-165) में बताया है:

6 प्राण	=	1 चषक
60 चषक	=	1 नाली (नाडिका, घटिका)
60 नाली	=	1 तिथि (तुटि)
30 तिथि	=	1 मास
12 मास	=	1 वर्ष
1 मानुष वर्ष	=	1 दिव्य (या पित्र्य)[90] अहोरात्र

होता है (6.112)। शुद्ध प्रतिपदा में चन्द्रग्रहण नहीं होता[75]। इस चन्द्रग्रहण में शेष सभी (प्रमाण-प्रमेयादि का संघटन) सूर्यग्रहण की भाँति होता है। चन्द्रग्रहण में की गई साधना लौकिक फलदायिनी होती है क्योंकि इसमें लौकिक सृष्टि की प्रधानता होती है।

वर्णोदय

मास के सन्दर्भ में जो कृष्ण पक्ष है वही वर्ष के प्रसङ्ग में उत्तरायण है। इसमें प्राणसूर्य का, हृदय से प्रारम्भ कर नासान्त तक[76], मकर से मिथुन तक की राशियों में, माघ से लेकर आषाढ़ तक, छह-छह अंगुल का संचार होता है।[77] प्राणसूर्य जब मकर, कुम्भ तथा मीन राशियों में संचरण कर लेता है (अर्थात् तीन संक्रान्तियों के समाप्त होने पर) और मेष राशि में प्रविष्ट होता है तो वह उत्तरायण का विषुवत् काल होता है, जो पारलौकिक सिद्धि प्रदान करता है (6.114-15)। जब प्राणसूर्य कर्क, सिंह तथा कन्या राशियों में संक्रमण कर तुला राशि में प्रविष्ट होता है तो वह दक्षिणायन का विषुवत् होता है, जो लौकिक सिद्धि देने वाला है। अर्थात् उत्तर विषुवत् में प्राणोच्चार की साधना पारलौकिक तथा दक्षिण विषुवत् में की गई साधना लौकिक फल देती है[78] (6.116)। दक्षिणायन में भी प्रत्येक राशि में संक्रान्ति छह-छह अंगुल की होती है[79] तथा इसमें नासिका के अग्र भाग से तालु तक प्राणसूर्य संचरण करता है। जिस प्रकार आठ प्रहरों में से प्रत्येक के नाग, लोकपाल, भैरवादि (6.69-71) होते हैं उसी प्रकार कार्तिक से प्रारम्भ कर बारह मासों के दक्ष आदि बारह रुद्र होते हैं।[80]

बारह तथा साठ वर्षों का उदय

द्वादशाब्दोदय में एक अंगुल में साठ तिथियाँ होती हैं जबकि वर्षोदय में पाँच। एक वर्ष में जो बारह संक्रान्तियाँ हैं वे ही द्वादशाब्दोदय में बारह वत्सर हैं[81] (6.124)।

षष्ट्यब्दोदय में प्रत्येक अंगुल में तीन सौ तिथियाँ मान लेने पर अंगुल के पाँचवे भाग में साठ तिथियाँ होंगी और इस प्रकार 1- अंगुल में 360 तिथियों का एक वर्ष होगा।[82] छत्तीस अंगुल के प्राणवाह तथा छत्तीस अंगुल के ही अपानवाह में अर्थात् 72 अंगुल के प्राण-चार में साठ वर्ष होंगे। इस षष्ट्यब्दोदय में प्रत्येक संक्रान्ति में पाँच वर्ष होते हैं तथा कुल मिलाकर 21600 तिथियाँ होती हैं[83] (6.127)। इस आध्यात्मिक षष्ट्ब्दोदय में जितनी तिथियाँ हैं उतनी ही बाह्य अहोरात्र में प्राणचार की संख्या मानी गई है, अर्थात् दिन-रात में कुल मिलाकर 21600 बार प्राण का स्पन्दन होता है जितना कि आध्यात्मिक साठ वर्षों में।[84] आनन्त्य के कारण षष्ट्यब्दोदय से अधिक संख्याओं का परिगणन नहीं किया गया है। योगी अपने अवधान से एक ही प्राणचार में प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, द्वादशाब्द, षष्ट्ब्द आदि का अपने अन्दर अनुभव कर सकता है तथा विभिन्न काल-सन्धियों में ध्यान-पूजन का पुण्य प्राप्त कर सकता है (6.128) जिसे सामान्य व्यक्ति अपनी सारी आयु में हजारों प्रयत्न करने पर भी बाह्य काल में प्राप्त नहीं कर सकता।[85]

जयरथ ने यह प्रश्न उठाया है कि घटिका (नालिका) से प्रारम्भ कर एक वर्ष तक की गणना तो क्रम से बताई गई है किन्तु उसके बाद दो-तीन-चार आदि वर्षों का क्रम छोड़कर सीधे द्वादशाब्द पर तथा उसके बाद तेरह-चौदह वर्षों की चर्चा न कर सीधे साठ वर्ष की ही चर्चा क्यों की गई है, इनसे अधिक या कम की चर्चा क्यों नहीं की गई है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उनका कथन है कि योगशास्त्र के अनुसार, तुटि आदि के क्रम का पालन करते हुए योगी जब वर्ष की साधना तारतम्य से समाप्त कर लेता है तो उसके बाद उस प्राणजयी योगी के लिये वर्षों का क्रम आवश्यक नहीं रह जाता। वह अपनी इच्छानुसार वर्षों के किसी समूह का साक्षात्कार कर सकता है। अतः प्राणजयी योगी के लिये क्रम को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। तथापि एक वर्ष की साधना के अनन्तर सीधे साठ वर्षों की साधना न बताकर द्वादशाब्दोदय को इसलिए बताया गया है कि अगली सीढ़ी बहुत दूर न हो। षष्ट्यब्द से अधिक वर्ष-समूहों का उदय न बताने का भी यही कारण है कि परम योगी साठ वर्षों से अधिक जिस किसी भी वर्ष-समूह (कल्पनादि) का साक्षात्कार करना चाहे वह निश्चित ही कर सकता है पर उन सभी वर्ष-समूहों का उल्लेख करना, काल की अनन्तता के कारण निरर्थक है।[86] जैसे थोड़ा-थोड़ा करके विष खाने वाला व्यक्ति जब पूर्णतः विषपायी हो जाता है तब बिना किसी मात्रा के बहुत सारा विष खाकर पचा सकता है उसी प्रकार वर्षोदय की क्रमिक साधना के अनन्तर प्राणजयी योगी बिना किसी क्रम के सीधे द्वादशाब्द तथा षष्ट्यब्द का साक्षात्कार कर सकता है।[87]

बाह्य कालविभाग

घटिका से लेकर षष्ट्यब्द तक के जिस काल की अभी तक चर्चा की गई है वह शिव की क्रियाशक्ति है जो प्राण में प्रतिष्ठित है तथा जिसका योगी अपने हृदय में प्राणचार के साथ साक्षात्कार करते हैं (6.181)। इस आध्यात्मिक काल का सारा क्रिया-वैचित्र्य संवित् की इच्छा में प्रतिष्ठित है। अतः उसका स्वरूप नियत नहीं है (6.182)। इसके विपरीत जो काल व्यवहार में, ज्योतिःशास्त्र आदि में, भौतिक जगत् में आकलित होता है वह काल बाह्य है। इसका निम्नाङ्कित विभाग, स्वच्छन्दतन्त्र[88] तथा गुरुपरम्परा[89] के अनुसार, अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (6.130-148, 153-165) में बताया है:

6 प्राण	=	1 चषक
60 चषक	=	1 नाली (नाडिका, घटिका)
60 नाली	=	1 तिथि (तुटि)
30 तिथि	=	1 मास
12 मास	=	1 वर्ष
1 मानुष वर्ष	=	1 दिव्य (या पित्र्य)[90] अहोरात्र

30 मानुष वर्ष	=	1 दिव्य मास
360 मानुष वर्ष	=	1 दिव्य वर्ष
4000 दिव्य वर्ष	=	कृत
3000 दिव्य वर्ष	=	त्रेता
2000 दिव्य वर्ष	=	द्वापर
1000 दिव्य वर्ष	=	कलि
500 दिव्य वर्ष	=	कलि-कृत-युग-संध्या
700 दिव्य वर्ष	=	कृत-त्रेता-संध्या
500 दिव्य वर्ष	=	त्रेता-द्वापर-संध्या
300 दिव्य वर्ष	=	द्वापर-कलियुग-संध्या
12000 दिव्य वर्ष	=	चतुर्युग
71 चतुर्युग	=	1 मन्वन्तर[91] (852000 दिव्यवर्ष या 306720000 मानुष वर्ष)
14 मन्वन्तर	=	1 ब्राह्म दिन
28 मन्वन्तर	=	1 ब्राह्म अहोरात्र
100 ब्राह्म वर्ष	=	1 वैष्णव दिन (200 ब्राह्मवर्ष=वैष्णव अहोरात्र)
100 वैष्णव वर्ष	=	1 रौद्र दिन (200 वैष्णव वर्ष=रौद्र अहोरात्र)
36000 रौद्र आयुवर्ष	=	1 अव्यक्त दिन (द्विगुण अहोरात्र)
100 अव्यक्त वर्ष	=	श्रीकण्ठ की आयु

अव्यक्त तक की काल गणना में दस-दस से गुणन करने पर क्रमशः नियति, काल, राग, विद्या तथा काल तत्त्वों में स्थित वामदेव महादेवादि तत्तत् तत्त्वों के अधिष्ठातृ देवों का दिन एवं प्रत्येक के सौ वर्षों की आयु की गणना बताई गई है (6.153-54)। इन तत्त्वों की आयु मायीय दिन है। उस दिन के क्षय होने पर विश्व माया में लीन हो जाता है और रात के समाप्त होने पर गहनेश उस विश्व की पुनः सृष्टि करता है (6.155)। मायीय काल परार्ध कहलाता है जिसका सौ से गुणा करने पर ईश्वर का दिन और उतनी ही रात की अवधि मानी जाती है जिसमें नादात्मक प्राण तथा बिन्दुमयी संवित् प्रशान्त हो जाते हैं (6.157-58)। इसी को प्रलय कहा जाता है। ईश्वरीय काल का सौ परार्ध से गुणन करने पर सदाशिव का अहोरात्र होता है जिसे

महाप्रलय कहा जाता है (6.160)। सदाशिव का अपने कालान्त में (प्रत्येक कालान्त सौ वर्ष का है) नाद में तथा नाद का शक्तितत्त्व में तथा शक्तितत्त्व का व्यापिनी में और व्यापिनी का अनाश्रित में तथा अनाश्रित का सामनस पद में क्रमशः अपना-अपना काल पूरा करते हुए, लय हो जाता है। पूर्व-पूर्व की जो आयु है वही उत्तरोत्तर का अहोरात्र है (6.161-65)। सामनस पद को ही साम्य संज्ञक काल कहा गया है क्योंकि पृथिवी से प्रारम्भ कर अनाश्रित तक का समग्र विश्व इसमें अभेदात्मना रहता है, यह विश्वकलनाकारी समना कला से अभिन्न है। अतः नित्य है अर्थात् इसका महाप्रलय में भी विनाश नहीं होता, इसकी कलना (गणना, आकलन) कर पाना असंभव है, यह परब्रह्मरूप है :

स कालः साम्यसंज्ञः स्यान्नित्यो कल्पः कलात्मकः।
यत्तत् सामनसं रूपं तत्साम्यं ब्रह्म विश्वगम्।।[92] तन्त्रा, 6.166

वस्तुतः क्षणादि से लेकर परार्ध तक के सारे बाह्य कालविभाग इसी सामनस या साम्य नामक काल से उत्पन्न होते हैं:

अतः सामनसात् कालान्निमेषोन्मेषमात्रतः।
तुट्यादिकं परार्धान्तं सूते सैवात्र निष्ठितम्।। वही, 6.167

एक से प्रारम्भ कर परार्ध तक की जितनी संख्याएँ बताई गई हैं वे सभी दस-दस के गुणन से क्रमशः बनती हैं। ये संख्यास्थान 18 हैं :

एक, दश, सौ, हजार, अयुत (दस हजार) लाख, नियुत (दस लाख), करोड़, अरब, वृन्द (दस अरब), खर्व, निखर्व, शंख, पद्म, समुद्र, मध्य[93], अन्त तथा परार्ध (6.168-69)।

उपर्युक्त कालविभाग की पुराणों, अर्थशास्त्र, महाभारत, मनुस्मृति आदि में दिये हुये काल के भेदोपभेदों से तुलना[94] करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तन्त्रालोक के आधार-ग्रन्थ स्वच्छन्दतन्त्र की कालगणना पुराण-मनुस्मृति-काल में विकसित भेदोपभेद से प्रभावित है। मन्वन्तर, प्रलय आदि के सन्दर्भ से यह बात स्पष्टतः प्रमाणित होती है।

महासृष्टि रूप प्राण में असंख्य सृष्टि तथा प्रलय होते हैं। उनमें सृष्टि तथा प्रलय मुख्य हैं (जिन्हें पुराणों में नित्य, नैमित्तिक-, प्राकृत तथा आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है)। ये चार सृष्टि-प्रलय पृथ्वी, प्रकृति, माया तथा शक्ति में स्थित हैं तथा इन्हीं को अण्डचतुष्टय कहा जाता है।[95] पृथ्वी से प्रारम्भ कर शक्तितत्त्व तक अनन्त सृष्टि तथा संहार होते रहते हैं (6.173)। ब्रह्मादि पृथ्वी के स्रष्टा हैं तथा कालाग्नि (श्रीकण्ठ की सूक्ष्म मूर्ति) पृथ्वी का संहर्ता है। अव्यक्त में स्थित श्रीकण्ठ प्रकृति का स्रष्टा तथा संहर्ता है। अघोर-शक्ति का स्रष्टा तथा संहर्ता है। अथवा श्रीकण्ठ ही अपने परापर रूपों में पृथ्वी से लेकर शक्ति तक के स्थानों में स्रष्टा तथा संहर्ता हैं (6.171'72)। पृथिव्यादि तत्वों के प्रलय होने पर ब्रह्मा, विष्णु तथा शतरुद्र क्रमशः एक

दूसरे में लीन हो जाते हैं। मायातत्त्व के ऊपर जो शक्तितत्त्व में स्थित हैं उनका परम शिव में लय होता है। इस प्रकार विभिन्न तत्त्वों के अधिपतियों का एक बार लय हो जाने के बाद पुनः सृष्टि होने पर दूसरे ब्रह्मादि उनका स्थान ग्रहण करते हैं (6.174-76)। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि उन तत्त्वेश्वरों की संज्ञाएँ हैं जिनकी सृष्टि शक्तिमान् शिव की ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री आदि शक्तियों के पात से होती है (6.177-78), अतः कोई नियत व्यक्ति-विशेष ब्रह्मा नहीं है अपितु जिस पर ब्राह्मी शक्ति का पात हो वही ब्रह्मा है। ये सभी सृष्टि तथा प्रलय प्राण में प्रतिष्ठित हैं, प्राण संवित् में, तथा संवित् प्रमेयशून्य शुद्धचैतन्य में प्रतिष्ठित है। यह शुद्धचैतन्य परादेवी है जिसका संविद्रूप स्पन्दन प्राणाश्रित सृष्टि तथा प्रलय है (6.179-81)।

अपान में कालोदय

जिस प्रकार तुटि से लेकर षष्ट्यब्द तक का उदय अंगुलविभाग के अनुसार प्राण में होता है उसी प्रकार अपान और समान में भी होता है (6.194-95)। प्राण में कालोदय की साधना से अपान में उपर्युक्त कालोदय की साधना अधिक कठिन है।[96] अपान में कालोदय हृदय से प्रारम्भ कर मूलपीठ (मत्तान्ध) तक होता है तथा जिस प्रकार प्राण के कालोदय में हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, रन्ध्र तथा द्वादशान्त (शक्ति के उदय तथा विश्रान्ति का स्थान) के क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव तथा अनाश्रित (शिव) अधिष्ठाता हैं उसी प्रकार अपान में हृदय, कंठ, आनन्द, संकोच, विकास तथा द्वादशान्त के ये ब्रह्मादि ही बाल्य, यौवन, वार्धक्य, निधन, पुनर्जन्म तथा मुक्ति के, श्रीकामिकागम के अनुसार अधिपति हैं (तन्त्रा, 6.188-90)। प्राण की विश्रान्ति अन्ततः परम शिव में होती है, किन्तु अपान की योगिनीवक्त्र (अधोवक्त्र) में। अतः प्राणसाधना शैव क्रम है तो अपानसाधना शाक्त क्रम।

समान में कालोदय

प्राणापान की भाँति समान में भी षष्ट्यब्द तक का उसी प्रकार कालोदय होता है। समान नामक प्राणवायु नाभि से उदित होने वाली तथा हृदय में अभिव्यक्त होने वाली इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अर्यमा (यशा), अलम्बुसा, कुहू तथा शंखिनी[97] नामक दश मुख्य[98] नाडियों तथा अन्य अवान्तर नाडियों में संचरण करता हुआ देह में सब रसों को समान रूप में प्रवाहित करता है:

> दश मुख्या महानाडीः पूरयन्नेष तद्गताः।
> नाड्यन्तराश्रिता नाडीः क्रामन्देहे समस्थितिः।। तन्त्रा, 6.196-97

उपर्युक्त दश नाड़ियों में भी इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना प्रमुख हैं जो क्रमशः चन्द्र, सूर्य, अग्नि तथा बिन्दु, नाद एवं शक्ति से अभिन्न हैं। वाम, दक्षिण तथा मध्य में स्थित इन्हीं तीन नाडियों में समान नामक प्राण-वायु मुख्यतः संक्रमण करती है (6.198-99)। अहोरात्र में इसका

संचरण चौबीस संक्रान्तियों में होता है। एक बाह्य घटिका में 360 आन्तरिक प्राणचार होते हैं[99] इस प्रकार 2 1/2 घटिका में 900 प्राणचार होते हैं तथा 60 घटिका वाले बाह्य अहोरात्र में 21600 प्राणचार, ढाई-ढाई घटिका की चौबीस संक्रान्तियाँ होती हैं (6.199-200)। उत्तर विषुवत् दिन में प्रातः, समान सवा घटिका तक मध्यनाडी में रहता है, तदनन्तर वाम, दक्षिण, वाम, दक्षिण तथा वाम के क्रम से पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं। इन पाँच संक्रान्तियों के बाद जब पौने चौदह घटिकाएँ और बीत जाती हैं तब दक्षिण-विषुवत् के मध्याह्न में समान के नौ सौ प्राणचार होते हैं। (इसके अनन्तर पुनः दक्षिण, वाम, दक्षिण, वाम, वाम, दक्षिण में पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं। प्रत्येक संक्रान्ति में नौ सौ बार प्राणचार होता है, इस तरह विषुवत् की दिन में बारह तथा रात में भी बारह संक्रान्तियाँ होती हैं[100] (6.201-3)। विषुवत् के अहोरात्र के बाद ज्यों-ज्यों दिन घटते-बढ़ते हैं त्यों-त्यों संक्रान्तियाँ भी घटती-बढ़ती हैं। इस प्रकार पैंतीस घटिका वाले दिन में चौदह संक्रान्तियाँ होती हैं और पच्चीस घटिका वाली रात में दश संक्रान्तियाँ होती हैं।[101] प्राणापान श्वास-प्रश्वासात्मक होते हैं। अतः उनमें दो प्राणचार होते हैं, किन्तु समान वायु में श्वास-प्रश्वास नहीं होता, अतः एक ही चार में दो वर्ष होते हैं (6.208)। तुटि से लेकर षष्ट्यब्द तक की अत्यन्त सूक्ष्म कालसंख्या समान में भी होती है (6.209)।

उदान तथा व्यान में कालोदय

उदान का हृदय से लेकर मूर्धन्य द्वादशान्त तक संचार होता है। इसमें भी तुटि से लेकर षष्ट्यब्द तक का समस्त काल परिभावित होता है (6.213)। प्राण का उदयस्थान ब्रह्मरन्ध्रवर्ती नासिक्य द्वादशान्त है जबकि उदान का उदयस्थान ऊर्ध्वधामवर्ती शक्तिद्वादशान्त है (6.212)।

व्यान में उदान से भी अधिक सूक्ष्म, स्पन्दात्मा, व्यापक, विश्वात्ममय तथा क्रमहीन काल होता है। प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समानरूप काल के क्रमशः सृष्टि, लय, स्थिति, संहार तथा अनुग्रह ये पाँच कृत्य हैं (6.215)।

वर्णोदय

कालाध्वा के वर्ण, पद तथा मन्त्र इन तीन भेदों की चर्चा प्रारम्भ में की गई थी। प्राणचार में वर्णों का उदय स्वाभाविक होता है, जबकि पद तथा मन्त्रों का उदय योगी की इच्छा पर रहने के कारण यत्नज होता है।[102] स्वाभाविक वर्णोदय का विवेचन छठे आह्निक में किया गया है, यत्नज पद तथा मन्त्रों के उदय का विवेचन सातवें आह्निक में किया गया है।[103]

स्वाभाविक या अयत्नज वर्णोदय के तीन भेद हैं: पर, सूक्ष्म तथा स्थूल। पर के भी दो भेद हैं: परतर तथा परतम। परतम वर्ण नाद हैं जिसमें सभी वर्ण अविभक्त अवस्था में रहते हैं। इसका सदा उच्चारण होता रहता है। अतः इसे अनाहत (नाद) कहा जाता है। यही परम साध्य है। इसी को भैरव सद्भाव, मातृसद्भाव तथा एकाक्षरा परा देवी माना गया है। इसी में चराचर विश्व विश्रान्त है:

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः।।
स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्।। तन्त्रा, 6.217-18

ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, इनके संध्यक्षरः ए, ओ, ऐ, औ, बिन्दु तथा विसर्ग वर्ण के 'परतर' रूप हैं[104] (6.219-21)। वर्ण के सूक्ष्म रूप के तीन भेद हैं : सूक्ष्मसूक्ष्म, स्थूलसूक्ष्म तथा सूक्ष्मपर।[105] स्थूल वर्णोदय वर्णक्रम से (8-8 वर्गों को मिलाकर) होता है और एक-एक वर्ण को लेकर भी। वर्ण संख्या में कुल पचास हैं (6.249), कुछ आचार्य 49 भी मानते हैं (6.250)। इन वर्णों को 81 अर्धमात्राओं में भी विभाजित किया जाता है, जिनमें कादि की 33, ह्रस्व की 10, दीर्घ की 32 तथा प्लुत की 6 अर्धमात्राएँ होती हैं।[106] इक्यासी अर्धमात्राएँ मन्त्रात्मक हैं। अतः उन्हें श्रीमातंगतन्त्र में एकाशीतिपदा देवी कहा गया है (6.227-28)।

प्रत्येक वर्ण या अर्धमात्रा शिव की वाचक हैं। जहाँ तक एक ज्ञान रहता है वहाँ तक एक वर्ण या अर्ध मात्रा पद कहलाता है। व्याकरण के अनुसार तो पद सुबन्त-तिङन्तरूप होता है, किन्तु शैवागमों के अनुसार एक ध्यान का विषय जो भी है वही पद है।[107] इसी दृष्टि से इक्यासी अर्धमात्राओं को एकाशीतिपदा देवी कहा गया है।

इन मन्त्रात्मक तथा शिवात्मक वर्णों अर्धमात्राओं अथवा पदों की प्राणवाह तथा अपानवाह में शरीर के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कालांशों में की जाने वाली साधना ही वर्णोदय है। योगी अपनी साधना से (वर्ण, मन्त्र तथा पद में विभक्त) कालाध्वा को उसके विभिन्न आयामों-क्षण, घटिका, प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्पादि में अपने प्राणों में व्याप्त कर लेता है। इस व्याप्ति से वह असंख्य तथा विचित्र सृष्टि तथा संहार का अपने प्राणस्पन्दनों में आकलन कर लेता है और इस सृष्टि-संहार के रहस्य ज्ञान से वह अपने परमेश्वर रूप को पहिचान लेता है। यह प्रत्यभिज्ञा ही मुक्ति है।

संविद्रूपस्यात्मनः प्राणशक्तिं पश्यन् रूपं तत्रगं चातिकालम्।
साकं सृष्टिस्थेमसंहारचक्रैर्नित्योद्युक्तो भैरवीभावमेति।

तन्त्रसार, अह्निक 6

-: सन्दर्भ :-

1. (क) यदा तु उपायान्तरम् असौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपान् उपायत्वेन गृह्णन् अणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानम् आविर्भावयति। तन्त्रसार, पृ. 35.
   (ख) द्रष्टव्य, तन्त्रा, 5.4 का सटिप्पण अनुवाद.
2. द्रष्टव्य तन्त्रा 5.5 तथा उस पर विवेक.

3. केचिद्धि उपायाः संविदि संनिकृष्टाः, केचिच्च विप्रकृष्टाः। ..... इति नीत्या बुद्ध्याद्यपेक्षया तत्र प्राणस्यान्तरंगत्वात् तद्गतमुच्चारादि संनिकृष्टं तदपेक्षया च बुद्धिगतं ध्यानादिविप्रकृष्टं, ततोऽपि देहगतं करणादि इति। .... तेनाणुषु भेदिषूपायेषु भवः इत्याणवः। विवेक, 5.6.

4. निश्चयो बहुधा चैव तत्रोपायाश्च भेदिनः। अणुशब्देन ते चोक्ता दूरान्तिकविभेदतः।। तन्त्रा, 5.6.

5. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 5.8.

6. वही, 5.9-19, 12-13.

7. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। मावि, 2.21.

8. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 5.155-56 का सटिप्पण अनुवाद.

9. वही, 5.156-57.

10. वही, 5.158-59.

11. तन्त्रा, 5.41 का सटिप्पण अनुवाद.

12. वही, 5.20.

13. वही, 5.40.

14. वही, 5.42.

15. वही, 5.21.

16. वही, 5.26 तथा द्वादशकाली के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य-तन्त्रा, 4.148-180 का सटिप्पण अनुवाद।

17. देखिये-तन्त्रा, 5.33-34 का सटिप्पण अनुवाद.

18. तत्र प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपस्य वह्न्यर्कसोमत्रितयस्य संघट्टं ध्यायेत्,
यावदसौ महाभैरवाग्निर्ध्यानवातसमिद्धाकारः सम्पद्यते। तन्त्रसार, पृ. 36

19. तद्द्वादशमहाशक्तिरश्मिचक्रेश्वरं विभुम्।
व्योमभिर्निःसरद्वाह्ये ध्यायेत् सृष्ट्यादिभावकम्।।
तद्ग्रस्तसर्वबाह्यान्तर्भावमण्डलमात्मनि।
विश्राम्यन् भावयेद्योगी स्यादेवं स्वात्मनः प्रथा।। तन्त्रसार, पृ. 37.

20. देखिये-तन्त्रा, 5.37-38 का सटिप्पण अनुवाद।

21. वही, 5.36-38 का सटिप्पण अनुवाद.

22. वही, 5.40.

23. देखिये-तन्त्रा, 5.44-52 का सटिप्पण अनुवाद.

24. सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमय-यज्ञयाजिनः।।
विवेक,5, पृ. 371 में उद्धृत.

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः।।
स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्।। तन्त्रा, 6.217-18

ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, इनके संध्यक्षरः ए, ओ, ऐ, औ, बिन्दु तथा विसर्ग वर्ण के 'परतर' रूप हैं[104] (6.219-21)। वर्ण के सूक्ष्म रूप के तीन भेद हैं : सूक्ष्मसूक्ष्म, स्थूलसूक्ष्म तथा सूक्ष्मपर।[105] स्थूल वर्णोदय वर्णक्रम से (8-8 वर्गों को मिलाकर) होता है और एक-एक वर्ण को लेकर भी। वर्ण संख्या में कुल पचास हैं (6.249), कुछ आचार्य 49 भी मानते हैं (6.250)। इन वर्णों को 81 अर्धमात्राओं में भी विभाजित किया जाता है, जिनमें कादि की 33, ह्रस्व की 10, दीर्घ की 32 तथा प्लुत की 6 अर्धमात्राएँ होती हैं।[106] इक्यासी अर्धमात्राएँ मन्त्रात्मक हैं। अतः उन्हें श्रीमातंगतन्त्र में एकाशीतिपदा देवी कहा गया है (6.227-28)।

प्रत्येक वर्ण या अर्धमात्रा शिव की वाचक हैं। जहाँ तक एक ज्ञान रहता है वहाँ तक एक वर्ण या अर्ध मात्रा पद कहलाता है। व्याकरण के अनुसार तो पद सुबन्त-तिङन्तरूप होता है, किन्तु शैवागमों के अनुसार एक ध्यान का विषय जो भी है वही पद है।[107] इसी दृष्टि से इक्यासी अर्धमात्राओं को एकाशीतिपदा देवी कहा गया है।

इन मन्त्रात्मक तथा शिवात्मक वर्णों अर्धमात्राओं अथवा पदों की प्राणवाह तथा अपानवाह में शरीर के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कालांशों में की जाने वाली साधना ही वर्णोदय है। योगी अपनी साधना से (वर्ण, मन्त्र तथा पद में विभक्त) कालाध्वा को उसके विभिन्न आयामों-क्षण, घटिका, प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्पादि में अपने प्राणों में व्याप्त कर लेता है। इस व्याप्ति से वह असंख्य तथा विचित्र सृष्टि तथा संहार का अपने प्राणस्पन्दनों में आकलन कर लेता है और इस सृष्टि-संहार के रहस्य ज्ञान से वह अपने परमेश्वर रूप को पहिचान लेता है। यह प्रत्यभिज्ञा ही मुक्ति है।

संविद्रूपस्यात्मनः प्राणशक्तिं पश्यन् रूपं तत्रगं चातिकालम्।
साकं सृष्टिस्थेमसंहारचक्रैर्नित्योद्युक्तो भैरवीभावमेति।

तन्त्रसार, अह्निक 6

-: सन्दर्भ :-

1. (क) यदा तु उपायान्तरम् असौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपान् उपायत्वेन गृह्णन् अणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानम् आविर्भावयति। तन्त्रसार, पृ. 35.
   (ख) द्रष्टव्य, तन्त्रा, 5.4 का सटिप्पण अनुवाद.
2. द्रष्टव्य तन्त्रा 5.5 तथा उस पर विवेक.

3. केचिद्धि उपायाः संविदि संनिकृष्टाः, केचिच्च विप्रकृष्टाः। ..... इति नीत्या बुद्धयाद्यपेक्षया तत्र प्राणस्यान्तरंगत्वात् तद्गतमुच्चारादि संनिकृष्टं तदपेक्षया च बुद्धिगतं ध्यानादिविप्रकृष्टं, ततोऽपि देहगतं करणादि इति। .... तेनाणुषु भेदिषूपायेषु भवः इत्याणवः। विवेक, 5.6.

4. निश्चयो बहुधा चैव तत्रोपायाश्च भेदिनः। अणुशब्देन ते चोक्ता दूरान्तिकविभेदतः।। तन्त्रा, 5.6.

5. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 5.8.

6. वही, 5.9-19, 12-13.

7. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। मावि, 2.21.

8. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 5.155-56 का सटिप्पण अनुवाद.

9. वही, 5.156-57.

10. वही, 5.158-59.

11. तन्त्रा, 5.41 का सटिप्पण अनुवाद.

12. वही, 5.20.

13. वही, 5.40.

14. वही, 5.42.

15. वही, 5.21.

16. वही, 5.26 तथा द्वादशकाली के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य-तन्त्रा, 4.148-180 का सटिप्पण अनुवाद।

17. देखिये-तन्त्रा, 5.33-34 का सटिप्पण अनुवाद.

18. तत्र प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपस्य वह्न्यर्कसोमत्रितयस्य संघट्टं ध्यायेत्,
यावदसौ महाभैरवाग्निर्ध्यानवातसमिद्धाकारः सम्पद्यते। तन्त्रसार, पृ. 36

19. तद्द्वादशमहाशक्तिरश्मिचक्रेश्वरं विभुम्।
व्योमभिर्निःसरद्वाह्ये ध्यायेत् सृष्ट्यादिभावकम्।।
तद्ग्रस्तसर्वबाह्यान्तर्भावमण्डलमात्मनि।
विश्राम्यन् भावयेद्योगी स्यादेवं स्वात्मनः प्रथा।। तन्त्रसार, पृ. 37.

20. देखिये-तन्त्रा, 5.37-38 का सटिप्पण अनुवाद।

21. वही, 5.36-38 का सटिप्पण अनुवाद.

22. वही, 5.40.

23. देखिये-तन्त्रा, 5.44-52 का सटिप्पण अनुवाद.

24. सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमय-यज्ञयाजिनः।।
विवेक,5, पृ. 371 में उद्धृत.

25. पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते।। वही, पृ. 372 में उद्धृत.

26. इसमें कोई सन्देह नहीं कि तान्त्रिक गुह्य साधना में लैंगिक भोगपद्धति द्वारा भैरवसमावेश, भैरवमुद्रानुप्रवेश अथवा महाव्याप्ति (परतत्त्व का साक्षात्कार) प्रचलित था। तन्त्रालोक आ. 29 (पृ.1.172) में कौल 'रहस्यविधि' (गुह्य साधना) का विस्तृत विवेचन है।

27. इह खलु सर्वेषां ग्राम्यधर्मसेवनं तावदनुक्तसिद्धं तत्रैव युक्तिलेशमाश्रित्य अवधानमात्रमेव चेत् कृतं तदयत्नेनैव विसर्गभूः समासादिता भवेत्। तन्त्रा, आ 5. विवेक, पृ.377.

28. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य - विज्ञानभैरव, श्लोक, 68.

29. लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भवत् स्मृतेः। शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः।। वही, श्लोक, 69.

30. द्रष्टव्य-तन्त्रा, 5.99 का सटिप्पण अनुवाद।

31. इस सम्बन्ध में विवेक (5.106) पृ. 417-18, का निष्कृष्टार्थ उल्लेखनीय है: एवं प्रथमं विशिष्टपूर्वस्पर्शोदयात् आनन्दमात्रानुभवो न तु द्विविधस्यापि बन्धस्य व्युपरमः। तदनु देहादावात्मा-भिमान-विगलनेन आत्मन्येवात्माभिमान उदेति किं तु क्षणमात्रं पुनरपि व्युत्थानादौ तादवस्थ्यादनन्तरं देहादावात्माभिमानस्य साक्षाद्विलयः, तदनु तत्संस्कारस्यापि यावदन्ते यथायथमात्मन्ये-वात्माभिमानस्य प्ररोहान्महती व्याप्तिः प्रवर्तते, इति पञ्चभिरेव लक्षणैः पर्याप्तम्, इति तान्येवोपात्तानि न पुनरन्यानि तेषामत्रैवान्तर्भावात्।।

32. इस उच्चार-विधि की योग के प्राणायाम तथा वेदान्त की भूमिका से तुलना के लिये द्रष्टव्य-डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित, काश्मीर-शैव-दर्शन, पृ. 199.

33. अर्थस्य प्रतिपत्तिर्या ग्राह्यग्राहकरूपिणी। सा एव मन्त्रशक्तिस्तु विततता मन्त्रसंततौ। तन्त्रा, 16.252-53.

34. यत्तु सर्वविभागात्म स्वतंत्रं बोधसुन्दरम्। सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्त्वं परशिवाभिधम्।। तन्त्रा, 11.21

35. इह किल दृक्कर्मेच्छाः शिव उक्तास्तास्तु वेद्यखण्डनके। तन्त्रा, 15.338

36. एवं त्रिविधविमर्शावेशसमापत्तिधाम्नि य उदेति। संवित्परिमर्शात्मा ध्वनिस्तदेवेह मन्त्रवीर्यं स्यात्।। तन्त्रा, 29.140

37. यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः। तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम्।। तन्त्रा, 25.172

38. इह ग्राह्यादिभिः सप्तभिः प्रकारैर्भिन्नं करणं नाम बोधपूर्वकमभ्यासं प्राहुः।
विवे-, 5.129, पृ. 439.

39. ईप्रका, 4.3.12

40. दीक्षोत्तर ग्रन्थ के अनुसार संहारबीज को क्षों, भों, रों, यों या क्षें, में, रें, यें माना जा सकता है या ऐं, ओं, क्षं, मं, रं,यं।

41. भ्रियात्सर्वं रचयति सर्वदो व्यापकोऽखिले। इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः।। विभै, 130 श्लोक.

42. एतदेव हि विचार्यमाणं मन्त्राणां परं वीर्यम्। विवेक, 5.136, पृ. 449.

43. तत एवं सकलसिद्धिवितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्यमागमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते। ईप्रवि, 1.4.1, पृ. 154.

44. द्रष्टव्य-तन्त्रा, 5.137-39 का सटिप्पण अनुवाद। स्मरण के स्वरूप एवं महत्त्व के सम्बन्ध में ईप्रका, 1.4.2-3; 1.5-14 भी द्रष्टव्य हैं।

45. घटादिषु लौकिकेषु पुनः शब्देषु वाच्यसद्भावादेरपूर्णत्वात् समयाद्यपेक्षत्वमित्यर्थसिद्धम्। विवेक, 5.141, पृ. 456.

46. कादौ मान्तं साच्के अनच्के वा अन्तरुच्चारिते स्मृते वा समविशिष्टः संवित्स्पन्दस्पर्शः समयानपेक्षित्वात् परिपूर्णः। तन्त्रसार, पृ. 42.

47. अन्तःस्फुरद्विमर्शानन्तरसमुद्भूतं सितपीताद्यान्तरं वर्णम् उद्भाव्यमानं संविदम् अनुभावयति इति केचित्। तन्त्रसार, पृ. 43.

48. तुलना कीजिएः

कालशक्त्यवच्छिन्नो हि क्रिया-विवर्तः दिक्शक्त्यवच्छिन्नश्च मूर्तिविवर्त इति मूर्तिक्रियाविवर्तरूपं विश्वं प्रतिपादितम्। वाक्यपदीय, 3, खण्ड 1, पृ. 117.

49. शिव की प्राप्ति का मार्ग होने के कारण इसे 'अध्वा' कहा जाता है। अध्वा शब्द के द्विविध अर्थ तथा निशाचार आगम के अनुसार सभी संज्ञाओं के त्रिविध भेद के लिये द्रष्टव्य-तन्त्रा, 6.30-32 का सटिप्पण अनुवाद।

50. विभिन्न दर्शनों के अनुसार काल की अवधारणा के लिये द्रष्टव्य -

(क) डॉ. कुमारकिशोर मण्डल, A comporative study of the concepts of space and time in Indian thought, Chapter P. 4-8.

(ख) डॉ. सत्यव्रतशास्त्री, Esses on indology, P. 191-204

51. शिव को शून्यप्रमाता, सदाशिव को बुद्धिप्रमाता, ईश्वर को प्राणप्रमाता तथा शुद्धविद्या को देहप्रमाता माना जाता है। एतदर्थ द्रष्टव्य-तन्त्रा, 6.43-44 का सटिप्पण अनुवाद।

52. अयमेव हि शिखाबन्धो यत्प्राणशक्तेः प्रतिचारमादिमध्यान्तेष्ववधानेन पुनः पुनः परामर्शनं नाम।

53. द्रष्टव्य-तन्त्रा, 6.47-48 का सटिप्पण अनुवाद।

54. स्वच्छन्दशास्त्र में कन्द (लिंगमूल) से प्राणस्पन्दन की अस्फुट संवेद्यता मानकार कन्दाधार से ही सभी नाडियों का उद्गम माना गया हैः

नाभ्यधो मेढकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः।
तस्माद् विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये।। स्वतं, 7.7

किन्तु वहाँ भी हृदय से ही प्र"गचार की स्फुट संवेद्यता मानी गई है। द्रष्टव्य स्वतं, 7.21

55. इन शक्तियों के स्वरूप एवं कार्य के लिये द्रष्टव्य 6.56-57 का सटिप्पण अनुवाद।

56. (क) सृष्ट्यादितत्त्वमज्ञात्वा न मुक्तो नापि मोचयेत्। तन्त्रा, 6.58.

(ख) उत्पत्तिस्थितिसंहारान् ये न जानन्ति योगिनः। न मुक्तास्ते तदज्ञानबन्धनैकाधिवासिताः।। वही, 6.59.

57. सृष्ट्यादयश्च ते सर्वे कालाधीना च संशयः।
स च प्राणात्मकस्तस्मादुच्चारः कथ्यते स्फुटः।। वही,6.60.

58. हृदयात्प्राणचारश्च नासिक्यद्वादशान्ततः। षट्त्रिंशदंगुलो जन्तोः सर्वस्य स्वांगुलक्रमाम्।। वही, 6.61

59. तत्र हृदयात् द्वादशान्तान्तं स्वांगुलैः सर्वस्य षट्त्रिंशदंगुलः प्राणचारः निर्गमे प्रवेशे च, स्वोचितबलयत्नदेहत्वात् सर्वस्य। तत्र घटिका तिथिः मासो वर्ष च वर्षसमूहात्मा, इति समस्तः कालः परिसमाप्यते। तन्त्रसार, पृ. 48.

60. अतश्च तथा संविदः उदयः प्रमातृणां वेद्यग्रहणपरत्वादेस्तारतम्यात्कस्यचित्क्षणः कस्यचित्कल्पः कस्यचित्रिमेषोऽपि स्यात्। विवेक, आ. 6, पृ. 70.

61. इसके विपरीत श्रीसन्तानगुरु के मत के लिए द्रष्टव्य-तन्त्रा, 6.89-90 का सटिप्पण अनुवाद।

62. प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः। विवेक, आ.6, पृ. 55 में उद्धृत.

63. द्रष्टव्य-तन्त्रा, 6.64 का सटिप्पण अनुवाद.

64. संध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः। विवेक, आ. 6, पृ. 57 में उद्धृत.

65. राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता। स्वतं, 7.43.

66. अभिजित् नक्षत्र के योग में की गई प्राणसाधना विशेष फलदायिनी होती है। द्रष्टव्य - स्वतं, 7.48.

67. कक्षाणि राशयश्चैव तारास्त्वंशास्तथैव च।
प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते।। स्वतं, 7.31.

68. वीरावलीकुल के उद्धरणों के लिए द्रष्टव्य - विवेक, आ. 6, पृ. 66-67.

69. श्रीकामिकागम के अनुसार, यही प्राणापान में विभक्त शिवरूपिणी माया का दक्षनाडी तथा वामनाडी में प्रवाह है (6.94).

70. चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएँ तो क्रमशः क्षीण होती रहती हैं किन्तु सोलहवीं (षोडशतुटिरूपा) अमृता नामक कला का कभी विनाश नहीं होता (6.96)।

71. तिथिच्छेद के सम्बन्ध में द्रष्टव्य - तन्त्रा, 6.109 का सटिप्पण अनुवाद।

72. तत्रैवं स्थिते सति तुट्यर्धद्वयमध्यादामावस्यं पूर्वमर्धम् अर्थात्परस्मिन्प्रातिपदेऽर्धे वक्ष्यमाणादृण शब्दाभिधेयात् तिथिच्छेदाद्विशत् सत् सूर्यग्रहणं कुर्यात्, प्रतिपदमावास्यासंघट्टात्सूर्यग्रहणं भवेत्। विवेक, आं. 6 पृ. 86-87.

73. पक्षसन्धि सूर्य का ग्रहण तथ. उसकी मुक्ति के सम्बन्ध में स्वतं 7.69-72 द्रष्टव्य है।

74. प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्रविद्राविताभृतरसोत्सुकितः खमाता।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत्त्रयघट्टनज्ञः।।
विवेक, आ. 6, पृ. 89 में उद्धृत

75. पूर्णिमाप्रतिपत्संभेदेनैवन्दुग्रहो भवेत् न तु शुद्धायामेव प्रतिपद्यपि। विवेक, पृ. 97

76. द्रष्टव्य-स्वतं, 7.94 तथा मन्त्रा, 6.115 का सटिप्पण अनुवाद.

77. षडंगुलं च संक्रामो मकरादिषु राशिषु।
भानोर्माद्याषाढान्तं भवेत्तच्चोत्तरायणम्।। विवेक, ओ. 6, 98 में उद्धृत।

78. प्रत्येक राशि में संक्रान्ति के अलग-अलग फल तथा उनके अवान्तर भेद के लिए द्रष्टव्य - तन्त्रा, 6.117-120 का सटिप्पण अनुवाद।

79. एक मास का उदय छह अंगुल का होता है, प्रत्येक अंगुल में पाँच तिथियाँ होती हैं, इस प्रकार छह अंगुलों में तीस तिथियाँ होती हैं तथा प्रत्येक अंगुल के पाँचवे अंश में अहोरात्र होता है अर्थात् अंगुल के एक दशांश में दिन और एक दशांश में रात होती है। द्रष्टव्य-तन्त्रा, 6.121 तथा स्वतं, 7.91.

80. द्रष्टव्य-6.122-23 का सटिप्पण अनुवाद।

81. संक्रान्तयो द्वादशान्ते यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः। द्वादशाब्दोदयं प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः।। स्वतं, 7.126.

82. प्रत्यंगुलं तिथीनां तु त्रिशते परिकल्पिते। सपंचांशांगुलेऽब्दः स्यात्प्राणे षष्ट्यब्दता पुनः।। तन्त्रा, 6.126.

83. विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम्। अहोरात्रास्तु षष्ट्यब्दे संख्यातास्तु वरानने।। स्वतं, 7.136.

84. अन्तर्या षष्ट्यब्दोदये तिथिसंख्या तद्बहिर्दिनरात्रं प्राणचारकल्पनम्।
तन्त्रसार, पृ. 53 पर पाद टिप्पणी सं. 35.

85. यन्नाम हि नित्यनैमित्तिकादि बाह्ये प्रयत्नशतैरपि पुरुषायुषेण निष्पत्तिं यायात् न वा, तदन्तरेकस्मिन्नेव प्राणचारे प्रहराहर्निशादिक्रमेण क्षणमात्रमवधानात्सुखमेव योगिनः सिध्येत्। विवेक, आ. 6, पृ. 110.

86. न षष्ट्यब्दोदयादधिकं परीक्ष्यते आनन्त्यात्। तन्त्रसार, पृ. 53.

87. इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग के लिए द्रष्टव्य विवेक, आ. 6, पृ. 111-14.

88. श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे च तदैव मतमीक्ष्यते। 6.136.

89. उक्तं च गुरुभिः श्रीमद्रौरवादिस्ववृत्तिषु। 6.134.

90. (क) यत् पित्र्यं वर्षं तदेव दिव्यमुच्यते, येन पित्रॄणां देवानामपि अहोरात्रादि समानमेवेति भावः। विवेक, आ. 6, पृ. 115.

(ख) एवं पित्र्यं वर्षं देवानां दिनमिति यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेव। वही, पृ. 119.

91. चौदह मन्वन्तरों के अधिष्ठाता मनु हैं: स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम, चैरिष्णव या रैवत, तामस, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्य, मौत्य। छह मन्वन्तर समाप्त हो चुके हैं तथा वर्तमान में वैवस्वत मन्वन्तर है। युगों, मन्वन्तरों तथा कल्पों के लिये द्रष्टव्य-मनुस्मृति, 1.69-71.

92. द्रष्टव्य - स्वतं, 11.309.

93. तन्त्रसार, पृ. 56 में मध्य से पूर्व अन्त्य को लिखा है: अन्त्यं, मध्यं, परार्ध ....

94. तुलना के लिये द्रष्टव्य - डॉ. कुमारकिशोर मण्डल, A Comparative study of the Concepts of space and time in Indian Thought P. 32-39 तथा ज्योतिषशास्त्र के अनुसार काल के विभागों के विवेचन के लिए द्रष्टव्य - B.N.Sil, The Positive sciences of the encient Hindus P. 76-80 मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1958.

95. चत्वार एते प्रलया मुख्याः सर्गाश्च तत्कलाः।
भूमूलनैशशक्तिस्थास्तदेवाण्डचतुष्टयम्।। तन्त्रा, 6.170 तथा द्रष्टव्य, पसा, श्लोक, 4.

96. शश्वद्यद्यप्यपानोऽयमित्थं वहति किन्त्वसौ।
अवेद्ययत्नो यत्नेन योगिभिः समुपास्यते।। तन्त्रा, 6.187-88.

97. स्वत, 7.16.

98. इन दश मुख्य नाड़ियों के अवान्तर भेद 72000 बताये गये हैं :
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः।। वही, 7.9.

99. छह प्राण का एक चषक होता है तथा 60 चषकों की एक घटिका होती है इस प्रकार एक घटिका में (6x60=360) प्राणचार होते हैं।

100. द्रष्टव्य-स्वतं, 7.163.

101. तेन पंचत्रिंशद्घटिके दिने चतुर्दशसंक्रान्तयः, पंचविंशतिघटिकायां रात्रौ दशेति। विवेक, आ.6, पृ.173.

102. इह तावत्प्राणचारे वर्णानां पदानां मन्त्राणां चोदय इति स्थितम्। स तु द्विधा स्वारसिकः प्रायत्निकश्चेति। तत्राद्यो वर्णानां तेषां नैयत्येन सर्वत्रैवाविशेषात्, द्वितीयस्तु पदानां मन्त्राणां च, ते हि वर्णवदपरिगणि-तत्वादनियताः, इति योगीच्छानिबन्धन एवैषामुदयः। यो हि यस्याभिप्रेतो मन्त्रादिः स तस्योदयं कारयेत्, अतश्च परेच्छाधीनत्वादेषां प्रायत्निक एवोदयः। विवेक, 6 पृ. 177

103. इत्ययत्नजमाख्यातं यत्नजं तु निगद्यते। तन्त्रा, 7.2.

104. क वर्ग अकार के भीतर स्थित है, इकार के भीतर च वर्ग तथा यकार, शकार स्थित हैं। क्रमशः प्राणरूप तथा जीवनरूप होने के कारण सकार का उदय हृदय में तथा इकार का सर्वत्र उदय माना गया है। द्रष्टव्य - तन्त्रा, 6.222-23.

105. सूक्ष्मसूक्ष्म के लिये तन्त्रा, 6.224, स्थूलसूक्ष्म के लिये 6.225-37, तथा सूक्ष्मपर के लिये 6.238-39 का सटिप्पण अनुवाद द्रष्टव्य है।

106. कादीनां त्रयस्त्रिंशदर्धमात्राः, ह्रस्वानां दश, दीर्घाणां द्वात्रिंशत् प्लुतस्य षडित्येकाशीतिरर्धमात्राणाम्। विवेक, आ. 6, पृ. 184.

107. द्रष्टव्य - तन्त्रा, 6.229-30।

■

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ परिच्छेद

(अ) चतुर्थ आह्निक का मूलपाठ

अथ शाक्तमुपायमण्डलं कथयामः परमात्मसंविदे।।1।।
अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन्स्वभावे पारमेश्वरे।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा।।2।।
विकल्पः संस्कृतः सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम्।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम्।।3।।
चतुर्ष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ।
अस्फुटः स्फुटताभावी प्रस्फुटन्स्फुटितात्मकः।।4।।
ततः स्फुटतरो यावदन्ते स्फुटतमो भवेत्।
अस्फुटादौ विकल्पे च भेदोऽप्यस्त्यान्तरालिकः।। 5।।
ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम्।।6।।
अतश्च भैरवीयं यत्तेजः संवित्स्वभावकम्।
भूयो भूयो विमृशतां जायते तत्स्फुटात्मता।।7।।
ननु संवित्पराम्रष्ट्री परामर्शमयी स्वतः।
परामृशा कथं ताथारूप्यसृष्टौ तु सा जडा।।8।।
उच्यते स्वात्मसंवित्तिः स्वभावादेव निर्भरा।
नास्यामपास्यं नाधेयं किञ्चिदित्युदितं पुरा।। 9।।
किं तु दुर्घटकारित्वात्स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डितः परमेश्वरः।।10।।
अनावृत्ते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः।
सैव माया यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिकः।।11।।

तथाभासनमेवास्य द्वैतमुक्तं महेशितुः।
तद्द्वयापासनेनायं परामर्शोऽभिधीयते। ।।12।।
दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तन्ति कोविदाः।
धारारूढेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चयः।।13।।
तामेनां भावनामाहुः सर्वकामदुधां बुधाः।
स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथपदादपि।।14।।
श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते।।15।।
मार्गे चेतः स्थिरीभूतं हेयेऽपि विषयेच्छया।
प्रेर्य तेन नयेत्तावद्यावत्पदमनामयम्।।16।।
मार्गोऽत्र मोक्षोपायः स हेयः शास्त्रान्तरोदितः।
विषिणोति निबध्नाति येच्छा नियतिसङ्गतम्।।17।।
रागतत्त्वं तयोक्तं यत् तेन तत्रानुरज्यते।
यथा साम्राज्यसंभोगं दृष्ट्वाष्ट्वथवाधमे।।18।।
भोगे रज्येत दुर्बुद्धिस्तद्वन्मोक्षेऽपि रागतः ।
स एवांशक इत्युक्तः स्वभावाख्यः स तु स्फुटम।।19।।
सिद्ध्यङ्गमिति मोक्षाय प्रत्यूह इति कोविदाः।
शिवशासनमाहात्म्यं विदन्नप्यत एव हि।।20।।
वैष्णवाद्येषु रज्येत मूढो रागेण रञ्जितः।
यतस्तावति सा तस्य वामाख्या शक्तिरैश्वरी।।21।।
पाञ्चरात्रिकवैरिञ्च सौगतादेर्विजृम्भते।
दृष्टः साम्राज्यसंभोगं निन्दन्तः केऽपि वालिशाः।।22।।
न तु संतोषतः स्वेषु भोगेष्वाशीः प्रवर्तनात्।
एवं चिद्भैरवावेशनिन्दातत्परमानसाः।।23।।
भवन्त्यतिसुघोराभिः शक्तिभिः पातिता यतः।
तेन शांभवमाहात्म्यं जानन्यः शासनान्तरे।।24।।
आश्वस्तो नोत्तरीतव्यं तेन भेदमहार्णवात्।
श्रीकामिकायां प्रोक्तं च पाशप्रकरणे स्फुटम्।।25।।
वेदसांख्यपुराणज्ञाः पाञ्चरात्रपरायणाः।
ये केचिदृषयो धीराःशास्त्रान्तरपरायणाः।।26।।

बौद्धार्हताद्याः सर्वे ते विद्यारागेण रञ्जिताः।
मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षां न विन्दते।।27।।
रागशब्देन च प्रोक्तं रागतत्त्वं नियामकम्।
मायीये तच्च तं तस्मिञ्छास्त्रे नियमयेदिति।।28।।
मोक्षोऽपि वैष्णवादेर्यः स्वसङ्कल्पेन भावितः।
परप्रकृतिसायुज्यं यद्वाप्यानन्दरूपता।।29।।
विशुद्धचित्तमात्रं वा दीपवत्संततिक्षयः।
स सवेद्यापवेद्यात्मप्रलयाकलतामयः।।30।।
तं प्राप्यापि चिरं कालं तद्भोगाभोगभुक्ततः।
तत्तत्त्वप्रलयान्ते तु तदूर्ध्वां सृष्टिमागतः।।31।।
मन्त्रत्वमेति संबोधादनन्तेशेन कल्पितात्।
एतच्चाग्रे तनिष्याम इत्यास्तां तावदत्र तत्। (32)
तेनाज्ञजनताक्लृप्तप्रवादैर्यो विडम्बितः।
असद्गुरौ रूढचित् स मायापाशेन रञ्जितः।।33।।
सोऽपि सत्तर्कयोगेन नीयते सद्गुरुं प्रति।
सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः।।34।।
श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं स यियायुः शिवेच्छया।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति।।35।।
शक्तिपातस्तु तत्रैष क्रमिकः संप्रवर्तते।
स्थित्वा योऽसद्गुरौ शास्त्रान्तरे वा सत्पथं श्रितः।।36।।
गुरुशास्त्रगते सत्त्वेऽसत्त्वे चात्र विभेदकम्।
शक्तिपातस्य वैचित्र्यं पुरस्तात्प्रविविच्यते।।37।।
उक्तं स्वच्छन्दशास्त्रे तत् वैष्णवाद्यान्प्रवादिनः।
सर्वान्भ्रमयते माया सा मोक्षे मोक्षलिप्सया।।38।।
यस्तु रूढोऽपि तत्रोद्यत्परामर्शविशारदः।
स शुद्धविद्यामाहात्म्याच्छक्तिपातपवित्रितः।।39।।
आरोहत्येव सन्मार्गं प्रत्यूहपरिवर्जितः।
स तावत्कस्यचित्तर्कः स्वत एव प्रवर्तते।।40।।
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः।
किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।।41।।

तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्वपूर्व उपायकः।
यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः सर्वत्रैवाधिकारवान्।।42।।
अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः।
स एव सर्वाचार्याणां मध्ये मुख्यः प्रकीर्तितः।।43।।
तत्संनिधाने नान्येषु कल्पितेष्वधिकारिता।
स समस्तं च शास्त्रार्थं सत्तर्कादेव मन्यते।।44।।
शुद्धविद्या हि तन्नास्ति सत्यं यद्यन्न भासयेत्।
सर्वशास्त्रार्थवेतृत्वमकस्माच्चास्य जायते।।45।।
इति श्रीपूर्ववाक्ये तद् अकस्मादिति-शब्दतः।
लोकाप्रसिद्धो यो हेतुः सोऽकस्मादिति कथ्यते।।46।।
स चैष परमेशानशुद्धविद्याविजृम्भितम्।
अस्य भेदाश्च बहवो निर्भित्तिः सहभित्तिकः।।47।।
सर्वगोंऽशगतः सोऽपि मुख्यामुख्यांशनिष्ठितः।
भित्तिः परोपजीवित्वं परा प्रज्ञाथ तत्कृतिः।।48।।
अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चिद्वेत्ति तत्त्वतः।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः।।49।।
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिंशकशासने।।50।।
अकल्पितो गुरुर्ज्ञेयः सांसिद्धिक इति स्मृतः।
यस्तु तद्रूपभागात्मभावनातः परं विना।।51।।
शास्त्रवित्स गुरुः शास्त्रे प्रोक्तोऽकल्पितकल्पकः।
तस्यापि भेदा उत्कृष्टमध्यमन्दाद्युपायतः।।52।।
भावनातोऽथ वा ध्यानाज्जपात्स्वप्नाद्व्रताद्धुतेः।
प्राप्नोत्यकल्पितोदारमभिषेकं महामतिः।।53।।
श्रीमद्वाजसनीये श्रीवीरे श्रीब्रह्मयामले।
श्रीसिद्धायामिदं धात्रा प्रोक्तमन्यत्र च स्फुटम्।।54।।
तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तत्वात् कारणानन्ततेष्यते।
कदाचिद्भक्तियोगेन कर्मणा विद्ययापि वा।।55।।
ज्ञानधर्मोपदेशेन मन्त्रैर्वा दीक्षयापि वा।
एवमाद्यैरनेकैश्च प्रकारैः परमेश्वरः।।56।।

संसारिणोऽनुगृह्णाति विश्वस्य जगतः पति।
मातृमण्डलसंबोधात् संस्कारात्तपसः प्रिये।।57।।
ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञानान्मन्त्राराधनतो व्रतात्।
संप्राप्यं कुलसामान्यं ज्ञानं कौलिकसिद्धिदम्।।58।।
तत्त्वज्ञानात्मकं साध्यं यत्र यत्रैव दृश्यते।
स एव हि गुरुस्तत्र हेतुजालं प्रकल्प्यताम्।।59।।
तत्त्वज्ञानादृते नान्यल्लक्षणं ब्रह्मयामले।
तत्रैव चोक्तं सेवायां कृतायामविकल्पतः।।60।।
साधकस्य न चेत्सिद्धिः किं कार्यमिति चोदिते।
आत्मीयमस्य संज्ञानक्रमेण स्वात्मदीक्षणम् ।।61।।
सस्फुरत्वप्रसिद्ध्यर्थं ततः साध्यं प्रसिद्ध्यति।
अनेन स्वात्मविज्ञानं सस्फुरत्वप्रसाधकम्।।62।।
उक्तं मुख्यतयाचार्यो भवेद्यदि न सस्फुरः।
तत्रैव च पुनः श्रीमद्रक्ताराधनकर्मणि।।63।।
विधिं प्रोक्तं सदा कुर्वन् मासेनाचार्य उच्यते।
पक्षेण साधकोऽर्धार्धात् पुत्रकः समयी तथा।।64।।
दीक्षयेज्जपयोगेन रक्तादेवी क्रमाद्यतः।
गुरोरलाभे प्रोक्तस्य विधिमेतं समाचरेत्।।65।।
मते च पुस्तकाद्विद्याध्ययने दोष ईदृशः।
उक्तो यस्तेन तद्दोषाभावेऽसौ न निषिद्धता।।66।।
मन्त्रद्रव्यादिगुप्तत्वे फलं किमिति चोदिते।
पुस्तकाधीतविद्या ये दीक्षासमयवर्जिताः।।67।।
तामसाः परहिंसादि वश्यादि च चरन्त्यलम्।
न च तत्त्वं विदुस्तेन दोषभाज इति स्फुटम्।।68।।
पूर्वं पदयुगं वाच्यमन्योन्यं हेतुहेतुमत्।
यस्तु शास्त्रं विना नैति शुद्धविद्याख्यसंविदम्।।69।।
गुरोः स शास्त्रमन्विच्छुस्तदुक्तं क्रममाचरेत्।
येन केनाप्युपायेन गुरुमाराध्य भक्तितः।।70।।
तद्दीक्षाक्रमयोगेन शास्त्रार्थं वेत्त्यसौ ततः।
अभिषेकं समासाद्य यो भवेत्स तु कल्पितः।।71।।

सन्नप्यशेषपाशौघविनिवर्तनकोविदः।
यो यथाक्रमयोगेन कस्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि।।72।।
आकस्मिकं व्रजेद्बोधं कल्पिताकल्पितो हि सः।
तस्य योऽकल्पितो भागः स तु श्रेष्ठतमः स्मृतः।।73।।
उत्कर्षः शुद्धविद्यांशतारतम्यकृतो यतः।
यथा भेदेनादिसिद्धाच्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः।।74।।
तथा सांसिद्धिकज्ञानादाहृतज्ञानिनोऽधमाः।
तत्संनिधौ नाधिकारस्तेषां मुक्तशिवात्मवत्।।75।।
किं तु तूष्णीं-स्थितिर्यद्वा कृत्यं तदनुवर्तनम्।
यस्त्वकल्पितरूपोऽपि संवाददृढताकृते।।76।।
अन्यतो लब्धसंस्कारः स साक्षाद्भैरवो गुरुः।
यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात्।।77।।
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते।
तेन श्रीकिरणोक्तं यदुरुतः शास्त्रतः स्वतः।।78।।
त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमिति यच्च निशाटने।
तत्सङ्घातविपर्यासविग्रहैर्भासते तथा।।79।।
करणस्य विचित्रत्वाद्विचित्रामेव तां छिदम।
कर्तुं वासीं च टङ्कं च क्रकचं चापि गृह्णते।।80।।
तावच्च छेदनं ह्येकं तथैवाद्याभिसंधितः।
इत्थमेव मितौ वाच्यं करणस्य स्वकं वपुः।।81।।
न स्वतन्त्रं स्वतो मानं कुर्यादधिगमं हठात्।
प्रमात्राश्वासपर्यन्तो यतोऽधिगम उच्यते।।82।।
आश्वासश्च विचित्रोऽसौ शक्तिपातवशात्तथा।
प्रमितेऽपि प्रमाणानामवकाशोऽस्त्यतः स्फुटः।।83।।
दृष्ट्वा दृष्टवा समाश्लिष्य चिरं सञ्चर्व्य चेतसा।
प्रिया यैः परितुष्येत किं ब्रूमः किल तान्प्रति।।84।।
इत्थं च मानसंप्लुत्यामपि नाधिगते गतिः।
न व्यर्थता नानवस्था नान्योन्याश्रयतापि च।।85।।
एवं योगाङ्गमियति तर्क एव न चापरम्।
अन्तरन्तः परामर्शपाटवातिशयाय सः।।86।।

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
इति पञ्च यमाः साक्षात्संवित्तौ नोपयोगिनः।।87।।
तपः प्रभृतयो ये च नियमा यत्तथासनम्।
प्राणायामाश्च ये सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम्।।88।।
श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं बोधमात्रे शिवात्मके।
चित्तप्रलयबन्धेन प्रलीने शशिभास्करे।।89।।
प्राप्ते च द्वादशे भागे जीवादित्ये स्वबोधके।
मोक्षः स एव कथितः प्राणायामो निरर्थकः।।90।।
प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र स मुक्तः स च मोचकः।।91।।
प्रत्याहारश्च नामायमर्थेभ्योऽक्षधियां हि यः।
अनिबद्धस्य बन्धस्य तदन्तः किल कीलनम्।।92।।
चित्तस्य विषये क्वापि बन्धनं धारणात्मकम्।
तत्सदृग्ज्ञानसंतानो ध्यानमस्तमिता परम्।।93।।
यदा तु ज्ञेयतादात्म्यमेव संविदि जायते।
ग्राह्यग्रहणताद्वैतशून्यतेयं समाहितिः।।94।।
तदेषा धारणाध्यानसमाधित्रितयी पराम्।
संविदं प्रति नो कञ्चिदुपयोगं समश्नुते।।95।।
योगाङ्गता यमादेस्तु समाध्यन्तस्य वर्ण्यते।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वादन्त्यतर्कोपयोगतः।।96।।
अन्तः संविदि रूढं हि तद्द्वारा प्राणदेहयोः।
बुद्धौ वार्प्यं तदभ्यासान्नैष न्यायस्तु संविदि।।97।।
अथ वास्मदृशि प्राणधीदेहादेरपि स्फुटम्।
सर्वात्मकत्वात्तत्रस्थोऽप्यभ्यासोऽन्यव्यपोहनम्।।98।।
देह उत्प्लुतिसंपात धर्मोज्जिगमिषारसात्।
उत्प्लाव्यते तद्विपक्षपाताशङ्कव्यपोहनात्।।99।।
गुरुवाक्यपरामर्शसदृशे स्वविमर्शने।
प्रबुद्धे तद्विपक्षाणां व्युदासः पाठचिन्तने।।100।।
नह्यस्य गुरुणा शक्यं स्वं ज्ञानं शब्द एव वा।
धियि रोपयितुं तेन स्वप्रबोधक्रमो ध्रुवम्।।101।।

अत एव स्वप्नकाले श्रुते तत्रापि वस्तुनि।
तादात्म्यभावनायोगो न फलाय न भण्यते।।102।।
सङ्केतानादरे शब्दनिष्ठामामर्शनं पठिः।
तदादरे तदार्थस्तु चिन्तेति परिचर्च्यताम्।।103।।
तदद्वयायां संवित्तावभ्यासोऽनुपयोगवान्।
केवलं द्वैतमालिन्यशङ्कानिर्मूलनाय सः।।104।।
द्वैतशङ्काश्च तर्केण तर्क्यन्त इति वर्णितम्।
तत्त्वर्कसाधनायास्तु यमादेरप्युपायता।।105।।
उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च न द्वैतं नापि चाद्वयम्।
लिङ्गपूजादिकं सर्वमित्युपक्रम्य शम्भुना।।106।।
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा।
प्राणायामादिकैरङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमा यतः।।107।।
तत्तेनाकृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।
किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते।।108।।
तत्त्वे चेतः स्थिरं कार्यं तच्च यस्य यथास्त्विति।
एवं द्वैतपरामर्शनाशाय परमेश्वरः।।109।।
क्वचित्स्वभावममलमामृशन्ननिशं स्थितः।
यः स्वभावपरामर्श इन्द्रियार्थाद्युपायतः।।110।।
विनैव तन्मुखोऽन्यो वा स्वातन्त्र्यात्तद्विकल्पनम्।
तच्च स्वच्छस्वतन्त्रात्मरत्ननिर्भासिनि स्फुटम्।।111।।
भावौघे भेदसंधातृ स्वात्मनो नैशमुच्यते।
तदेव तु समस्तार्थनिर्भरात्मैकगोचरम्।।112।।
शुद्धविद्यात्मकं सर्वमेवेदमहमित्यलतम्।
इदं विकल्पनं शुद्धविद्यारूपं स्फुटात्मकम्।।113।।
प्रतिहन्तीह मायीयं विकल्पं भेदभावकम्।
शुद्धविद्यापरामर्शो यः स एव त्वनेकधा।।114।।
स्नानशुद्ध्यर्चनाहोमध्यानजप्यादियोगतः।
विश्वमेतत्स्वसंवित्तिरसनिर्भरितं रसात्।।115।।
आविश्य शुद्धो निखिलं तर्पयेदध्वमण्डलम्।
उल्लासिबोधहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदिते।।116।।

सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नाननमुच्यते।
इत्थं च विहितस्नानस्तर्पितानन्तदेवतः।।117।।
ततोऽपि देहारम्भीणि तत्त्वानि परिशोधयेत्।
शिवात्मकेष्वप्येतेषु बुद्धिर्या व्यतिरेकिणी।।118।।
सैवाशुद्धिः पराख्याता शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम्।
एवं स्वदेहं बोधैकपात्रं गलितभेदकम्।।119।।
पश्यन्संवित्तिमात्रत्वे स्वतन्त्रे तिष्ठति प्रभुः।
यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।।120।।
योज्यते ब्रह्ममसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत्।
पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।।121।।
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना।
तथाहि संविदेवेयमन्तर्बाह्योभयात्मना।।122।।
स्वातन्त्र्याद्वर्तमानैव परामर्शस्वरूपिणी।
स च द्वादशधा तत्र सर्वमन्तर्भवेद्यतः।।123।।
सूर्य एव हि सोमात्मा स च विश्वमयः स्थितः।
कलाद्वादशकात्मैव तत्संवित्परमार्थतः।।124।।
सा च मातरि विज्ञाने माने करणगोचरे।
मेये चतुर्विधं भाति रूपमाश्रित्य सर्वदा।।125।।
शुद्धसंविन्मयी प्राच्ये ज्ञाने शब्दनरूपिणी।
करणे ग्रहणाकारा यतः श्रीयोगसञ्चरे।।126।।
ये चक्षुर्मण्डले श्वेते प्रत्यक्षे परमेश्वरि।
षोडशारं द्वादशारं तत्रस्थं चक्रमुत्तमम्।।127।।
प्रतिवारणवद्रक्ते तद्बहिर्ये तदुच्यते।
द्वितीयं मध्यगे ये ते कृष्णश्वेते च मण्डले।।128।।
तदन्तर्ये स्थिते शुद्धे भिन्नाञ्जनसमप्रभे।
चतुर्दले तु ते ज्ञेये अग्नीषोमात्मके प्रिये।।129।।
मिथुनत्वे स्थिते ये च चक्रे द्वे परमेश्वरि।
संमिलनोन्मीलनं ते अन्योन्यं विदधातके।।130।।
यथा योनिश्च लिङ्गं च संयोगात्स्रवतोऽमृतम्।
तथामृताग्निसंयोगाद् द्रवतस्ते न संशयः।।131।।

तच्चक्रपीडनाद्रात्रौ ज्योतिर्भात्यर्कसोमगम्।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्सनां कालज्ञानं प्रवर्तते।।132।।
सहस्रारं भवेच्चक्रं ताभ्यामुपरि संस्थितम्।
ततश्चक्रात्समुद्भूतं ब्रह्माण्डं तदुदाहृतम्।।133।।
तत्रस्थां मुञ्चते धारां सोमो ह्यग्निप्रदीपितः।
सृजतीत्थं जगत्सर्वमात्मन्यात्मन्यनन्तकम्।।134।।
षोडशद्वादशाराभ्यामष्टारेष्वथ सर्वशः।
एवं क्रमेण सर्वत्र चक्रेष्वमृतमुत्तमम्।135।।
सोमः स्रवति यावच्च पञ्चानां चक्रपद्धतिः।
तत्पुनः पिबति प्रीत्या हंसो हंस इति स्फुरन्।136।।
सकृद्यस्य तु संश्रुत्या पुण्यपापैर्न लिप्यते।
पञ्चारे सविकारोऽथ भूत्वा सोमसुतामृतात्।।137।।
धावति त्रिरसाराणि गुह्यचक्राण्यसौ विभुः।
यतो जातं जगल्लीनं यत्र च स्वकलीलया।।138।।
तत्रानन्दश्च सर्वस्य ब्रह्मचारी च तत्परः।
तत्र सिद्धिश्च मुक्तिश्च समं संप्राप्यते द्वयम्।।139।।
अत ऊर्ध्वं पुनर्याति यावद् ब्रह्मात्मकं पदम्।
अग्नीषोमौ समौ तत्र सृज्येते चात्मनात्मनि।।140।।
तत्रस्थस्तापितः सोमो द्वेधा जङ्घे व्यवस्थितः।
अधस्तं पातयेदग्निरमृतं स्रवति क्षणात्।।141।।
गुल्फजान्वादिषु व्यक्तं कुटिलार्कप्रदीपिता।
सा शक्तिस्तापिता भूयः पञ्चारादिक्रमं सृजेत्।।142।।
एवं श्रोत्रेऽपि विज्ञेयं यावत्पादान्तगोचरम्।
पादाङ्गुष्ठात्समारभ्य यावद् ब्रह्माण्डदर्शनम्।।143।।
इत्यजानन्नैव योगी जानन्विश्वप्रभुर्भवेत्।
ज्वलन्निवासौ ब्रह्माद्यैर्दृश्यते परमेश्वरः।।144।।
अत्र तात्पर्यतः प्रोक्तमक्षे क्रमचतुष्टयम्।
एकैकत्र यतस्तेन द्वादशात्मकतोदिता।।145।।
न व्याख्यातं तु निर्भज्य यतोऽतिसरहस्यकम्।
मेयेऽपि देवी तिष्ठन्ती मासराश्यादिरूपिणी।।146।।

अत एषा स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना।
स्वयं निर्भास्य तत्रान्यद्भासयन्तीव भासते।।147।।
ततश्च प्रागियं शुद्धा तथाभासनसोत्सुका।
सृष्टिं कलयते देवी तन्नाम्नागम उच्यते।।148।।
तथा भासितवस्त्वंशरञ्जनां सा बहिर्मुखी।
स्ववृत्तिचक्रेण समं ततोऽपि कलयन्त्यलम्।।149।।
स्थितिरेषैव भावस्य तामन्तर्मुखतारसात्।
संजिहीर्षुः स्थितेर्नाशं कलयन्ती निरुच्यते।।150।।
ततोऽपि संहाररसे पूर्णे विघ्नकरीं स्वयम्।
शङ्कां यमात्मिकां भागे सूते संहरतेऽपि च।।151।।
संहृत्य शङ्कां शङ्क्यार्थवर्जं वा भावमण्डले।
संहृतिं कलयत्येव स्वात्मवह्नौ विलापनात्।।152।।
विलापनात्मिकां तां च भावसंहृतिमात्मनि।
आमृशत्येव येनैषा मया ग्रस्तमिति स्फुरेत्।।153।।
संहार्योपाधिरेतस्याः स्वस्वभावो हि संविदः।
निरुपाधिनि संशुद्धे संविद्रूपेऽस्तमीयते।।154।।
विलापितेऽपि भावौघे कञ्चिद्भावं तदैव सा।
आश्यानयेद्य एवास्ते शङ्का संस्काररूपकः।।155।।
शुभाशुभतया सोऽयं सोष्यते फलसंपदम्।
पूर्वं हि भोगात्पश्चाद्वा शङ्केयं व्यवतिष्ठते।।156।।
अन्यदाश्यानितमपि तदैव द्रावयेदियम्।
प्रायश्चित्तादिकर्मभ्यो ब्रह्महत्यादिकर्मवत्।।157।।
रोधनाद् द्रावणाद्रूपमित्थं कलयते चितिः।
तदपि द्रावयेदेव तदप्याश्यानयेदथ।।158।।
इत्थं भोग्येऽपि संभुक्ते सति तत्करणान्यपि।
संहरन्ती कलयते द्वादशैवाहमात्मनि।।159।।
कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः।
प्रकाशकत्वात्सूर्यात्मा भिन्ने वस्तुनि जृम्भते।।160।।
अहङ्कारस्तु करणमभिमानैकसाधनम्।
अविच्छिन्नपरामर्शी लीयते तेन तत्र सः।।161।।

यथाहि खड्गपाशादेःकरणस्य विभेदिनः।
अभेदिनि स्वहस्तादौ लयस्तद्वदयं विधिः।।162।।
तेनेन्द्रियौघमार्तण्डमण्डलं कलयेत्स्वयम्।
संविद्देवी स्वतन्त्रत्वात्कल्पितेऽहंकृतात्मनि।।163।।
स एव परमादित्यः पूर्णकल्पस्त्रयोदशः।
करणत्वात्प्रयात्येव कर्तरि प्रलयं स्फुटम्।।164।।
कर्ता च द्विविधः प्रोक्तः कल्पिताकल्पितात्मकः।
कल्पितो देहबुद्ध्यादिव्यवच्छेदेन चर्चितः।।165।।
कालाग्निरुद्रसंज्ञास्य शास्त्रेषु परिभाषिता।
कालो व्यवच्छित्तद्युक्तो वह्निर्भोक्ता यतः स्मृतः।।166।।
संसाराक्लृप्तिक्लृप्तिभ्यां रोधनाद् द्रावणात्प्रभुः।
अनिवृत्तपशूभावस्तत्राहंकृत्प्रलीयते।।167।।
सोऽपि कल्पितवृत्तित्वाद्विश्वाभेदैकशालिनि।
विकासिनि महाकाले लीयतेऽहमिदंमये।।168।।
एतस्यां स्वात्मसंवित्ताविदं सर्वमहं विभुः।
इति प्रविकसद्रूपा संवित्तिरवभासते।।169।।
ततोऽन्तः स्थितसर्वात्मभावभोगोपरागिणी।
परिपूर्णापि संवित्तिरकुले धाम्नि लीयते।।170।।
प्रमातृवर्गो मानौघः प्रमाश्च बहुधा स्थिताः।
मेयौघ इति यत्सर्वमत्र चिन्मात्रमेव तत्।।171।।
इयतीं रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्वसंविदः।
स्वाच्छन्द्यमनपेक्षं यत्सा परा परमेश्वरी।।172।।
इमाः प्रागुक्तकलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः।
क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्।।173।।
स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम्।
ज्ञानं विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनाम्।।174।।
गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्।
नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात्।।175।।
इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा।
देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते।।176।।

मातृसद्भावसंज्ञास्यास्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु।
एतावदन्तसंवित्तौ प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत्।।177।।
वामेश्वरीतिशब्देन प्रोक्तां श्रीनिशिसञ्चरे।
इत्थं द्वादशधा संवित्तिष्ठन्ती विश्वमातृषु।।178।।
एकैवेति न कोऽप्यस्याः क्रमस्य नियमः क्वचित्।
क्रमाभावान्न युगपत्तदभावात् क्रमोऽपि न।।179।।
क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम्।
तदस्याः संविदो देव्या यत्र क्वापि प्रवर्तनम्।।180।।
तत्र तादात्म्ययोगेन पूजा पूर्णैव वर्तते।
परामर्शस्वभावत्वादेतस्या यः स्वयं ध्वनिः।।181।।
सदोदितः स एवोक्तः परमं हृदयं महत्।
हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वकः।।182।।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः।।183।।
किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना।।184।।
निस्तरङ्गतरङ्गादिवृत्तिरेव हि सिन्धुता।
सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारं जडं जगत्।।185।।
तदधीनप्रतिष्ठत्वात्तत्सारं हृदयं महत्।
तथा हि सदिदं ब्रह्ममूलं मायाण्डसंज्ञितम्।।186।।
इच्छाज्ञानक्रियारोहं विना नैव सदुच्यते।
तच्छक्तित्रितयारोहाद्भैरवीये चिदात्मनि।।187।।
विसृज्यते हि तत्तस्माद्बहिर्वाथ विसृज्यते।
एवं सद्रूपतैवैषां सतां शक्तित्रयात्मताम्।।188।।
विसर्गः परबोधेन समाक्षिप्यैव वर्तते।
तत्सदेव बहीरूपं प्राग्बोधाग्निविलापितम्।189।।
अन्तर्नदत्परामर्शशेषीभूतं ततोऽप्यलम्।
खात्मत्वमेव संप्राप्तं शक्तित्रितयगोचरात्।।190।।
वेदनात्मकतामेत्य संहारात्मनि लीयते।
इदं संहारहृदयं प्राच्यं सृष्टौ च हृन्मतम्।।191।।

एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाबिलम्।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता।।192।।
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम्।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा।।193।।
अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किञ्चिदाचरेत्।
प्राण्याद्वा मृशते वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः।।194।।
यदेव स्वेच्छया सृष्टिस्वाभाव्याद् बहिरन्तरा।
निर्मीयते तदेवास्य ध्यानं स्यात्पारमार्थिकम्।।195।।
निराकारे हि चिद्धाम्नि विश्वाकृतिमये सति।
फलार्थिनां काचिदेव ध्येयत्वेनाकृतिः स्थिता।।196।।
यथा ह्यभेदात्पूर्णेऽपि भावे जलमुपाहरन्।
अन्याकृत्यपहानेन घटमर्थयते रसात्।।197।।
तथैव परमेशाननियतिप्रविजृम्भणात्।
काचिदेवाकृतिः काञ्चित् सूते फलविकल्पनाम्।।198।।
यस्तु संपूर्णहृदयो न फलं नाम वाञ्छति।
तस्य विश्वाकृतिर्देवी सा चावच्छेदवर्जनात्।।199।।
कुले योगिन उद्रिक्तभैरवीयपरासवात्।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा।।200।।
अन्तरिन्धनसंभारमनपेक्ष्यैव नित्यशः।
जाज्वलीत्यखिलाक्षौघप्रसृतोग्रशिखः शिखी।।201।।
बोधाग्नौ तादृशे भावा विशन्तस्तस्य सन्महः।
उद्रेचयन्तो गच्छन्ति होमकर्मनिमित्तताम्।।202।।
यं कञ्चित्परमेशानशक्तिपातपवित्रितम्।
पुरोभाव्य स्वयं तिष्ठेदुक्तवद्दीक्षितस्तु सः।।203।।
जप्यादौ होमपर्यन्ते यद्यप्येकैककर्मणि।
उदेति रूढिः परमा तथापीत्थं निरूपितम्।।204।।
यथाहि तत्र तत्राश्वः समनिम्नोन्नतादिषु।
चित्रे देशे वाह्यमानो यातीच्छामात्रकल्पिताम्।।205।।
तथा संविद्विचित्राभिः शान्तघोरतरादिभिः।
भङ्गीभिरभितो द्वैतं त्याजिता भैरवायते।।206।।

यथा पुरःस्थे मुकुरे निजं वक्त्रं विभावयन्।
भूयो भूयस्तदेकात्म वक्त्रं वेत्ति निजात्मनः।।207।।
तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि।
आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत्।।208।।
तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि।
पूर्णत्वस्य परा काष्ठा सेत्यत्र न फलान्तरम्।।209।।
फलं सर्वमपूर्णत्वे तत्र तत्र प्रकल्पितम्।
अकल्पिते हि पूर्णत्वे फलमन्यत्किमुच्यताम्।।210।।
एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः।।211।।
अत्र यागे गतो रूढिं कैवल्यमधिगच्छति।
लोकैरालोक्यमानो हि देहबन्धविधौ स्थितः।।212।।
अत्र नाथः समाचारं पटलेऽष्टादशेऽभ्यधात्।
नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम्।।213।।
न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिं न च।
न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा।।214।।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः।
तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत्।।215।।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम्।
परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत्।।216।।
नास्मिन्विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिध्यते।
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि च।।217।।
किं त्वेदत्र देवेशि नियमेन विधीयते।
तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रसन्नेन योगिना।।218।।
तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्।
तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि।।219।।
न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा।
विषापहारिमन्त्रादिसंनद्धो भक्षयन्नपि।।220।।
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः।
अशुद्धं हि कथं नाम देहाद्यं पाञ्चभौतिकम्।।221।।

प्रकाशतातिरिक्ते किं शुद्ध्यशुद्धी हि वस्तुनः।
अशुद्धस्य च भावस्य शुद्धिः स्यात्तादृशैव किम् ।।222।।
अन्योन्याश्रयवैयर्थ्यानवस्था इत्थमत्र हि।
पृथिवी जलतः शुद्ध्येज्जलं धरणितस्तथा।223।।
अन्योन्याश्रयता सेयमशुद्धत्वेऽप्ययं क्रमः।
अशुद्धाज्जलतः शुद्ध्येद्धरेति व्यर्थता भवेत्।।224।।
वायुतो वारिणो वायोस्तेजसस्तस्य वान्यतः।
बहुरूपादिका मन्त्राः पावनात्तेषु शुद्धता।।225।।
मन्त्राः स्वभावतः शुद्धा यदि तेऽपि न किं तथा।
शिवात्मता तेषु शुद्धिर्यदि तत्रापि सा न किम्।।226।।
शिवात्मत्वापरिज्ञानं न मन्त्रेषु धरादिवत्।
ते तेन शुद्धा इति चेत्तज्ज्ञप्तिस्तर्हि शुद्धता।।227।।
योगिनं प्रति सा चास्ति भावेष्विति विशुद्धता।
ननु चोदनया शुद्ध्यशुद्ध्यादिकविनिश्चयः।।228।।
इत्थमस्तु तथाप्येषा चोदनैव शिवोदिता।
का स्यात्सतीति चेदेतदन्यत्र प्रवितानितम्।।229।।
वैदिक्या बाधितेयं चेद्विपरीतं न किं भवेत्।
सम्यक्चेन्मन्यसे बाधो विशिष्टविषयत्वतः।।230।।
अपवादेन कर्त्तव्यः सामान्यविहिते विधौ।
शुद्ध्यशुद्धी च सामान्यविहिते तत्त्वबोधिनि।।231।।
पुंसि ते बाधिते एव तथा चात्रेति वर्णितम्।
नार्थवादादिशङ्का च वाक्ये माहेश्वरे भवेत्।।232।।
अबुद्धिपूर्वं हि तथा संस्थिते सततं भवेत्।
व्योमादिरूपे निगमे शङ्का मिथ्यार्थतां प्रति।।233।।
अनवच्छिन्नविज्ञानवैश्वरूप्यसुनिर्भरः।
शास्त्रात्मना स्थितो देवो मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति।।234।।
इच्छावान्भावरूपेण यथा तिष्ठासुरीश्वरः।
तत्स्वरूपाभिधानेन तिष्ठासुः स तथा स्थितः।।235।।
अर्थवादोऽपि यत्रान्यविध्यादिमुखमीक्षते।
तत्रास्त्वसत्यः स्वातन्त्र्ये स एव तु विधायकः।।236।।

विधिवाक्यान्तरे गच्छन्नङ्गभावमथापि वा।
न निरर्थक एवायं संनिधेर्गजडादिवत्।।237।।
स्वार्थप्रत्यायनं चास्य स्वसंवित्त्यैव भासते।
तदपह्नवनं कर्तुं शक्यं विधिनिषेधयोः।।238।।
युक्तिश्चात्रास्ति वाक्येषु स्वसंविच्चाप्यबाधिता।
या समग्रार्थमाणिक्यतत्त्वनिश्चयकारिणी।।239।।
मृतदेहेऽथ देहोत्थे या चाशुद्धिः प्रकीर्तिता।
अन्यत्र नेति बुद्ध्यन्तामशुद्धं संविदश्च्युतम्।।240।।
संवित्तादात्म्यमापन्नं सर्वं शुद्धमतः स्थितम्।
श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं शुद्ध्यशुद्धिनिरूपणे।।241।।
सर्वेषां वाहको जीवो नास्ति किञ्चिदजीवकम्।
यत्किंचिज्जीवरहितमशुद्धं तद्विजानत।।242।।
तस्माद्यतसंविदो नातिदूरे तच्छुद्धिमावहेत्।
अविकल्पेन भावेन मुनयोऽपि तथाभवन्।।243।।
लोकसंरक्षणार्थं तु तत्तत्त्वं तैः प्रगोपितम्।
बहिः सत्स्वपि भावेषु शुद्ध्यशुद्धी न नीलवत्।।244।।
प्रमातृधर्म एवायं चिदैक्यानैक्यवेदनात्।
यदि वा वस्तुधर्मोऽपि मात्रपेक्षानिबन्धनः।।245।।
सौत्रामण्यां सुरा होतुः शुद्धान्यस्य विपर्ययः।
अनेन चोदनानां च स्ववाक्यैरपि बाधनम्।।246।।
क्वचित्संदर्शितं ब्रह्महत्याविधिनिषेधवत्।
भक्ष्यादिविधयोऽप्येनं न्यायमाश्रित्य चर्चिताः।।247।।
सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषते स्म महेश्वरः।
नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम्।।248।।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम्।
न शैवं वैष्णवैर्वाक्यैर्बाधनीयं कदाचन।।249।।
वैष्णवं ब्रह्मसंभूतैर्नेत्यादि परिचर्चयेत्।
बाधते यो वैपरीत्यात्स मूढः पापभाग्भवेत्।।250।।
तस्मान्मुख्यतया स्कन्द लोकधर्मान्न चाचरेत्।
नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं स्रोतस्युक्तं निजे चरेत्।।251।।

यतो यद्यपि देवेन वेदाद्यपि निरूपितम्।
तथापि किल सङ्कोचभावाभावविकल्पतः।।252।।
सङ्कोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम्।
विकासतारतम्येन पतिज्ञानं तु बाधकम्।।253।।
इदं द्वैतमिदं नेति परस्परनिषेधतः।
मायीयभेदक्लृप्तं तत्स्यादकाल्पनिके कथम्।।254।।
उक्तं भर्गशिखायां च मृत्युकालकलादिकम्।
द्वैताद्वैतविकल्पोत्थं ग्रसते कृतधीरिति।।255।।
सिद्धान्ते लिङ्गपूजोक्ता विश्वाध्वमयताविदे।
कुलादिषु निषिद्धासौ देहे विश्वात्मताविदे।।256।।
इह सर्वात्मके कस्मात्तद्विधिप्रतिषेधने।
नियमानुप्रवेशेन तादात्म्यप्रतिपत्तये।।257।।
जटादि कौले त्यागोऽस्य सुखोपायोपदेशतः।
व्रतचर्या च मन्त्रार्थतादात्म्यप्रतिपत्तये।।258।।
तन्निषेधस्तु मन्त्रार्थसार्वात्म्यप्रतिपत्तये।
क्षेत्रपीठेपपीठेषु प्रवेशो विघ्नशान्तये।।259।।
मन्त्राद्याराधकस्याथ तल्लाभायोपदिश्यते।
क्षेत्रादिगमनाभावविधिस्तु स्वात्मनस्तथा।।260।।
वैश्वरूप्येण पूर्णत्वं ज्ञातुमित्यपि वर्णितम्।
समयाचारसद्भावः पाल्यत्वेनोपदिश्यते।।261।।
भेदप्राणतया तत्तत्त्यागात्तत्त्वविशुद्धये।
समयादिनिषेधस्तु मतशास्त्रेषु कथ्यते।।262।।
निर्मर्यादं स्वसंबोधं संपूर्णं बुद्ध्यतामिति।
परकीयमिदं रूपं ध्येयमेतत्तु मे निजम्।।263।।
ज्वालादिलिङ्गं चान्यस्य कपालादि तु मे निजम्।
आदिशब्दात्तपश्चर्यावेलातिथ्यादि कथ्यते।।264।।
नाम शक्तिशिवाद्यन्तमेतस्य मम नान्यथा।
गोत्रं च गुरुसंतानो मठिकाकुलशब्दितः।।265।।
श्रीसंततिस्त्र्यम्बकाख्या तदर्धामर्दसंज्ञिता।
इत्थमर्धचतस्रोऽत्र मठिकाः शाङ्करे क्रमे।।266।।

युगक्रमेण कूर्माद्या मीनान्ता सिद्धसंततिः।
आदिशब्देन च घरं पल्ली पीठोपपीठकम्।।267।।
मुद्रा छुम्मेति तेषां च विधानं स्वपरस्थितम्।
तादात्म्यप्रतिपत्त्यै हि स्वं सन्तानं समाश्रयेत्।।268।।
भुञ्जीत पूजयेच्चक्रं परसंतानिना नहि।
एतच्च मतशास्त्रेषु निषिद्धं खण्डना यतः।।269।।
अखण्डेऽपि परे तत्त्वे भेदेनानेन जायते।
एवं क्षेत्रप्रवेशादि संताननियमान्ततः।।270।।
नास्मिन्विधीयते तद्धि साक्षान्नौपयिकं शिवे।
न तस्य च निषेधो यत्र तत्तत्त्वस्य खण्डनम्।।271।।
विश्वात्मनो हि नाथस्य स्वस्मिन्रूपे विकल्पितौ।
विधिर्निषेधो वा शक्तौ न स्वरूपस्य खण्डने।।272।।
परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा।
उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित्।।273।।
न यन्त्रणात्र कार्येति प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने।
समता सर्वदेवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयोः।।274।।
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यतः।
स ह्यखण्डितसद्भावं शिवतत्त्वं प्रपश्यति।।275।।
यो ह्यखण्डितसद्भावमात्मतत्त्वं प्रपद्यते।
केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः।।276।।
अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः।
हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते।।277।।
अलं वातिप्रसङ्गेन भूयसातिप्रपञ्चिते।
योग्योऽभिनवगुप्तोऽस्मिन्कोऽपि यागविधौ बुधः।।278।।
इत्यनुत्तरपदप्रविकासे शाक्तमौपयिकमद्य विविक्तम्।

■

(आ) चतुर्थ आह्निक की कारिकानुसार विषयसूची

विषय	कारिका संख्या
शाक्तोपाय का निर्देश	1
विकल्प-संस्कार का उपदेश	2
क्षणिक ज्ञानरूप विकल्प के संस्कार का प्रश्न	3
संस्कार की कोटियाँ	4-5
स्फुटतम विकल्प के द्वारा संवित् की निर्विकल्पता	6
स्फुटतम विकल्प से भैरवीय तेज की स्फुटता	7
संवित् को विकल्प-संस्कार से परामृश्य मानने पर उसकी जडता की आशंका	8
तत्त्वतः संवित् पूर्ण एवं अहेयोपादेय	9
विकल्प-संस्कार माया के कारण	10
माया का स्वरूप	11
द्वैत का स्वरूप	12
द्वैत के निराकरण का आधार तर्क	13
तर्क अथवा भावना द्वारा सिद्धि	14
तर्क की उत्तम योगाङ्गता	15
तर्क द्वारा अनामय पद की प्राप्ति	16
अन्य शास्त्रों (सांख्यादि) में बताये गये मोक्षोपायों की हेयता (द्विविध तर्क)	17
मोक्ष में रागपूर्वक प्रवृत्ति से बचने के लिए तर्क की उपादेयता	18-19
राग 'अंशक', स्वभाव एवं सिध्यङ्ग है पर मोक्ष के लिये विघ्नभूत	19-20
वामा शक्ति (मायापाश) के प्रभाव से राग द्वारा वैष्णव, पाञ्चरात्र, वेदान्त, सौगतादि दर्शनों में प्रवृत्ति	20-22
भैरवसमावेश के निन्दकों का अधःपतन	23
भेदवादी शास्त्रों के प्रति आस्था रखने वालों की मुक्ति असम्भव	24
'श्रीकामिकागम' के पाशप्रकरण का इस सम्बन्ध में प्रमाण	25-27
रागतत्त्व की नियामकता	28
वैष्णव आदि ब्रह्मवादी, विज्ञानवादी, वैभाषिक-नैयायिक का मोक्ष प्रलयाकल के समान	29-30
वैष्णव आदि दर्शनों की मुक्ति की हेयता	31-32

माया के कारण दर्शनान्तरों में राग 33
शुद्धविद्यारूप सत्तर्क द्वारा सद्गुरु की प्राप्ति 34
'श्रीपूर्वशास्त्र' का इस सम्बन्ध में प्रमाण 35
शिव के शक्तिपात की क्रमिकता 36
अच्छे तथा बुरे गुरु अथवा शास्त्र की प्राप्ति का कारण
शक्तिपात का भेद (वामाशक्ति तथा ज्येष्ठा शक्ति) 37
उक्त कथन की 'स्वच्छन्दशास्त्र' द्वारा पुष्टि 38
शुद्धविद्या (शक्तिपात) की महिमा से वैष्णवादि जनों की सन्मार्ग में प्रवृत्ति 39-40
सत्तर्क के परामर्श का कारण (सांसिद्धिक तर्क) 40-41
गुरु, शास्त्र और स्वपरामर्श में उत्तरोत्तर की मुख्यता 41-42
स्वतः सत्तर्कशील की अधिकारिता 42-43
सत्तर्क की सर्वोत्कृष्टता 43-44
समस्त शास्त्रार्थ सत्तर्क से ही 44
शुद्धविद्या सत्य की अवभासक 45 (अ)
सभी शास्त्रों के ज्ञान की 'अकस्मात्' उत्पत्ति 45 (ब)
'श्रीपूर्वशास्त्र' द्वारा पुष्टि 46 (अ)
'अकस्मात्' का अभिप्राय 46-47
'सांसिद्धिक' के पाँच भेद 47-48
सांसिद्धिक को यागादि के बिना भी सिद्धि 49
उसकी निर्वाणगामिनी दीक्षा 50
सांसिद्धिक ही 'अकल्पितगुरु' 51-52
अकल्पितकल्पकगुरु और उसके भेद 51-52
अकल्पितकल्पक ज्ञानी की भावनादि से शास्त्र-ज्ञान में अधिकारिता 53
भावनादि विभिन्न उपायों की शास्त्रों द्वारा पुष्टि 54
'श्रीसर्ववीर ग्रन्थ' का इस सम्बन्ध में प्रमाण 55-57
'श्रीब्रह्मामल' ग्रन्थ का प्रमाण 57-58
अकल्पितकल्पक गुरु का मुख्य लक्षण 59
'ब्रह्मयामल' ग्रन्थ द्वारा पुष्टि 60 (अ)
जपादि से सिद्धि न मिलने पर आत्मदीक्षा द्वारा प्राप्ति (श्री ब्रह्मयामल का प्रमाण) 60-62
स्फुरत्ता में आत्मविज्ञान की मुख्यता का 'श्रीब्रह्मयामल' में प्रतिपादन 62-63
'आचार्य' 'साधक'; 'पुत्रक' और 'समयी' का वहीं प्रतिपादन 63-64

गुरु के न मिलने पर साधक द्वारा रक्तादेवी के अनुष्ठान का 'श्रीब्रह्मयामल' में विधान 65
पुस्तक से स्वयं मन्त्रज्ञान करने पर 'श्रीसिद्धामत' में प्रतिपादित सदोषता तथा उसका
(श्रीब्रह्मयामल के अनुसार) निराकरण 66
पुस्तक से मन्त्रज्ञान की सदोषता के सम्बन्ध में 'श्रीसिद्धामत' का प्रमाण 67-68
पुस्तकाधीत विद्या और दीक्षाशून्यता में अन्योन्याश्रयदोष 69 (अ)
'अकल्पितकल्पक' के अनन्तर 'कल्पिताकल्पक' का प्रतिपादन 69-70
गुरु की आराधना तथा दीक्षा से कल्पितकल्पक द्वारा पाश का निवारण 70-72
'कल्पिताकल्पित' का स्वरूप 72-73
शुद्धविद्या के कारण अकल्पित भाग की श्रेष्ठता 73-74
'कल्पित' की अपेक्षा 'अकल्पित' की श्रेष्ठता का कारण 74-76
'अकल्पित' में भी शास्त्र एवं गुरु के संस्कार होते हैं 76-77
आत्मप्रत्ययितज्ञान की भैरवरूपता 77-78
त्रिविध ज्ञान के सम्बन्ध में 'श्रीकिरणागम' का प्रमाण
तथा श्रीनिशाटन के अनुसार उसकी समस्त-व्यस्तरूपता 78-79
उपायों की अनेकता होते हुए भी छेदन की भाँति फल की एकता 80-81
समस्त अथवा व्यस्त उपायों से प्रमाता का निराकांक्ष आश्वासन ही फल है
जो शक्तिपात के भेद के कारण प्रमाणों के लिए भी अवकाश छोड़ देता है 81-83
एक प्रमाण से ज्ञात अर्थ में प्रमाणान्तर की उपयोगिता
(बौद्धों के धारावाहिक ज्ञान-सम्बन्धीमत का खण्डन) 84
प्रमाणान्तरों द्वारा ज्ञात अर्थ के सम्बन्ध में अपूर्वता के आधार पर व्यर्थता,
अनवस्था, अन्योन्यात्तयता दोषों का खण्डन 85
(तर्कतत्त्व के निरूपण में प्रसङ्गतः गुरुतत्त्व के विवेचन के
अनन्तर पुनः तर्कतत्त्व का प्रतिपादन) तर्क से ज्ञान में कुशलता 86
तर्कज्ञान में अहिंसादि पाँच यमों तथा तपस्यादि नियमों की अनुपयोगिता 87-88
प्राणायाम की निरर्थकता के सम्बन्ध में 'श्रीवीरावली' का प्रमाण
तथा उसके अनुसार मोक्ष का स्वरूप 89-90
शरीर को कष्ट देने वाले प्राणायाम का निषेध 91
प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि का स्वरूप 92-94
धारणादि की अनुपयोगिता, यमादि तर्क के उपाय 95-96
संविद् का संस्कार सम्भव नहीं 97
प्राण-बुद्धि-देहादि के संस्कार से अन्यत्र भेदनिवृत्ति 98
इसके समर्थन में दृष्टान्तः ऊपर उछलने के अभ्यास से नीचे गिरने का

भय स्वतः निवृत्त हो जाता है 99
उसी प्रकार गुरुवचन के अनुसार आगमार्थ के
आत्मचिन्तन से विपरीत अर्थ की स्वतः निवृत्ति 100
गुरु शिष्य में अपने ज्ञान अथवा शब्द को आरोपित नहीं कर सकता
अतः आत्मचिन्तन (स्वविमर्श) आवश्यक 101
स्वयं की भावना से स्वाप्निक वस्तु भी साक्षात् हो जाती है 102
शब्दनिष्ठ विमर्श पाठ है और अर्थनिष्ठ चिन्तन 103
अस्तु, संस्कार अद्वय संवित्ति के लिये अनुपयोगी होने पर भी द्वैत की निवृत्ति का साधन है 104
स्वपरामर्शात्मक तर्क की साधना के लिए यमादि की उपायता 105
उपर्युक्त मान्यता के समर्थन में 'श्रीपूर्वशास्त्र' का प्रमाण प्राणायामादि रूप
योग की कृत्रिमता, अद्वययोग की सहजता 106-08
अत एव (श्रीपूर्वशास्त्र में) चित्तस्थैर्य के लिये नियत का खण्डन तथा
'जिसका जैसे मन लगे' का समर्थन 108-09
परमेश्वर की कहीं-कहीं अमल स्वभाव में स्थिति 109-10
स्वभावपरामर्श इन्द्रियों से अथवा उनके बिना सम्भव,
विकल्प क्षेत्रज्ञ के स्वातन्त्र्य का उल्लास है 110-11
विकल्प के दो प्रकारः मायीय एवं शुद्धविद्यात्मक 111-113
शुद्धविद्यारूप विकल्प से मायीय विकल्प की समाप्ति 113-14
स्नान-शुद्धि-अर्चना-होम-ध्यान-जपादि के भेद से शुद्धविद्यारूप ज्ञान के अनेक प्रकार 114-15
शुद्ध योगी द्वारा अध्वमण्डल का तर्पण
(योगाङ्ग की भाँति स्नानदि की अनुपयोगिता का संकेत) 115-16
स्नान का स्वरूप 116-17
उससे लाभ 117-18
शुद्धि तथा अशुद्धि का स्वरूप 118-19
देह में चिन्मयता एवं भेदशून्यता का साक्षात्कार 119-20
भाव का चिदात्मा के साथ एकाकार ही पूजा 120-22
स्वपरामर्शात्मक स्वरूप से अच्युत रहकर संवित् के आन्तर और
बाह्य रूपों में वर्तमान होने से पूजा सम्भव 122-23
परामर्श के बारह प्रकार 123-24
प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय में संविद् की सृष्टि, स्थिति, संहार अनाख्यरूप
चतुर्धा स्थिति (परामर्श के बारह प्रकार) 125
परासंविद् प्रमाता में शुद्धज्ञानरूपा, ज्ञान में विकल्परूपा तथा प्रमाण में ग्रहणरूपा होती है,

श्रीयोगसंचर का प्रमाण 126
(श्रीयोगसंचर के अनुसार) श्वेतचक्षुमण्डल में षोडशादि तथा द्वादशार चक्र की स्थिति 127
दोनों की एक साथ स्थिति का स्पष्टीकरण 128
अग्निसोमात्मक प्रमातृप्रमेयरूप दोनों चक्रों द्वारा सृष्टि एवं संहार 129-30
अमृताग्निरूप प्रमेय तथा प्रमाता के संयोग से योनिलिङ्गरूप
माया-परमेश्वर के समस्त षोडशार-अष्टार से अमृतरूपा संवित् का स्फुरण 131
षोडशार एवं अष्टार चक्रों के पीडन से प्रमातृरूप ज्योति का
आभासन एवं उससे काल-ज्ञान का प्रवर्तन 132
सहस्रार चक्र की ऊर्ध्व स्थिति एवं उससे ब्रह्माण्डादि का उद्भव 133
अनन्त सोम (क्रिया शक्ति) द्वारा विश्व की प्रस्फुरणा 134
षोडशार, द्वादशार, अष्टारादि चक्रों में सोम द्वारा अमृत-स्रवण (बाह्यरूपता का आपादन) 135-36
अहं प्रमाता में विश्व का संहार 136-37
सिसृक्षा के कारण रसों एवं गुह्य चक्रों के रूप में शिव की उन्मुखता 137-38
सिद्धि एवं मुक्ति की एक साथ प्राप्ति 139
ब्रह्मात्मक ऊर्ध्व पद में अग्नि एवं सोम की समानतया सृष्टि 140
सोम के द्वारा विश्व की सृष्टि 141 (अ)
पञ्चभूतात्मक सृष्टि का प्रकार 141-42
ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय में प्रकारसाम्य 143
इन्द्रियादि की चिन्मयता के ज्ञान से विश्वप्रभुता 144
प्रत्येक इन्द्रिय की द्वादशमरीचिरूपता का रहस्य 145
इस रहस्य की गोपनीयता संवित् की मास-राशि आदि के रूप में स्थिति 146
अस्तु, संवित् की आन्तर एवं बाह्यरूपता (द्वादश देवियों का स्वरूप-विवेचन) 147
सृष्टिकलना के कारण 'श्रीसृष्टिकाली' 148
रूपादि के रंजन से 'श्रीरक्तकाली' 149
स्थिति का विनाश करने से 'स्थितिनाशकाली' 150
नियमन करने के कारण अनाख्य अथवा 'नियमकाली' 151
संहार-कलनात्मिका 'संहारकाली' 152
संहार का अभिप्राय 153
मृत्युरूपा संविद् की कलना के कारण 'मृत्युकाली' 154
भावविशेष की घनता से उत्पन्न संस्कार शुभाशुभ फल का भावी कारण 155-56
भोग के पूर्व या अनन्तर शुभ एवं अशुभ फलों की आशंका 156 (ब)
प्रायश्चित्त आदि से ब्रह्महत्यादि (अशुभ) कर्मों का विनाश 157

(कर्मों के) रोधन एवं द्रावण के कारण 'रुद्रकाली' अथवा भद्रकाली 158
करणों का संहार कर अहंकार में विलीन करना (अनाख्य का स्वरूप) 159
द्वादश करणः उनका स्वरूप एवं संख्यान 160
करणवर्ग की सर्वार्थपरामर्शक अहंकार में विश्रान्ति 161
इसका दृष्टान्त 162
बुद्धीन्द्रियरूप मार्तण्डमण्डल को अहंकार में कल्पित करने वाली 'मार्तण्डकाली' 163
परमादित्य रूप अहंकार का कर्ता (प्रमाता) में विलय 164
दो प्रकार का कर्ता : कल्पित तथा अकल्पित, कल्पित का स्वरूप 165
उसकी 'काल' 'अग्नि' तथा 'रुद्र' संज्ञाएँ 166
अहंकाररूप परमार्क का इस प्रमाता में कलना के कारण 'परमार्थकाली' 167
कालाग्निरुद्र संज्ञक प्रमाता की कलना करने वाली 'कालाग्नि रुद्रकाली' 168
परमप्रमातृरूप महाकाल की कलना करने वाली
'महाकालकाली' (प्रमातृगत संहार का स्वरूप) 169-70
महाभैरवात्मक प्रमाता, चण्डरूप प्रमेय, उग्ररूप प्रमा तथा घोररूप प्रमाण की
कलना करने वाली 'महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली' अथवा परापरमेश्वरी'
(प्रमातृगत अनाख्या का स्वरूप) 171-72
परमेश्वरी कहने का कारण 173 (अ)
कलना के पाँच अर्थ 173-75
पञ्चविध कलना के कारण परादेवी की 'काली' तथा 'कालकर्षिणी' संज्ञाएँ 176
श्रीनिशाटन के अनुसार इसी की 'मातृसद्भाव' तथा 'वामेश्वरी' संज्ञाएँ 177-78
परा संवित् ही द्वादशात्मिका देवी के रूप में प्रतिष्ठित है जो क्रम एवं अक्रम से परे है 178-80
संवित् से एकात्मता पूर्ण पूजा है 180-81
परावाक् -अहंपरामर्शात्मक सहज उदित नाद- संवित् का परम 'हृदय'
(तात्त्विक रूप) है 181-82
इसी की 'स्पन्द' संज्ञा है 182-83
आगमान्तर में इसी स्पन्द की संज्ञा 'ऊर्मि' है 184
'ऊर्मि' संज्ञा का कारणः परमतत्त्व सिन्धु तथा परम हृदय 185-86
ब्रह्ममूलक मायीय संसार की इच्छाज्ञानक्रिया के कारण सद्रूपता 186-88
इस सद्रूपता का आधार परा संवित् 188-89
शून्यता को क्रमशः प्राप्त सद्रूप संसार ज्ञानरूप होकर
संहारात्मा में विलीन हो जाता है 189-91
'हृत्' संज्ञा का अभिप्राय 191 (ब)

शुद्ध अहंपरामर्श की प्रकाशरूपता तथा मन्त्रवीर्यरूपता 192-93
जप का पारमार्थिक स्वरूप 194
ध्यान का पारमार्थिक स्वरूप 195
फलार्थी की दृष्टि से तत्त्वतः निराकार की आकारशीलता 196
नियत आकार के ग्रहण करने का दृष्टान्त 197-98
निष्काम योगी के लिये संवित् विश्वाकार होती है, नियताकार नहीं 199
मुद्रा का तात्त्विक स्वरूप 200
होम का वास्तविक स्वरूप 201-02
दीक्षित का स्वरूप 203
जपादि में से प्रत्येक से परम सिद्धि, प्रयोजन-निर्देश 204
जपादि की विभिन्न भंगिमाओं से अनुत्तरता की प्राप्तिः अश्व का दृष्टान्त 205-06
दर्पण में बहुधा मुखदर्शन की भाँति जपादि से आत्मदर्शन 207-08
तन्मयीभाव का स्वरूप 209
तन्मयीभाव के अनन्तर कुछ भी प्राप्य नहीं 210
अपूर्व याग-विधि से चैतन्य का सहज आविर्भाव 211
जीवन्मुक्त का स्वरूप 212
(श्रीमालिनीविजय 14.74-81 का) प्रमाण 213
शुद्ध्यशुद्धि, भक्ष्याभक्ष्य, द्वैताद्वैत, लिङ्गपूजादि का स्वीकार-अस्वीकार, परिग्रह-अपरिग्रह, जटाभस्मादि-ग्रहणाग्रहण, व्रताचरण-अचरण, क्षेत्रादिप्रवेश, समयादिपालन, परमस्वरूपलिङ्गादि, नामगोत्रादि के विधिनिषेध से परे रहना 213-17
किन्तु चित्त को तत्त्व में लगाये रखना 218
तत्त्व में स्थिर योगी दोषों से स्पृष्ट नहीं होताः जल-कमल तथा मन्त्र-विष का दृष्टान्त 219-21
शुद्ध्यशुद्धि प्रकाश से अलग नहीं तो पञ्चभौतिक देह अशुद्ध कैसे होगी ? 221-22
वस्तु का वस्त्वन्तर से शोधन मानने पर त्रिविध दोष 222
पृथ्वी की जल से और जल की पृथ्वी से शुद्धि मानने में अन्योन्याश्रयदोष 223
अशुद्ध जल से अशुद्ध पृथ्वी की शुद्धि मानने में व्यर्थता दोष 224
जल की वायु से, वायु की तेज से, उसकी किसी अन्य से शुद्धि मानने में अनवस्थादोष 225
मन्त्रों की भाँति पृथिव्यादि को ही स्वभाव-शुद्ध क्यों नहीं मान लेते क्योंकि शिवात्मतारूप शुद्धि उनमें भी है 225-26
मन्त्रों में शिवात्मता का अज्ञान सम्भव नहीं जो कि पृथिव्यादि में सम्भव है 227
योगी की दृष्टि से पृथिव्यादि (भावों) में भी विशुद्धता है, तो क्या शुद्ध्यादि का निश्चय विधि-निषेध (चोदना) से किया जाये? 228

शैव से क्यों, वैदिक प्रमाण से शुद्ध्यादि का निश्चय क्यों न माना जाये 229
आगम से वेद का ही बाध क्यों न माना जाये ? 230-31
विशिष्टविषयता के कारण आगम की अपवादविधि मानना उचित है 230-31
सामान्यविधि से विहित शुद्ध्यशुद्धि का तत्वज्ञ के सन्दर्भ में
आगममोक्त अपवादविधि से बाध, आगम-प्रमाण अर्थवादात्मक नहीं 231-32
निगम में मिथ्यार्थता की शङ्का की जा सकती है 233
शिव के शरीरभूत आगम में यह शङ्का सम्भव नहीं 234
परमेश्वर आगम-प्रणेता नहीं अपितु आगमरूप में अवस्थित है 235
अर्थवाद ईश्वर के स्वातन्त्र्य का विधायक है 236
विधिवाक्य का अङ्ग होने पर भी पदवर्णों की भाँति अर्थवाद की सत्यार्थता 237
बलात् अर्थापह्नव अर्थवाद का ही नहीं अपितु विधिनिषेध वाक्य का भी सम्भव है 238
अर्थतत्त्व के निश्चय में युक्ति तथा स्वानुभव की साधकता 239
आगम के अनुसार शुद्ध्यशुद्धि का मूल आधार संवित् से तादात्म्य तथा च्युतिः
'वीरावली' की उक्ति का निर्देश 240-41
जीव रहित कुछ भी नहीं, अजीवक ही अशुद्ध है 242
संवित् से सन्निकृष्ट शुद्ध है, इसी आधार पर ऋषियों के वामाचार की शुद्धता 243
इस रहस्य का गोपन 244 (अ)
शुद्धता एवं अशुद्धता बाह्य नहीं अपितु प्रमातृधर्म है 244-45
अथवा प्रमात्रपेक्ष वस्तुधर्म है, इसी कारण सौत्रामणि में सुरा शुद्ध है अन्यत्र अशुद्ध 245-46
वेद-विधि के बाधित होने का दूसरा उदाहरणः ब्रह्महत्या निषेध का अपवाद 246-47
वैदिक प्रमाण से शैवागमों की श्रेष्ठता, विभिन्न प्रमाणों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठताः
सर्वज्ञानोत्तर का प्रमाण 248-50
लोकधर्मों का नहीं अपितु अपने शास्त्र के अनुसार आचरण का उपदेश 251
अभेदप्रधान शैवागमों की भेदप्रधान वेदादि से श्रेष्ठता 252
'पतिशास्त्र' (शैवागम) पाशवशास्त्र (वेदज्ञान) के बाधक हैं 253
द्वैत तथा अद्वैत की कल्पना मायीय है, ईश्वर इन दोनों से अस्पृष्ट है 254
भर्गशिखा का इस सम्बन्ध में प्रमाण 255
'सिद्धान्त' मत (भेददर्शन) द्वारा लिङ्गपूजादि (द्रष्टव्य - 4. 213-17) की विधि,
'कुलादि' अद्वयदर्शन द्वारा निषेध, परमाद्वयरूप त्रिकदर्शन द्वारा विधिनिषेध की
निरर्थकता का प्रतिपादन (लिङ्गपूजादि 256-57, जटाभस्मादि 257-58, व्रतादि,
निष्परिग्रहतादि 258-59, क्षेत्र-पीठ-अपीठ-प्रवेश 259-61, समयाचार 261-63,

परस्वरूपलिङ्ग 263-64, तपश्चर्या- वेला-तिथि-नाम-गोत्रादि 264-66) 256-66
प्रसङ्गतः गोत्र (मठिका अथवा कुल) का अर्थ 265
मठिकाओं की संख्या 266
कूर्म से मीन तक की सिद्ध परम्परा 267
'गोत्रादि' के आदि शब्द से गृहीत घर, पल्ली, पीठ, उपपीठ की परम्पराओं में भेद का निर्देश,
अपनी परम्परा का आश्रय ले 267-68
इनके विधि-निषेध के खण्डन-मण्डन से परे रहने का प्रतिपादन 270-71
शिव द्वारा स्वस्वरूप में विकल्पित विधिनिषेध उसके स्वरूप को खण्डित नहीं कर सकते 272
ग्राह्य एवं त्याज्य उपाय के सम्बन्ध में 'श्रीत्रिकशासन' द्वारा निर्देशः
परतत्त्व में प्रवेशार्थ यन्त्रणाहीन साधन ही उपाय हैं 273-74
'श्रीत्रिकशासन' का उद्धरण 274-75
आत्मतत्त्वज्ञ ही शिवतत्त्व का दृष्टा है 275-76
शक्तिपात से पवित्र मुमुक्षु की ही परतत्त्व में केतकीगन्ध में भ्रमर की भाँति आसक्ति 276
तत्त्वविश्रान्ति से संसार का प्रपञ्च गल जाता है जैसे कि भयंकर गर्मी में बर्फ 277
पराद्वयदर्शन (यागविधि) में 'अभिनवगुप्त' की योग्यता
(अभिनवगुप्त पद का दार्शनिक अर्थ) 278

(इ) चतुर्थ आह्निक का सटिप्पण अनुवाद

अब शाम्भवोपाय के बाद शाक्तोपाय का वर्णन किया जाता है:-

1. इसके बाद (हम) परम आत्म संवित् के लिए शाक्त उपाय मण्डल को कहते हैं।[1]

विकल्प-संस्कार आदि अनेक हैं। इसलिए यहाँ 'उपायमण्डल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

विकल्प-संस्क्रिया का अभिधानः-

2. **बाद के आह्निक में प्रतिपादित परमेश्वर के (निर्विकल्प) स्वरूप में आविष्ट होने का इच्छुक विकल्प का शीघ्र संस्कार करे।**

सुने हुए ज्ञान के विषय में अस्फुट अवस्था से स्फुटतम अवस्था[2] तक बार-बार चिन्तन आदि करने से गुणों के हृदय में अवस्थापन को संस्कार कहते हैं। इसी के कारण मुमुक्षु निर्विकल्प स्वरूप में प्रविष्ट होता है। 'ज्ञान क्षणिक है' इससे सभी सहमत हैं। विकल्प भी एक प्रकार का ज्ञान होने के कारण क्षणिक है। अतः क्षणिक ज्ञान का संस्कार नहीं हो सकता, संस्कार तो स्थिर का ही हो सकता है:-

3. **संस्कारित विकल्प अपने ही समान संस्कारित विकल्प को जन्म देता है (और) वह (द्वितीय संस्कृत विकल्प) अपने समान (अन्य तृतीय) को और वह अपने ही समान अन्य (चतुर्थ) को (जन्म देता है)।**

कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी नियमानुसार एक विकल्प अपने ही समान दूसरे विकल्प को जन्म देता है तथा एक विकल्प से दूसरे विकल्प के अत्यन्त दूर होने पर भी उनमें सादृश्य की हानि नहीं होती है।

एक संस्कृत विकल्प से उसी के समान दूसरे विकल्प की उत्पत्ति होना तो ठीक है, किन्तु तृतीय आदि विकल्पों की भी उसी प्रकार उत्पत्ति होना निरर्थक होगा और यदि द्वितीय से तृतीय आदि विकल्पों में कुछ विशेष माना जाता है तो उनमें परस्पर सादृश्य की हानि होगी। इस शङ्का का समाधान किया जाता है :-

4. **चारों ही विकल्पों में जो यह संस्कार (है वही) (अभ्यास के अतिशय के अनुसार) क्रमशः अस्फुट, स्फुटन की योग्यता वाला, स्फुटता की ओर बढ़ने वाला (तथा अन्त में) स्फुटरूप हो जाता है।**

चूँकि प्रथम स्तर से आगे के अन्य स्तरों में स्पष्टता की दृष्टि से क्रमशः अतिशय आया है। अतः अब न तो निरर्थकता का प्रसङ्ग है और न ही सादृश्य की हानि का। क्योंकि किसी दूसरे विसदृश प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं हुई है।

विकल्प का संस्कार क्रमशः आगे भी बढ़ता है:-

5. (अ) **उस (चतुर्थ) के बाद (वह मूल संस्कार) और अन्त में स्फुटतम होता है।**

अभ्यास का अतिशय होने पर भी अस्फुटत्वादिरूप विकल्प, स्फुटताभावी आदि रूपों को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है:-

(ब) **और स्फुट आदि विकल्प में मध्यवर्ती भेद (विशेष) भी है।**

6. **(उन संस्कारों) के बाद स्फुटतम, उदार (महत्) एवं विकल्प के संस्कार से निरपेक्ष (2) वह (विकल्परूपा) संविद् विमल (अर्थात् संकोच के कलंकों से रहित) निर्विकल्पता को प्राप्त हो जाती है।**

संविद्[3] स्फुटतम विकल्प के बाद निर्विकल्प हो जाती है। अतः जिज्ञासु को विकल्पमात्र में ही नहीं रुकना चाहिये।[4]

7. **(संस्कारों के कारण विकल्प-संविद् ही अविकल्प संविद्रूपता को प्राप्त हो जाती है) इसलिए संवित्स्वभाव वाला (ज्ञान क्रिया नामक) जो भैरवीय तेज है वह बार-बार के परामर्श से (अर्थात् अस्फुटत्वादि के क्रम से) स्फुटरूपता को प्राप्त हो जाता है।**

प्रमाता से एक रूप होने के कारण 'संविद्' ज्ञान रूप तो हो सकती है, किन्तु ज्ञेय रूप नहीं हो सकती हैऔर यदि उसे ज्ञेय माना जाता है तो नीलादि की तरह उसमें जड़ता आ जायेगी इसी शंका को प्रस्तुत किया जाता है :-

8. **यदि संविद् ज्ञात्री है एवं स्वयं ही ज्ञान से युक्त है, तब वह ज्ञेयरूपा कैसे (कही जा सकती है? और यदि इसे) उसी रूप वाला (अर्थात् परामृश्य माना जाता है) तो वह (नील आदि की तरह) जड़ होगी।**

9. **(पूर्वोक्त शङ्का के समाधान में) कहा जाता है कि स्वात्मरूपा संविद् स्वभाव से ही स्वतन्त्र है। इस (संविद्) में न तो (अस्फुटत्वादि) कुछ अपास्य (अर्थात् त्याज्य) है न ही (स्फुटतमत्वादि कुछ) आधेय (अर्थात् जोड़ने योग्य) है - ऐसा पहले (अनुपाय आह्निक तन्त्रा, 218 में) कहा गया है।[5]**

संविद् में कुछ भी अपास्य और आधेय न होने पर उसका अस्फुटत्वादि रूप विस्फार कैसे हो सकता है?

10. **(परप्रमाता एक ही स्वभाव वाला है) फिर भी यह परमेश्वर अत्यन्त दुर्घट कार्यों को करने से स्वतन्त्र एवं शुद्ध होने से अपने स्वरूप को छिपाने की क्रीड़ा में प्रवीण है।**

परमेश्वर के अनावृत्त-स्वरूप को छिपाने वाली यही स्वतन्त्ररूपा माया नामक शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही परमेश्वर ग्राह्य, ग्राहक आदि भेदों में अवभासित होता है।

11. **सर्व-व्यापी (परमेश्वर) के अनावृत्त-स्वरूप होने पर भी जो यह स्वरूप का प्रच्छादन है वही माया[6] है जिसके कारण विश्वरूप में अवभासन के स्वभाववाला यह भेद (अर्थात् द्वैत अवभासित होता) है।**

12. **उस महेश्वर का उस (विश्व) रूप में अवभासन ही द्वैत कहा गया है। उस द्वैत के हटाने से इस (आत्म साक्षात्कार-रूप) ज्ञान को माना जाता है।**

13. **कोविद इस दुर्भेद्य वृक्ष के मूल को सतर्क-रूपी तीक्ष्ण कुठार से काटते हैं - यह निश्चय है।**

ग्राह्य और ग्राहक में भेद समझना अथवा इन्हें भिन्न-भिन्न मानना ही शैव दर्शन में द्वैत-बुद्धि है। यही द्वैत-बुद्धि ज्ञाता के बन्ध का एक मात्र कारण है। इस द्वैत-बुद्धि को सम्पूर्णतः समाप्त करने के लिए सत्तर्क की अपेक्षा है। जयरथ के अनुसार सत्तर्क वह है जो सामान्य तर्कों से विलक्षण हो, परावस्था को प्राप्त हो चुका हो, शुद्ध विद्या के अंश के स्पर्श से पवित्र हुई बुद्धि में उदित हुआ हो तथा अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराने में समर्थ हो। मुमुक्षु को सत्तर्कों के द्वारा द्वैतबुद्धि का उन्मूलन तब तक करते रहना चाहिये जब तक वह समूल विच्छिन्न न हो जाये। जो मुमुक्षु इस उपाय में निरन्तर तल्लीन रहता है वही स्वयं को विकल्पों से विशुद्ध बनाता है और पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।

14. **(महेश्वर से ऐक्यरूप) इस भावना को ही ज्ञानी सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाली कहते हैं। यह मनोरथ के पद से भी दूर रहने वाली वस्तु को (स्वात्म से अभिन्न रूप में) प्रकाशित कर देती है।**

जिस मुमुक्षु को एक बार महेश्वर से ऐक्य की अनुभूति हो चुकी है उसके लिए फिर कोई वस्तु काम्य नहीं रहती अथवा इस भावना के कारण ही उसे सभी

अभीष्ट फलों की प्राप्ति हो जाती है। ऐक्य की यह भावना सत्तर्क से अनुभूति की जा सकती है। अतः पराकाष्ठा को प्राप्त तर्क को ही भावना कहा गया है।

15. **'श्रीपूर्वशास्त्र' में वह जो कहा गया है कि तर्क योग का उत्तम अङ्ग है, हेय (उपादेय आदि) के विचार से उसी (तर्क) में प्रयत्न करने की प्रशंसा की जाती है।**

छः योगाङ्ग माने गये हैं - प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि।' इन योगाङ्गों में तर्क ही सर्वोत्तम अङ्ग है क्योंकि उसी के द्वारा मुमुक्षु हेय और उपादेय वस्तुओं के विषय में निर्णय करके तत्वज्ञ बनता है।

16. **हेय विषयों की इच्छा करने के कारण जो चित्त अस्थिर हो रहा था उसे (तर्क) अन्य (स्वात्म) के प्रति स्थिर करता है। साथ ही उससे तब तक प्रेरित होता है जब तक अनामय स्थान को नहीं पहुँच जाता।**

जो योगी तर्क का अभ्यास करता है, उसका चित्त स्थिर हो जाता है। किन्तु सांख्यादि शास्त्रों के अभ्यास से मुमुक्षु में जो यह अभिमान उत्पन्न होता है कि मेरे लिए यही तत्त्व आकांक्षणीय है, यह अभिमान स्थिर चित्त को भी अस्थिर बना देता है। अर्थात् दार्शनिक की दृष्टि में सांख्यादि शास्त्रों में प्रदर्शित मोक्ष का उपाय समर्थन के योग्य नहीं है और हेय है। क्योंकि सांख्यादि द्वारा प्रदर्शित मार्ग मुमुक्षु में अभिमान उत्पन्न करता है। फलतः शैव दर्शन में योगी को उस हेय मार्ग से तब तक पराङ्मुख रहने की सम्मति दी जाती है जब तक वह स्वयं को परप्रमाता के रूप में प्रस्फुरित होता हुआ अनुभव न कर ले।

17.-18. **(सांख्यादि) अन्य शास्त्रों में जो मोक्षोपाय बताया गया है वह यहाँ शैव दर्शन में) हेय है, (क्योंकि) वह मुमुक्षु को विषयों से संयुक्त करता है और बन्धन-ग्रस्त बनाता है। उस (नियति) के साथ जो राग तत्त्व[6] कहा गया है उससे वहाँ (नियत हेय मार्ग में चित्त) अनुरंजित होता है।**

सांख्यादि अन्य दर्शन मोक्ष के जिन उपायों को बताते हैं, शैव दृष्टि उनसे पूर्ण सहमत नहीं है। इस दृष्टि में ये उपाय सम्यक् मोक्ष के स्थान पर बन्धन में ही डालते हैं अर्थात् ऐक्य के स्थान पर द्वैत और व्यापकता के स्थान पर संकुचितता का ही उपदेश देते हैं।

इच्छा, विषयरूपिणी तथा बन्ध का कारण होती है। वह एक प्रकार का अभिमान

है जिसमें यह मेरा है या हो जाय आदि की भावना होती है। साधारणतया इच्छा के साथ नियमित (नियत) रूप से रहने वाला ('**नियतिसंगतम्**') तत्त्व ही रागतत्त्व है। इसका स्वरूप है - सभी विषयों की अभिलाषा करना। जब यही रागतत्त्व किसी निश्चित विषय की अभिलाषा करता है तब उसका कारण नियतितत्त्व होता है। इसलिए यह ठीक ही है कि इसका अभिधेय रागतत्त्व है। नियतिशक्ति के द्वारा निश्चित किये गये मार्ग पर राग के कारण चित्त स्थिर होता है। अर्थात् द्वैत दर्शन जिस हेय मार्ग का उपदेश देते हैं वह मार्ग मुमुक्षु के चित्त को विषयासक्ति से हटाने के स्थान पर उससे संयुक्त करता है। इसके साथ ही शैव दर्शन में यह विचार भी विद्यमान है कि ये द्वैतवादी दर्शन जिस हेय (मोक्ष) मार्ग का उपदेश देकर अमोक्ष अथवा बन्धन में अपने अनुयायियों को डालते हैं उसका कारण भी शिव की अविच्छिन्न और स्वतन्त्र माया शक्ति है-'**भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।**'

इस श्लोक की विवेक टीका में जयरथ ने न्याय दर्शन (हेतुशास्त्र) का उल्लेख किया है जो वाद-जल्प व वितण्डा में फंसाकर विवाद बढ़ा देता है और सार रूप में यह विचार पुष्ट किया है कि ये दर्शन अज्ञान से बंधे हुए हैं और अपने अनुयायियों को मुक्ति के स्थान पर नरक का ही मार्ग दिखाते हैं।[9]

18-19. **जिस प्रकार (कोई) दुर्बुद्धि (भोक्ता) साम्राज्य के सम्भोग को जाने अथवा बिना जाने अधम भोग में राग के कारण आसक्त रहता है, उसी प्रकार मोक्ष में भी (उसके सम्यक् स्वरूप को जाने अथवा बिना जाने मुमुक्षु आसक्त रहता है)।**

तर्क की सामान्य रूप से प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से पहले पूर्व पक्ष प्रस्तुत किया गया है। पूर्व पक्ष के अनुसार संसार स्वयं अपनी लाभ और हानि के विषयों में जागरूक है। वह बिना शास्त्र के ही प्रवृत्त होता है, जैसे भूखे व्यक्ति को भोजन करने में, मलिन को स्नान करने में शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के क्या उपाय हैं? अथवा मुक्ति क्या है? इसको जानने में शास्त्र अथवा तर्क से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु उत्तर पक्ष इस कथन को अस्वीकार करते हुए कहता है कि यदि मोक्ष के सम्यक् स्वरूप को जाने बिना कोई मुमुक्षु उसमें प्रवृत्त होता है तो वह मोक्ष के स्थान पर अमोक्ष को ही प्राप्त कर सकता है। अतः जीवन में और प्रसङ्ग के अनुसार मोक्ष में, हेय और उपादेय के विवेक के लिए तर्क का निश्चित ही उपयोग है।

राग का स्वरूप :-

19-20. उस (राग) को ही स्वभावनामक अंशक[10] कहा गया है। वह स्पष्टतः सिद्धि का अङ्ग है। (परन्तु) वह मुक्ति के लिए विघ्न है -ऐसा पण्डित मानते हैं।

योगसूत्र (3.51) के अनुसार रागतत्त्व को विभूति माना गया है जो वस्तुतः सिद्धि का अङ्ग होने पर भी मोक्ष के लिए बाधक है। जो इसी को मुक्ति मान लेते हैं, वे मोक्ष-प्रतिभास की स्थिति में बने रहते हैं।

20-21. इसीलिए शिवशासन (शैव दर्शन) के माहात्म्य को जानते हुए भी राग में आसक्त हुआ मूर्ख वैष्णव आदि (दर्शनों) में आसक्त रहता है।[11]

21-22. क्योंकि उस (महेश्वर) की वामा[12] नामक वह ऐश्वरी शक्ति पाञ्चरात्र, ब्रह्मवादी और बौद्ध आदि में अंशतः अर्थात् सीमित सिद्धिदात्री के रूप में फैली हुई है।

इस शक्ति को वामा इसलिये कहा गया है क्योंकि यह संसार का वमन अर्थात् आविर्भाव तथा चैतन्य का तिरोभाव करती है:-

'वामा संसारवमनात् .....।'

22-23. कुछ बच्चों जैसे मूर्ख साम्राज्य के सम्भोग की निन्दा करते हुए पाये जाते हैं। अपने भोगों के प्रति बारम्बार अभिलाषा व्यक्त करने से (यह स्पष्ट है) कि वे सन्तुष्ट हो जाने के कारण (निन्दा नहीं करते हैं)।

भोग की अभिलाषा समाप्त न होने पर भी साम्राज्य-सम्भोग को स्पृहणीय मानने वाले कुछ व्यक्ति अधम भोगों का वरदान निरन्तर देते रहते हैं जो उनकी अपनी अतृप्त आकांक्षा का द्योतक है।

23-24. इस प्रकार भैरव के आवेश और निन्दा में तत्पर हृदय वाले, अत्यन्त (सु) घोर शक्तियों के द्वारा पतित होते हैं।

24-25. इसी कारण से (वह मूढ़जन) शैव दर्शन के महत्त्व को जानते हुए भी अन्य दर्शनों में आश्वस्त रहता है। इसलिए भेदरूपी सागर से उसका (कभी भी) उद्धार नहीं होता। और 'श्रीकामिका' के पाश प्रकरण में स्पष्ट कहा गया है (-)।

26-27. वेद, सांख्य और पुराणों को जानने वाले, पाञ्चरात्र में आस्था रखने वाले तथा अन्य शास्त्रों में आस्था रखने वाले जो बौद्ध, आर्हत आदि धीरऋषि हैं वे सभी (अशुद्ध) विद्या और राग से ग्रस्त (रंजित) हैं। माया के पाश से बंधे रहने के कारण वे शिव-दीक्षा

को प्राप्त नहीं करते हैं।

वेदादि शास्त्रों में निष्ठा रखने वाले माया से ग्रस्त रहते हैं। शैव दर्शन का ज्ञान अथवा मोक्ष माया से ऊर्ध्ववर्ती है। इसलिए वे मायाग्रस्त मुमुक्षु शैव मुक्ति को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

28. **वह नियामक रागतत्त्व उस (जिज्ञासु) को उस मायीय शास्त्र में नियमित करता है, अतः राग शब्द से नियामक 'रागतत्त्व' को कहा गया है।**

नियामक का अर्थ है-किसी निश्चित विषय के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने वाला तत्त्व। राग तत्त्व मूर्ख पुरुष को वेदादि मायीय शास्त्रों में नियमित करता है। इसी के कारण वह पुरुष संकुचित बुद्धि वाला होकर संकुचित वस्तु को ही अपना आकांक्षणीय मानता है। यद्यपि सभी विषयों की सामान्यरूप से अभिलाषा करना 'रागतत्त्व' का स्वरूप है तथापि जब तक किसी निश्चित विषय को वह केन्द्र बिन्दु नहीं बनाता तब तक उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः रागतत्त्व में नियति तत्त्व के प्रभाव को मानना संगत है।

29-30. **परा प्रकृति से ऐक्य-रूप वैष्णव आदि का, आनन्द-रूपात्मक (ब्रह्मवादियों का) विशुद्ध चित्त मात्र (विज्ञानवादी बौद्धों का) अथवा दीपक की तरह (विज्ञान) संतति का क्षय हो जाना (वैभाषिक बौद्धों का) अपने-अपने संकल्प से उत्पन्न जो मोक्ष है, वह संवेद्य और अपवेद्य रूप है तथा (शैव-दर्शन द्वारा मान्य) 'प्रलयाकलता' है।**

वैष्णव आदि एवं बौद्ध आदि दर्शनों का मोक्ष शैव मतानुसार केवल प्रलयाकल प्रमाता तक पहुँचने की ही स्थिति है। अर्थात् ये दर्शन जिस मुक्ति के मार्ग को प्रदर्शित करते हैं उसका अनुसरण करते हुए मुमुक्षु केवल प्रलयाकल प्रमाता के स्वरूप तक ही पहुँच पाता है, वास्तविक मुक्ति से वंचित रहता है।

वैष्णव मतानुसार **'परप्रकृतिसायुज्यं मोक्षः'** है अर्थात् भगवान् वासुदेव नामक एक महाविभूति है जो चेतन और अचेतन का विधान करती है। वही पर प्रकृतिरूप परब्रह्म अपने स्वभाव के कारण विविध क्रमों में आभासित होता है। यद्यपि वह विश्वरूपतया अनेक है, फिर भी उसे एक ही माना गया है जैसा कि छान्दोग्य (6.2.1) में **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** कहा गया है।

मुमुक्षु तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से अपनी संविद् को नित्य रूप में परिशुद्ध बनाता है और विकारों को शान्त करके ऐक्य की अनुभूति कराने वाले ग्रन्थों का अध्ययन करता है तथा इस प्रकार जिस आत्मस्वरूप की वह अनुभूति

करता है वही वैष्णवों की मुक्ति है।

वैष्णव विश्व की अनेकता का इन श्रुतियों से समर्थन करते हैं **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।'' .... ततः सर्गो बुद्बुदत्वेनाभिव्यज्यते** (छाउ, 3.12.6.)।

ब्रह्मवादियों के अनुसार 'आनन्द की अनुभूति' मोक्ष है- **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।'** (बृउ, 3.9.28)

विज्ञानवादियों के अनुसार नैरात्म्य आदि भावना के अभ्यास से जब राग आदि आगन्तुक मलों की निवृत्ति हो जाती है और अविनश्वर ज्योतिरूप अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है तब इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

वैभाषिकों के अनुसार - जैसे तेल आदि की समाप्ति पर दीपक का जलना अवरुद्ध हो जाता है उसी प्रकार नैरात्म्य आदि भावना के अभ्यास से क्लेश, कर्म आदि के विनाशपूर्वक पञ्च स्कन्धों का अवरोध हो जाना ही मोक्ष है।[13]

प्रलयाकलों को संवेद्य और अपवेद्य स्वरूप इसलिए कहा गया है कि प्रथम दो मतों (वैष्णव एवं ब्रह्मवाद) में ब्रह्म को आनन्दमय माना गया है और अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से उसे सवेद्यप्रलयाकल कहा गया है। शेष एक पक्ष (विज्ञानवाद) में किसी नित्य ज्ञाता का अभाव माना जाता है। इसलिए यह मत अवेद्य प्रलयाकल की स्थिति तक पहुँचता है। प्रलयाकल को वास्तविक मुक्ति इसलिए माना नहीं जा सकता क्योंकि इस स्थिति में दोनों प्रकार के मलों (जो कि संसार के कारण हैं) का क्षय नहीं होता और प्रमाता संसारी ही बना रहता है। अतः यह मोक्ष हेय है।

पूर्व पक्षी प्रश्न करता है कि सामान्यतया बन्ध के क्षय को ही मोक्ष कहा जाता है। आत्मा के बन्धन का अर्थ है कि वह आणव, मायीय और कार्म इन तीनों मलों से बंधा रहता है। वैष्णव आदि दर्शन द्वारा प्रदत्त मुक्ति शैव मत में प्रलयाकलता की स्थिति है, जिसमें एक मल से तो मुमुक्षु मुक्त हो जाता है परन्तु शेष दो मलों से बँधा ही रहता है। ऐसा उत्तर पक्ष मानता है। किन्तु पूर्वपक्ष की आपत्ति यह है कि जब वैष्णव आदि दर्शन की मुक्ति अथवा उसके उपाय मुमुक्षु को एक मल से छुटकारा दिलाने में समर्थ हैं तब वे दर्शन और उनके मोक्षोपाय पूर्णतया हेय कैसे कहे जा सकते हैं?

31-32. **उस (प्रलयाकलरूपमोक्ष) को चिरकाल तक प्राप्त करके भी तत्सम्बन्धी भोगों को न भोगने के कारण उस (प्रलयाकलरूप मायीय**

भोग-भूमि) के प्रलय होने पर तदुत्तर सृष्टि में अवतीर्ण होकर (32) अनन्तेश द्वारा निष्पादित सम्बोधि (ज्ञान एवं क्रिया के उत्तेजन) के कारण मन्त्र अवस्था प्राप्त करता है। आगे चलकर (तन्त्रा, 9.138-141) इसका विस्तार किया जायेगा, अतः यहाँ उसे रहने देते हैं।

वैष्णव आदि दर्शनों का अनुयायी मुमुक्षु यद्यपि चिरकाल तक प्रलयाकलरूपी मोक्ष को प्राप्त करता है तथापि मायीय सृष्टि से परे न जाने के कारण तथा भोगों को उस अवस्था में भोगने के कारण पुनः संसारी बन जाता है। किन्तु शैव साधक इस अवस्था में भोगों को नहीं भोगता है। साथ ही अनन्तेश के अनुग्रह से उसकी ज्ञान एवं क्रियाशक्ति और भी उत्तेजित हो जाती है जिसे यहाँ आयातशक्तिपात कहा गया है। अतः वह मायीय सृष्टि से परे होकर मन्त्र नामक प्रमातृत्व को प्राप्त कर लेता है।

वैष्णव आदि दर्शनों की मुक्ति से संसार का क्षय नहीं होता है फिर भी मुमुक्षु उनमें अनुरक्त क्यों होता है?

33. **इसलिए (कि) अज्ञजनों द्वारा कल्पित प्रवादों से जो मोहित है वह माया के पाश से बँधा हुआ है (और इसी कारण) असद्गुरु में आस्था रखने वाला है।**

कपिल इत्यादि ऋषि-समूह ने 'प्रकृति और पुरुष का विवेक' ही मोक्ष है - इस तरह के प्रवाद अपने-अपने मतानुसार फैला रक्खे हैं। महेश्वर की वामा शक्ति के कारण अज्ञ मुमुक्षु इन प्रवादों के प्रति मोहित हो जाता है और तत्त्व का उपदेश देने वाले किसी आचार्य विशेष में आस्था रखने लगता है।

वैष्णव आदि मतों के अनुयायी सद्-गुरु में आस्था नहीं रखते तब उन्हें साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी?

34. **(असद् गुरु में विश्वास रखने वाला) वह (वैष्णवजन) भी सत्तर्क के सहयोग से सद्गुरु के पास ले जाया जाता है। युक्तियुक्त तर्क ही शुद्ध विद्या (है)[14] और वह (शुद्ध विद्या) परमेश्वर की इच्छा है।**

शैव मुमुक्षु की भाँति वैष्णव आदि जन भी साक्षात् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, यदि वे युक्तियुक्त तर्कों में विश्वास रखते हुए सद्-गुरु के पास जाते हैं।

35. **उन स्वोपज्ञ गुरु ने (भी) 'श्री पूर्वशास्त्र' में कहा है कि वह जिज्ञासु भोग और मोक्षरूप परमार्थ की सिद्धि के लिए शिव की इच्छा से ही**

सद्गुरु के पास ले जाया जाता है।

सत्तर्क एवं शिवशक्ति में किसी प्रकार का भेद नहीं है। अतः सत्तर्क से सद्गुरु के प्रति प्रवर्तित होने का अर्थ शिव की अनुग्रह शक्ति से ही प्रवर्तित होना है।

सभी प्रकार के जिज्ञासु जब शिव की इच्छा से ही प्रेरित होते हैं तब वे पहले ही सद्गुरु के पास क्यों नहीं जाते? ऐसा क्यों होता है कि वे असद्गुरु के पास जाने के बाद सद्गुरु के पास जाते हैं?

36. **(वह मुमुक्षु) जो असद्गुरु में, (वैष्णव आदि) अन्य शास्त्रों में अथवा (शैवशास्त्र एवं गुरुरूप) सन्मार्ग में आश्रित रहता है वहाँ (कारण) यही है कि शिव का शक्तिपात[15] क्रम से ही प्रवर्तित होता है।**

गुरु अथवा शास्त्र के सद्रूप अथवा असद्रूप होने का क्या कारण है ?

37. **यहाँ गुरु अथवा शास्त्र के सत्व एवं असत्व में भेदक तत्त्व (शिव के) शक्तिपात की विचित्रता (ही) है। (इसका) विवेचन आगे (तंत्रा शक्तिपाताह्निक 13 में) किया जायगा।**

उपर्युक्त कथन के समर्थन में 'स्वच्छन्दतन्त्र' का प्रमाणः-

38. **वैष्णव आदि (मतों के अनुयायी) सभी प्रवादियों को वह माया मोक्ष की लालसा से अमोक्ष (अर्थात् बन्ध) में भ्रमित करती है - ऐसा स्वन्छन्दशास्त्र में कहा गया है।[16]**

वैष्णवजन यदि माया से भ्रमित हैं और उसी में उनके संस्कार हैं तब वे असन्मार्ग से परावृत्त होकर क्या कभी भी सन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होंगे?

39.-40. **जो वहाँ (वैष्णव आदि दर्शनों में) आस्था रखते हुए भी (सत्तर्क रूपी) परामर्श में कुशल है, वह शुद्ध विद्या की महिमा से शक्तिपात के द्वारा पवित्र हुआ (पवित्र होकर) (40 अ) बिना किसी विघ्न के सन्मार्ग में अवश्य ही प्रवृत्त होता है।**

सत्तर्करूप परामर्श के उदय का कारण :-

40-41. **किसी (मुमुक्षु) में तो वह तर्क स्वतः ही प्रवृत्त (उदित) होता है और वह शास्त्र में आत्मज्ञान के स्वभाव वाला 'सांसिद्धिक' कहा गया है।[17]**

मुमुक्षु को स्वतः ही सत्तर्क का परामर्श होता है। इसका आशय यह है कि उसमें गुरूपदेश, शास्त्र आदि कारण नहीं हैं तथापि परमेश्वर का अनुग्रह आदि अन्य

कारण भी होते हैं। इसीलिए इस दर्शन में इसका अन्य नाम 'यौगिक' भी है।

41-42. **'किरणा' (नामक संहिता) में जो (मोक्ष के उपायों के सन्दर्भ में) गुरु, शास्त्र (और) स्व (मोक्षोपाय) कहे गये हैं, (उनमें) क्रमशः बाद वाले (उत्तरोत्तर) प्रमुख हैं (तथा) पूर्व-पूर्व वाले (अग्रिम के) उपाय हैं।[18]**

मोक्ष प्राप्ति के तीन उपाय हैं गुरु, शास्त्र और स्व। इनमें प्रथम दो अमुख्य हैं तथा स्व ही सर्वोत्तम है। (शून्यमेवंविधं ज्ञेयं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः) गुरु आदि उपायों का महत्त्व यह भी है कि शास्त्रों के ज्ञान में गुरु उपाय है, 'स्व' के ज्ञान में शास्त्र उपाय हैं तथा परमेश्वर से ऐक्य के प्रत्यभिज्ञान में 'स्व' उपाय है। इस प्रकार मोक्ष में 'स्व' ही प्रधान उपाय है।

42-43. **जिस (मुमुक्षु) में यह (परामर्शरूप) सत्तर्क स्वतः (ही उत्पन्न होता) है वह (योग-ज्ञान आदि में) सर्वत्र अधिकारी होता है। वह अपनी चित् शक्तियों के द्वारा[19] अभिषिक्त और दीक्षित[20] होता है।**

43-44. **वही (सांसिद्धिक) सभी आचार्यों के मध्य में मुख्य कहा गया है। उसके समीप रहने पर अन्य कल्पित (गुरु, शास्त्रादि उपायों) की अधिकारिता नहीं है।**

यहाँ शङ्का उठाई जाती है कि गुरु की सहायता से शास्त्रों का ज्ञान होता है, यह सभी मानते हैं। तब जिसको गुरु ही उपलब्ध नहीं हुआ, उसके बारे में शास्त्र-ज्ञान का तो प्रश्न ही नहीं उठता।[21]

44-45. **वह समस्त शास्त्रार्थ को सत्तर्क से ही जानता है। वह शुद्धविद्या ही नहीं है जो सत्य का प्रकाशन न करे।**

45-46. **इसमें (जिस मुमुक्षु में शुद्धविद्या है उसमें) सभी शास्त्रों के अर्थ की ज्ञानवत्ता अकस्मात् ही उत्पन्न होती है - ऐसा 'श्रीपूर्वशास्त्र' में 'वह अकस्मात्' ऐसे शब्द से कहा गया है।**

46-47. **जो कारण संसार में अप्रसिद्ध है वह (यहाँ) अकस्मात् (शब्द) से कहा जाता है। और वह शक्तिमान् परमेश की शुद्धविद्या से समुल्लसित है।**

मुमुक्षु में सत्तर्क के परामर्श के अकस्मात् उदय में गुरु के उपदेशादि को कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वे यहाँ साक्षात् कारण के रूप में नहीं दिखते हैं। इसलिए लोक में अप्रसिद्ध अथवा अलौकिक कोई कारण होना चाहिये। इस दर्शन के अनुसार वह कारण परमेश्वर की 'शुद्धविद्या का समुल्लास है जिसका अनुमान फल अर्थात् मुक्ति अथवा सत्तर्क-परामर्शोदय से किया जा सकता है।

इस शुद्धविद्या के कारण ही मुमुक्षु में गुरु, शास्त्र आदि के बिना भी सभी विषयों से सम्बन्धित प्रतिभा अथवा महाज्ञान उत्पन्न होता है।[22]

उपाधिभेद के कारण प्रातिभज्ञान की अनेकता :-

47. ब, 48. **निर्भित्तिक तथा सभित्तिक इस (सांसिद्धिक ज्ञान) के अनेक भेद हैं। मुख्य और अमुख्य अंश में रहने वाला यह (सभित्तिक) भी सर्वगत (तथा) अंशगत होता है। भित्ति अर्थात् दूसरे (पर) का आश्रय ग्रहण करता है। प्रज्ञा तथा उससे निर्मित शास्त्र ही 'दूसरा' (पर) है।**

सांसिद्धिक के दो मूल भेद हैं - निर्भित्तिक तथा सभित्तिक। दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए शास्त्र आदि के आधार (भित्ति) को ग्रहण करने वाला ज्ञान सभित्तिक है। इसके तीन भेद हैं : 1.सर्वगत 2.मुख्यांशगत एवं 3. अमुख्यांशगत। अधिकारी के भेद से शास्त्र भी विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। इन शास्त्रों की सहायता लेने के कारण ही सभित्तिक ज्ञान को उपाय भेद के आधार पर अनेक प्रकार का कहा गया है। विवेककार ने विभिन्न उदाहरणों के आधार पर यह कहा है कि सिद्ध पुरुष परानुग्रह अथवा लोक कर्त्तव्य के लिए ही निरन्तर कर्म में लगा रहता है। यही उसके जीवन का परम प्रयोजन है।[23]

49. **इस प्रकार जो कोई तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है वह मण्डल (बाह्य दीक्षा के साधनभूत यागादि को बिना जाने भी (मोक्षरूपी) सिद्धि पा लेता है तथा वह नित्ययोगी और दीक्षित है।**

50. **इस प्रकार जो (अपने स्वरूप को) तत्त्वतः जानता है उसकी निर्वाणोन्मुखी दीक्षा[24] होती है-ऐसा 'श्रीत्रिंशकाशास्त्र' में कहा गया है।**

यागादि साधनों से रहित मुमुक्षु भी गुरु इत्यादि की अपेक्षा के बिना, केवल शिव के अनुग्रह से ही संशय-रहित निर्वाणगामिनी दीक्षा को प्राप्त करता है। इस प्रकार से अपने स्वरूप को जानने वाला ही दीक्षित है अर्थात् उसने अपनी चित् शक्तियों के द्वारा बन्धनों का क्षय करके आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त कर ली है। इसलिए वही नित्ययोगी है अर्थात् संसार दशा में भी परमेश्वर से ऐक्य की अनुभूति करने वाला है तथा वही जीवित अवस्था में भी मोक्षरूप सिद्धि का भोग करता है।

51.-52. **'सांसिद्धिक' माने गये गुरु को (दूसरे आचार्य द्वारा असम्पादित होने के कारण) 'अकल्पित' समझना चाहिये। दूसरे (गुरु) के बिना, अपनी भावना के कारण जो उस (सांसिद्धिक) के स्वरूप को पा लेता है, उसे शास्त्र में शास्त्रों का जानकार 'अकल्पित-कल्पक' गुरु**

बताया गया है। उपाय (शक्तिपात) के कारण इसके भी उत्कृष्ट, मध्यम, मन्द आदि भेद होते हैं।

सांसिद्धिक गुरु सहज उदित अलौकिक सत्तर्क के कारण शास्त्र अथवा आचार्य की अपेक्षा के बिना आत्मज्ञान से जन्मना प्रदीप्त रहता है। उसका निर्माण न कोई शास्त्र करता है और न कोई आचार्य। इसलिए उसे 'अकल्पित' कहा जाता है। दूसरा गुरु वह होता है जिसमें सांसिद्धिक के समान सहज ज्ञान भी होता है और कुछ वह शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त करता है। इसी कारण उसे 'अकल्पित कल्पक' कहा गया है। उसका कुछ ज्ञान अकल्पित (सहज) होता है और कुछ शास्त्रज्ञान से कल्पित। यह पूर्ण रूप से सांसिद्धिक नहीं होता है। इसके ज्ञान में पूर्णता नहीं रहती। शक्तिपात के भेद के कारण इस गुरु के भेद होते हैं।

53. **(यह) अकल्पित (अर्थात् अकल्पितकल्पक) महाज्ञानी भावना (से), ध्यान (से), जप (से), स्वप्न (से), व्रत (से) अथवा आहुति से उदार (महान्) अभिषेक को प्राप्त करता है (अर्थात् शास्त्र-ज्ञान आदि में अधिकारी होता है)।**

अकल्पितकल्पक ज्ञानी, न केवल आत्म-भावना के द्वारा अपितु ध्यान, जपादि के द्वारा भी शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने में अधिकारी होता है।

ज्ञान की प्राप्ति में भावना आदि अनेक कारण हैं - इस मान्यता के समर्थन में शास्त्र-प्रमाण :-

54. **विधाता ने 'श्रीमद्वाजसनीय', 'श्रीवीर' 'श्रीब्रह्मयामल', 'श्रीसिद्धा' में और अन्यत्र (भी) यह स्पष्ट कहा है।**

अनेक आगमों में उपायों का नानात्व बताया गया है। यहाँ पहले 'श्रीसर्ववीर' ग्रन्थ का उद्धरण दिया जाता है :-

55-57. **उस (परमेश्वर) के प्रवृत्ति में स्वतन्त्र होने के कारण (यहाँ) अनेक कारणों का बताना (होना) उचित है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का स्वामी परमेश्वर कभी भक्ति के योग से, कर्म से, अथवा विद्या से, ज्ञान और धर्म के उपदेश से अथवा मन्त्रों से, अथवा दीक्षा आदि अनेक प्रकारों से भी सांसारिकों (अर्थात् संकुचित प्रमातृ-वर्ग) के प्रति अनुग्रह करता है।**

'श्रीसर्ववीर' ग्रन्थ में कहा गया है कि अनादि संसार का कारण परमेश्वर है तथा वह स्वभाव से ही प्राणियों पर सदा अनुग्रह करने वाला है।[25] वही बन्धनग्रस्त

इस शुद्धविद्या के कारण ही मुमुक्षु में गुरु, शास्त्र आदि के बिना भी सभी विषयों से सम्बन्धित प्रतिभा अथवा महाज्ञान उत्पन्न होता है।[22]

उपाधिभेद के कारण प्रातिभज्ञान की अनेकता :-

47. ब, 48. निर्भित्तिक तथा सभित्तिक इस (सांसिद्धिक ज्ञान) के अनेक भेद हैं। मुख्य और अमुख्य अंश में रहने वाला यह (सभित्तिक) भी सर्वगत (तथा) अंशगत होता है। भित्ति अर्थात् दूसरे (पर) का आश्रय ग्रहण करता है। प्रज्ञा तथा उससे निर्मित शास्त्र ही 'दूसरा' (पर) है।

सांसिद्धिक के दो मूल भेद हैं - निर्भित्तिक तथा सभित्तिक। दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए शास्त्र आदि के आधार (भित्ति) को ग्रहण करने वाला ज्ञान सभित्तिक है। इसके तीन भेद हैं : 1.सर्वगत 2.मुख्यांशगत एवं 3. अमुख्यांशगत। अधिकारी के भेद से शास्त्र भी विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। इन शास्त्रों की सहायता लेने के कारण ही सभित्तिक ज्ञान को उपाय भेद के आधार पर अनेक प्रकार का कहा गया है। विवेककार ने विभिन्न उदाहरणों के आधार पर यह कहा है कि सिद्ध पुरुष परानुग्रह अथवा लोक कर्त्तव्य के लिए ही निरन्तर कर्म में लगा रहता है। यही उसके जीवन का परम प्रयोजन है।[23]

49. इस प्रकार जो कोई तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है वह मण्डल (बाह्य दीक्षा के साधनभूत यागादि को बिना जाने भी (मोक्षरूपी) सिद्धि पा लेता है तथा वह नित्ययोगी और दीक्षित है।

50. इस प्रकार जो (अपने स्वरूप को) तत्त्वतः जानता है उसकी निर्वाणोन्मुखी दीक्षा[24] होती है-ऐसा 'श्रीत्रिंशकाशास्त्र' में कहा गया है।

यागादि साधनों से रहित मुमुक्षु भी गुरु इत्यादि की अपेक्षा के बिना, केवल शिव के अनुग्रह से ही संशय-रहित निर्वाणगामिनी दीक्षा को प्राप्त करता है। इस प्रकार से अपने स्वरूप को जानने वाला ही दीक्षित है अर्थात् उसने अपनी चित् शक्तियों के द्वारा बन्धनों का क्षय करके आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त कर ली है। इसलिए वही नित्ययोगी है अर्थात् संसार दशा में भी परमेश्वर से ऐक्य की अनुभूति करने वाला है तथा वही जीवित अवस्था में भी मोक्षरूप सिद्धि का भोग करता है।

51.-52. 'सांसिद्धिक' माने गये गुरु को (दूसरे आचार्य द्वारा असम्पादित होने के कारण) 'अकल्पित' समझना चाहिये। दूसरे (गुरु) के बिना, अपनी भावना के कारण जो उस (सांसिद्धिक) के स्वरूप को पा लेता है, उसे शास्त्र में शास्त्रों का जानकार 'अकल्पित-कल्पक' गुरु

बताया गया है। उपाय (शक्तिपात) के कारण इसके भी उत्कृष्ट, मध्यम, मन्द आदि भेद होते हैं।

सांसिद्धिक गुरु सहज उदित अलौकिक सत्तर्क के कारण शास्त्र अथवा आचार्य की अपेक्षा के बिना आत्मज्ञान से जन्मना प्रदीप्त रहता है। उसका निर्माण न कोई शास्त्र करता है और न कोई आचार्य। इसलिए उसे 'अकल्पित' कहा जाता है। दूसरा गुरु वह होता है जिसमें सांसिद्धिक के समान सहज ज्ञान भी होता है और कुछ वह शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त करता है। इसी कारण उसे 'अकल्पित कल्पक' कहा गया है। उसका कुछ ज्ञान अकल्पित (सहज) होता है और कुछ शास्त्रज्ञान से कल्पित। यह पूर्ण रूप से सांसिद्धिक नहीं होता है। इसके ज्ञान में पूर्णता नहीं रहती। शक्तिपात के भेद के कारण इस गुरु के भेद होते हैं।

53. **(यह) अकल्पित (अर्थात् अकल्पितकल्पक) महाज्ञानी भावना (से), ध्यान (से), जप (से), स्वप्न (से), व्रत (से) अथवा आहुति से उदार (महान्) अभिषेक को प्राप्त करता है (अर्थात् शास्त्र-ज्ञान आदि में अधिकारी होता है)।**

अकल्पितकल्पक ज्ञानी, न केवल आत्म-भावना के द्वारा अपितु ध्यान, जपादि के द्वारा भी शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने में अधिकारी होता है।

ज्ञान की प्राप्ति में भावना आदि अनेक कारण हैं - इस मान्यता के समर्थन में शास्त्र-प्रमाण :-

54. **विधाता ने 'श्रीमद्वाजसनीय', 'श्रीवीर' 'श्रीब्रह्मयामल', 'श्रीसिद्धा' में और अन्यत्र (भी) यह स्पष्ट कहा है।**

अनेक आगमों में उपायों का नानात्व बताया गया है। यहाँ पहले 'श्रीसर्ववीर' ग्रन्थ का उद्धरण दिया जाता है :-

55-57. **उस (परमेश्वर) के प्रवृत्ति में स्वतन्त्र होने के कारण (यहाँ) अनेक कारणों का बताना (होना) उचित है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का स्वामी परमेश्वर कभी भक्ति के योग से, कर्म से, अथवा विद्या से, ज्ञान और धर्म के उपदेश से अथवा मन्त्रों से, अथवा दीक्षा आदि अनेक प्रकारों से भी सांसारिकों (अर्थात् संकुचित प्रमातृ-वर्ग) के प्रति अनुग्रह करता है।**

'श्रीसर्ववीर' ग्रन्थ में कहा गया है कि अनादि संसार का कारण परमेश्वर है तथा वह स्वभाव से ही प्राणियों पर सदा अनुग्रह करने वाला है।[25] वही बन्धनग्रस्त

सांसारिकों को अपनी इच्छा से मुक्त करता है।[26] इस प्रकार शिव दूसरे पर अनुग्रह करने में स्वतन्त्र है फिर भी इसी ग्रन्थ में उसके अनुग्रह के अन्य कारण भी बताये गये हैं। अनुग्रह पाने वाले सांसारिकों में विविधता अथवा भेद होने के कारण शिव के स्वतन्त्र इच्छात्मक अनुग्रह में भी विचित्रता आ जाती है। इसीलिए मुक्ति अथवा आत्मज्ञान के कारणों को अनेक कहना सम्भव होता है।

इसी प्रसङ्ग में 'श्रीब्रह्मयामल' ग्रन्थ का पाठ किया जाता है :-

57.-58. **इन्द्रियों की अधिष्ठातृ देवियों के शक्तिरूप में ज्ञान से, संस्कार, तप, ध्यान, योग जप, ज्ञान, मन्त्रों की आराधना, व्रत (आदि) से सर्वत्र विद्यमान (कुछ सामान्य) ज्ञान प्राप्त होता है जो आत्म-सिद्धि (लौकिक सिद्धि) प्रदान करता है।**

अकल्पितकल्पकगुरु, भावना आदि अनेक उपायों से आत्मज्ञान प्राप्त करता है- ऐसा मानने पर उस अकल्पित-कल्पक का मुख्य लक्षण क्या भावना आदि कारण-जाल में अवस्थित रहना ही माना जायेगा? इस शङ्का का निवारण स्वयं ग्रन्थकार करता है :-

59. **जहाँ-जहाँ तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि दिखाई देती है वहाँ (वहाँ) वही (अकल्पितकल्पक) गुरु है, ऐसा (जानना चाहिये) (तथा सभी) हेतुजाल (भावनादि उपाय) कल्पित हैं।**

पूर्ण आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में एक मात्र अकल्पितकल्पकगुरु ही स्वयं निमित्त है। वह अकल्पितकल्पक इसलिए माना गया है कि वह भावनादि अन्य उपायों की भी कल्पना कर लेता है। अतः अकल्पितकल्पक गुरु का प्रमुख लक्षण भावना, ध्यानादि में अवस्थित रहना नहीं माना जा सकता अपितु उसका लक्षण फलरूप पूर्णज्ञानवत्त्व ही है।

60 (अ) **'ब्रह्मयामल' (नामक ग्रन्थ) में (भी यही कहा गया है कि) तत्त्वज्ञान से भिन्न (अकल्पितकल्पकगुरु का) अन्य लक्षण नहीं है।**

यद्यपि अन्य शास्त्रों में गुरु का लक्षण **'भावितः सुप्रसन्नात्मा जपहोमरतः सदा'** ऐसा किया गया है फिर भी इस लक्षण को अस्वीकार करते हुए 'ब्रह्मयामल' में तत्त्वज्ञान को ही गुरु का मुख्य लक्षण कहा गया है। क्योंकि ज्ञानवान्गुरु ही उत्तम गुरु होता है-**'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः।'**

62-62. **उसी ('श्रीब्रह्मयामल') में कहा गया है कि निःसंशय होकर (जपादि) सेवा (उपाय) के करने पर भी (किसी दोष अथवा वैगुण्य के कारण)**

यदि साधक को (अभीष्ट) सिद्धि प्राप्त नहीं होती है तब उसे क्या करना चाहिये? (भगवती के) इस प्रश्न का उत्तर है कि (मन्त्रादि स्वरूप की) उत्कृष्ट सिद्धि के लिए ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के द्वारा आत्म-दीक्षण करना चाहिये। इससे सिद्धि की प्राप्ति होती है।

62-63. इस ('ब्रह्मयामल) में मुख्यतः आचार्य के स्फुरित न होने पर, स्फुरत्ता के साधक आत्म-विज्ञान को बताया गया है।

आचार्य सस्फुर हो अथवा अस्फुर इससे हमें क्या प्रयोजन? परन्तु निश्चित है कि बिना आचार्य के साधक स्वयं दीक्षा प्राप्त नहीं कर सकता है और यदि बिना आचार्य के दीक्षा मानी जाती है तो आगम से विरोध उत्पन्न होगा तथा ऐसा मानना इसकी गलत व्याख्या भी होगी। उस शङ्का के समाधान में उत्तरपक्षी कहता है कि :-

63-64. और फिर वहीं (श्री ब्रह्मयामल में कहा गया है कि) श्री चण्डिका (रक्ता) के आराधन कर्म (के प्रसङ्ग) में बताये गये विधान को प्रतिदिन करने वाला एक मास में 'आचार्य' एक पक्ष में 'साधक', (पक्ष के) आधे में (अर्थात् सात दिन में) 'पुत्रक' (और उसके भी) आधे अर्थात् चार दिन) में 'समयी' कहा जाता है।

क्या दीक्षा के बिना भी 'समयी' आदि बन सकता है? इसका उत्तर है :-

65. रक्तादेवी[27] (श्रीचण्डिका) ('समयी' आदि के) क्रम से जप, योग के द्वारा चूंकि (साधक को) दीक्षित करती है (अतः) उपर्युक्त (अकल्पित-कल्पक आदि) गुरु के न मिलने पर (साधक स्वयं मन्त्रग्रहण आदि रूप) विधि का अनुष्ठान करे।

66. और उन्होंने जो 'मत' ('श्रीसिद्धामत') में पुस्तक से विद्या के अध्ययन में दोष बताया है वह उस दोष के पैदा न होने पर निषिद्ध नहीं है।

पुस्तक में लिखित मन्त्र शक्तिहीन होते हैं। इसलिए जो पुस्तकों से मन्त्रों को ग्रहण करते हैं उन्हें सिद्धि नहीं मिलती तथा वे केवल क्लेश के भागी होते हैं।[28] किन्तु यदि पुस्तक से मन्त्र पढ़ने वाला उक्त दोष का निवारण कर लेता है तो उसके लिए पुस्तक से मन्त्रों को पढ़ना निषिद्ध नहीं है अर्थात् जो साधक पुस्तक से प्राप्त मन्त्रों में भी शक्ति पा लेते हैं वे भैरवीय संस्कार वाले 'सांसिद्धिक' (सहज सिद्ध) कहे जाते हैं।[29]

67-68. मन्त्र, द्रव्य आदि को गुप्त रखने का क्या फल है-ऐसा (भगवती के

द्वारा) पूछने पर (भगवान् ने उत्तर दिया कि) जो पुस्तक से विद्या प्राप्त करने वाले हैं, दीक्षा की मर्यादा से रहित तथा तामस (बौद्ध और पौरुष ज्ञान से शून्य) हैं वे पर-हिंसादि और वशीकरण आदि का आचरण करते हैं तथा (मन्त्रादि के) तत्त्व को नहीं जानते हैं। इसलिए स्पष्ट ही (नरकरूप) दोष के भागी बनते हैं।

69 (ब). प्रथम पद *(पुस्तकाधीत विद्याः, दीक्षासमयवर्जिताः)* को एक-दूसरे का कारण एवं कार्य कहा जाना चाहिये।

अर्थात् दीक्षा की मर्यादा से रहित होने का कारण पुस्तकीय ज्ञान है तथा पुस्तकीय ज्ञान का कारण दीक्षा की मर्यादा को न मानना है।

कल्पितगुरु का अभिधान :-

69-70. जो (कल्पितगुरु) शास्त्र के बिना शुद्धविद्या नामक संविद् को प्राप्त नहीं करता है (अर्थात् जिसमें शास्त्र से ही सत्तर्क-रूप शुद्धविद्या उत्पन्न होती है, स्वयं से नहीं), गुरु से शास्त्र को खोजने वाला (ऐसा) वह (साधक) उनके द्वारा बताये गये क्रम का पालन करता है।

70-72. जिस किसी उपाय से, भक्तिपूर्वक गुरु की आराधना करके तथा (उसके द्वारा (दी हुई) दीक्षा के क्रम के योग से यह शास्त्रों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है।

इसके उपरान्त अभिषेक[30] (अर्थात् पूर्णज्ञानादि) को प्राप्त करके, 'कल्पित' (गुरु) होते हुए भी वह समस्त पाश-समूह का निवारण करने में कुशल होता है।

शास्त्रों में कहा गया है कि सर्वप्रथम गुरु की ही भक्तिपूर्वक आराधना करना चाहिये। इस आराधना के अनेक उपाय हैं-जैसे शुश्रूषा, धन, प्रतिविद्या आदि। इनमें से जो जिस उपाय का आश्रय ले सके उसके लिये वही सिद्धिदायक उपाय है। गुरु की आराधना करने से दीक्षा के क्रम से सम्बन्ध स्थापित होता है।[31] इसके फलस्वरूप शास्त्रज्ञान की प्राप्ति होती है। क्योंकि अदीक्षित के सम्मुख गुरु शास्त्र का उच्चारण नहीं करता है।[32]

कल्पिताकल्पित गुरु का अभिधान :-

72-73 . जो यथाक्रमानुसार किसी (लोकोत्तर) शास्त्रीय वस्तु का (गुरु आदि के बिना) आकस्मिक ज्ञान प्राप्त करता है वह (कल्पित होते हुए भी)

कल्पिताकल्पित होता है।

कल्पिताकल्पितगुरु को ऐसा इसलिए कहा जाता है कि भावना आदि उपायों का सहारा लेने के कारण वह कल्पित है तथा गुरु आदि के बिना अपनी प्रतिभा से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के कारण अकल्पित है।

73-74. **उस (कल्पिताकल्पितगुरु) का जो अकल्पित भाग है वह सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि (उसमें) शुद्ध विद्या के अंश का तारतम्यकृत उत्कर्ष है।**

कल्पिताकल्पितगुरु में अकल्पित भाग को सर्वश्रेष्ठ कहने का आधार यह है कि उसमें शुद्धविद्या का अंश सर्वाधिक है अर्थात् कल्पिताकल्पितगुरु में अकल्पित एवं कल्पित भाग के आधिक्य का कारण शुद्ध विद्या की न्यूनाधिक उपस्थिति है।

74-76. **जिस प्रकार भेदवाद में आदि-सिद्धशिव से मुक्तशिव निम्न (माने जाते हैं) उसी प्रकार सांसिद्धिक ज्ञानी से आहृतज्ञानी (कल्पिताकल्पितगुरु) अधम है। उन (सांसिद्धिक ज्ञानी) के सन्मुख उन (कल्पितादि गुरु) का मुक्तशिवों की तरह अधिकार नहीं है (अर्थात् दीक्षादि में अधिकार नहीं है)। परन्तु (उनकी) मौन स्थिति (होती है) अथवा उनका अनुसरण ही (कल्पितादि का) कर्त्तव्य है।**

स्वतः प्रवृत्त तर्क वाले अकल्पितगुरु के लिए शास्त्र आदि की अपेक्षा दूषण है अथवा भूषणः-

76-77 . **जो अकल्पितरूप होते हुए भी (आत्म) संवाद के द्वारा (वस्तु के स्वरूप को) निश्चित करने के लिए अन्य (गुरु और शास्त्र दोनों अथवा केवल गुरु या केवल शास्त्र) से संस्कार प्राप्त करता है, वह गुरु साक्षात् भैरव (अर्थात् पूर्ण परम संविद् से आविष्ट) होता है।**

संवाद मात्र से ही यह कैसे सम्भव है ?

77-78. **क्योंकि शास्त्रों के क्रम से एवं उन (शास्त्रों) को जानने वाले गुरु की प्रज्ञा का पर्यालोचन करने से (जो) आत्मप्रत्ययित (अर्थात् अपने स्वरूप में विश्वास रखने वाला दृढ़) ज्ञान (उदित होता है वह) पूर्ण होने के कारण भैरव के रूप में प्रस्फुरित होता है।**

उपर्युक्त विचार के समर्थन में आगम-प्रमाणः-

78-79. **इसलिए जो 'श्रीकिरणा' में और जो 'निशाटन' में कहा गया है कि गुरु, शास्त्र एवं 'स्व' से प्राप्त होने वाला यह ज्ञान त्रिप्रत्ययात्मक है, वह (ज्ञान)**

संघात, विपर्यास एवं विग्रहों के द्वारा उसी रूप में प्रस्फुरित होता है।

संघात-समस्तता से अर्थात् गुरु, शास्त्र एवं स्व तीनों से।

विपर्यास - उक्त क्रम के विपरीत अर्थात् स्व से, शास्त्र से एवं गुरु से। किसी साधक के ज्ञान के प्रति स्वतः प्रवृत्त होने पर भी उसमें गुरु एवं शास्त्रों के कारण पूर्णता आती है।

विग्रह - न्यस्तत्व अर्थात् किसी साधक को केवल गुरु से, केवल शास्त्र से अथवा केवल 'स्व' से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

यदि परमतत्त्व के ज्ञान में गुरु, शास्त्र और स्व की कारणता है तो फिर उनमें से एक-एक की कारणता कैसे हो सकती है? अथवा यदि एक-एक की कारणता है तो कार्य-सिद्धि के लिए दूसरे का क्या प्रयोजन है :-

80-81. **करण की विचित्रता के कारण, उसको छेदने के लिए वासी (वसूला) और टंक (छेनी) और क्रकच (आरी) विचित्र (साधनों) को ही ग्रहण किया जाता है। (तब भी जिस प्रकार) छेदन (काटना) एक ही होता है उसी प्रकार एक (आत्मा) के अनुसंधान होने पर भी परामृश्य का भेद होता है (अर्थात् परामर्श के भेद से ही परामृश्य का भेद होता है)।**

81-83. **करण (गुरु आदि) के अपने स्वरूप को मिति (ज्ञान) में इसी प्रकार (व्यस्त-समस्त-रूप) कहना चाहिये। मान (ज्ञान अथवा प्रमाण) स्वतः स्वतन्त्र नहीं है (अतः उसकी बलपूर्वक प्राप्ति करनी चाहिये। क्योंकि प्रमाता के आश्वासन-पर्यन्त (स्थिति को) ज्ञान कहा जाता है। और यह आश्वासन शक्तिपात (की विचित्रता) के कारण विचित्र होता है। इसलिए प्रमिति (ज्ञान) में भी प्रमाणों का अवकाश स्पष्ट है।**

यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति में गुरु, शास्त्र एवं स्व रूप में से प्रत्येक पर्याप्त उपाय है फिर भी जिस प्रमाता की आकांक्षा जिस उपाय से सन्तुष्ट हो वही उसके लिए सिद्धि दिलाने वाला प्रमुख उपाय है। प्रमाता की आकांक्षा की दृष्टि से ही इन उपायों का व्यस्त अथवा समस्त-रूप में उपयोग होता है। 'यह तत्व मैंने जान लिया है' इस प्रकार का प्रमाता का आश्वासन ही तत्त्व की प्राप्ति है। अतः जब तक किसी उपाय से प्रमाता में यह आश्वासन उत्पन्न नहीं होता तब तक यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे तत्त्व की प्राप्ति हो गई है। प्रमाता में यह आश्वासन शक्तिपात के तीव्र, मध्य

एवं मन्द भेदों के अनुसार ही तीव्र आदि रूप में होता है।

84. **लगातार देखकर, आलिंगन कर तथा चिरकाल तक चित्त से विचार कर जो प्रिया का परितोष कर लेते हैं, उनके लिये हम क्या कहें?**

85. **इस प्रकार प्रमाणों के सम्प्लव होने पर भी ज्ञान का ही ज्ञान नहीं होता है, न व्यर्थता होती है, न अनवस्था और न अन्योन्याश्रयता।**

'लगातार देखना' रूप-ज्ञान का, आलिंगन स्पर्शज्ञान का एवं चित्त से विचारना विकल्पज्ञान का प्रतीक है। प्रिया शब्द प्रमिति का प्रतीक है। एक प्रकार की प्रमिति से विभिन्न प्रकार के प्रमाण प्रवृत्त होते हैं, ठीक उसी तरह जैसे कि प्रिया को जानने में देखना, आलिङ्गन एवं मन द्वारा परिभावन आदि विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। एक ही विषय को लेकर उसका ज्ञान करने में विभिन्न प्रमाणों की यह प्रवृत्ति प्रमाणसम्प्लव कहलाती है।

योगाङ्ग की अनुपयोगिता का विवेचन :-

86. **इस प्रकार यहाँ तक तर्क ही योगाङ्ग है (यमादि) और कोई नहीं। (क्योंकि) यही अन्तरंग रूप में (संवित् के सन्निकर्ष के द्वारा शुद्धविद्या-रूप) ज्ञान में अतिकुशलता (उत्पन्न करने) के लिए होता है।**

तर्क ही उत्तम योगाङ्ग है। इसी के कारण ज्ञान में कुशलता आती है, जिसके कारण योगी को परमसंविद् का साक्षात्कार होता है। तर्क यमादि की अपेक्षा अन्तरङ्ग है अर्थात् संवित् के साक्षात्कार में साक्षात् उपयोगी है। यमादि बाह्य (दे. तन्त्रा, 4.87-88) हैं, अतः वे शुद्धविद्या को उत्पन्न नहीं करते हैं जो संवित् का साक्षात्कार कराती है। तर्क की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विवेक में उद्धृत कुछ प्रमाणवाक्य उल्लेखनीय हैं :-

पदं पदवतां श्रेष्ठं स्वतेजोगूढलोचनम्।
तदेकं निर्वितर्कं स्यात्प्रभोः स्थानमनातुरम्।।
शेषाणि सवितर्काणि संत्याज्यानि मुमुक्षुभिः।
न वितर्कं विना तानि त्यक्तुं योगप्रयोक्तृभिः।।
शक्यन्ते मुनिशार्दूल तस्मात्तर्कोऽपि युज्यते।
योगिनोऽङ्गत्वमापन्नः स्वोपकाराय चेष्टते।।

यम आदि की अपेक्षा तर्क को ही उत्तम योग मानने का कारणः-

87.-88. **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम ज्ञान में**

साक्षात् उपयोगी नहीं हैं। और जो तप आदि नियम[33] हैं, तथा जो आसन एवं प्राणायाम आदि हैं वह सब बाह्य विस्तार है।

''योग-दर्शन में मान्य यम आदि का साक्षात् उपयोग नहीं है'' ऐसा कहने का अर्थ यह है कि परम्परया अथवा अप्रत्यक्षरूप में उनका उपयोग हो सकता है।

यम आदि की अनुपयोगिता में आगमप्रमाण :-

89-90. और 'श्रीमद्वीरावली में' (जो) कहा गया है कि शिवात्मक ज्ञान मात्र में चित्त के प्रलयरूप बन्धन से शशि सहित भास्कर (प्राण एवं अपान के प्रवाह) के लीन होने पर, तथा आत्मबोधरूप जीवादित्य के बारहवें भाग में पहुँचने पर (जो अनुभव-विशेष उत्पन्न होता है) वही मोक्ष कहा गया है[34] (इसलिए) (रेचकादिरूप) प्राणायाम निरर्थक है।

91. प्राणायाम नहीं करना चाहिए (क्योंकि) उससे शरीर पीड़ित होता है। जो जिसमें रहस्य को जानता है वह (स्वयं भी) मुक्त है और वही (दूसरों को भी) मुक्ति दिलाने वाला है।

92-94. इन्द्रिय-ज्ञान का (रूपादिक विषयों से) निवृत्ति का ही नाम प्रत्याहार है, जो कि (तत्वतः) मुक्त आत्मा के बन्धन का अन्तःकीलन (अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध की भाँति आत्मा की कील से बंधना अर्थात् चित्त के स्वरूप के अनुसार दृढ हो जाना) है। किसी विषय में चित्त (की वृत्ति का बँध जाना ही धारणा का स्वरूप है। (विजातीय नहीं, अपितु) सजातीय ज्ञानों का प्रवाह ध्यान अथवा परम अस्तमिता (अर्थात् विजातीय ज्ञान-प्रवाह का सम्पूर्ण निरोध) है। (और) जब संविद् में ज्ञेय का तादात्म्य उत्पन्न होता है (तब) ग्राह्य एवं ग्रहणता (प्रमेय तथा प्रमाण) के द्वैत से शून्य यह समाधि होती है।

योगसूत्र में वर्णित प्रत्याहार (2,54), धारणा (3.1), ध्यान (3.2) एवं समाधि (3.3) के आधार पर ये परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

धारणा आदि की अनुपयोगिता :-

95 . तो यह धारणा, ध्यान एवं समाधि की त्रयी है। (उसका) परम संविद् के प्रति कोई उपयोग नहीं है।

यम आदि पाँचों बाह्य उपाय होने के कारण ज्ञान में साक्षात् उपयोगी नहीं हैं। किन्तु धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन उनकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है[35] फिर भी शैव-दर्शन में परम संविद् की प्राप्ति में इनका कोई उपयोग नहीं माना गया है।

योग के अष्टाङ्ग यदि अनुपयोगी हैं तो उनका अभिधान क्यों किया गया है:-

96. **यमादि (आठों अङ्गों) की योगाङ्गता अपने पूर्व-पूर्व उपाय के कारण तथा अन्त में तर्क का उपयोग होने से समाधि (के स्तर तक पहुँचने) के लिए वर्णित की जाती है।**

यम नियमों का, नियम आसन का, आसन प्राणायाम का, प्राणायाम प्रत्याहार का, प्रत्याहार धारणा का, धारणा ध्यान का तथा ध्यान समाधि का उपाय है।

योग दर्शन में कहे गये छः अङ्गों को छोड़कर पातञ्जलीय आठ अङ्गों को कहने का यह कारण है कि इनके बाद कोई भी अन्य अङ्ग शेष नहीं रहता।

उपर्युक्त आठों अङ्ग सत्तर्क के उपाय हैं और वह सत्तर्क आत्म-संविद् के साक्षात्कार का उपाय है।

97. **संविद् के साथ एकाकार और उसके द्वारा प्राण तथा देह में एवं बुद्धि में उस (यमादि) का अभ्यास आवश्यक होता है (अर्थात् यमादि का प्रयोग प्राण, देह, बुद्धि से सम्बन्धित है) किन्तु संविद् के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती (अर्थात् यमादि के द्वारा प्राणादि का संस्कार हो सकता है किन्तु इनके द्वारा संविद् का संस्कार सम्भव नहीं)।[36]**

98. **अथवा हमारे दर्शन में प्राण, बुद्धि और शरीर के भी (संविद्रूप में) सर्वव्यापी होने से उन (प्राणादि) के माध्यम से (यमादि) का अभ्यास स्पष्टतः भेद को दूर करने वाला होता है।**

संविद् सर्वात्मक है। अतः वह बुद्धि, प्राणादि में समानरूप से स्थित है। उसका यम भी अन्ततः अद्वैत की प्रतिष्ठा कर द्वैतमूलक हिंसादि का व्यावर्तक होता है। सभी में आत्म-बुद्धि होने पर हिंसा सम्भव नहीं है।

यमादि के अभ्यास के द्वारा हिंसादि अन्य धर्मों की निवृत्ति की बात क्यों कही गई? इस शङ्का के समाधान में यह दृष्टान्त दिया जाता है :-

99. **ऊर्ध्वगमन की इच्छा से ऊपर उछलने और नीचे गिरने के रूप में जो अभ्यास होता है उससे जिस प्रकार देह, इससे भिन्न (टेढ़े-मेढ़े) गिरने के डर से निवृत्त हो जाता है (उसी प्रकार यमादि के अभ्यास से तद्भिन्न हिंसादि की निवृत्ति स्वतः हो जाती है)।**

100. **(शिष्य के) पाठ-चिन्तन (आदि विषय) में (बार-बार) अभ्यास**

के कारण) गुरु-वाक्य के ज्ञान के समान आत्म-ज्ञान उदित होने पर उसके विपक्षी (अर्थात् मूर्खता आदि) का विनाश हो जाता है।

101. गुरु इस (शिष्य) की बुद्धि में ज्ञान अथवा शब्द रोप नहीं सकता (जब तक उसमें पूर्वतः आत्मज्ञान न हो)। इसलिए आत्म-प्रबोध का क्रम निश्चित है।

यद्यपि शिष्य गुरु के वाक्यों को सुन कर आत्म-परामर्श प्राप्त करता है तथापि उसमें पूर्वतः भी आत्मज्ञान रहता है क्योंकि बिना आत्मज्ञान के वह गुरु के वाक्यों को समझने में भी समर्थ नहीं हो सकता तब उसकी मूर्खता दूर होना तो बहुत दूर की बात है।

102. इसीलिए स्वप्नकाल में सुने हुए विषय (स्त्री आदि) के साथ भी तादात्म्य-भावना फल को पैदा करने वाली मानी गई है।

स्वप्न में व्यक्ति श्रुत वस्तु के साथ अपना तादात्म्य उसी प्रकार स्थापित करता है जैसा कि जागरण में, क्योंकि उसके भीतर पहले से उस वस्तु का ज्ञान मौजूद रहता है।

पाठ और चिन्तन का स्वरूप :-

103. सङ्केत अर्थात् साङ्केतिक अर्थ की उपेक्षा करते हुए केवल शब्दनिष्ठ-ज्ञान, पाठ (का स्वरूप) है। उस (शब्द) का आदर करते हुए उस (साङ्केतिक) अर्थ के प्रति निष्ठा रखना ही चिन्तन (का स्वरूप) है।

104. तो (इस प्रकार) अद्वयसंवित्ति में (यमादि का) अभ्यास अनुपयोगी है। (फिर भी) वह (अभ्यास) केवल द्वैतरूप मलिनता की शङ्का को निर्मूल करने के लिए (उल्लिखित) है।

105. और 'द्वैत की शङ्का तर्क से तर्कित (निर्मूल) की जाती है।' ऐसा (तर्क तत्त्व की चर्चा के प्रसङ्ग में) वर्णित किया गया है। इसलिए यम आदि (आठों योगाङ्गों की भी तर्क की साधना के लिए उपायता (अर्थात् उपयोगिता) है।

उपर्युक्त मान्यता के समर्थन में शास्त्र-प्रमाणः-

106. और शम्भु ने 'श्रीपूर्वशास्त्र' में (*लिङ्गपूजादिकं सर्वम्*' से आरम्भ करके) कहा है कि न तो द्वैत और न ही अद्वैत और न यह सब लिङ्ग पूजा आदि।

107. जिस किसी चीज का विधान अथवा प्रतिषेध किया गया है (वह सब

अग्राह्य है)। क्योंकि प्राणायाम आदि अङ्गों के द्वारा जो योग बताये गये हैं वे कृत्रिम ही हैं।

108. अतः वे इस सब सहज (योग अथवा संविद्) की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं (अर्थात् देह, प्राणादि का नियमन करने वाले योग की, सहज योग से किसी भी प्रकार तुलना नहीं की जा सकती है)।

विधि एवं प्रतिषेध अन्ततः द्वैत मूलक हैं। अतः इन सभी का निषेध किया गया है।[37]

108-109. किन्तु देवी! 'तत्त्व में चित्त को स्थिर करना चाहिये' यह यहाँ नियम से किया जाता है। (और चित्त की स्थिरता का नियम यही है कि) जिस (योगी) का जिस किसी (नियत निमित्त) से हो।[38]

इसी का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि:-

109-110. इस प्रकार परमेश्वर, द्वैत ज्ञान के विनाश के लिए कहीं-कहीं सदैव निर्मल स्वभाव को धारण किये हुए स्थिर है।

'परमेश्वर का स्वभाव शुद्ध संविन्मात्र है' इस परामर्श में कहीं भी, कभी -भी और कोई भी विशेष अथवा भेद नहीं हो सकता, अर्थात् इसमें देशगत, कालगत अथवा वस्तुगत भेद नहीं हो सकता क्योंकि इसका स्वरूप 'अहमेव सर्वम्' होता है। तब 'कहीं-कहीं निर्मल स्वभाव को धारण किये हुए स्थित है' ऐसा कहने का क्या आशय है?

110.-111. इन्द्रिय के विषयों के आधार पर जो स्वभाव-परामर्श है वह उनके बिना, उनके द्वारा अथवा किसी दूसरे तरीके से हो सकता है। (क्षेत्रज्ञ के) स्वातन्त्र्य के कारण विभिन्न विकल्प (सम्भव) हैं।

वह विकल्प दो प्रकार का होता है :-

111.-113. और वह (विकल्प) स्वच्छ एवं स्वतन्त्ररूप वाला है तथा रत्न (स्फटिक) के आभासन की तरह स्फुट है। वह (अभेद रूप से आभासनशील होते हुए भी प्रमाता और प्रमेयरूप) भाव समुद्र में भेदों को धारण करने वाला मायीय (विकल्प) कहा जाता है और वही (विकल्प) सभी विषयों से परिपूर्ण (स्वतन्त्र), स्वात्मैकनिष्ठ तथा 'सर्वमिदमहमेव' (यह सब मैं ही हूँ) इतना ही शुद्धविद्यात्मक (दूसरा विकल्प) है।

113-114. स्फुट स्वरूप वाला, शुद्धविद्यारूप यह विकल्पन यहाँ भेदरूप मायीय विकल्प को समाप्त करता है।

114-115. जो यह शुद्धविद्यारूप ज्ञान है वही स्नान, शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान, जप आदि के योग से अनेक प्रकार का है।

शुद्धविद्यारूप यह परामर्श, भेदनिष्ठ मायीय विकल्प का ही कैसे विनाश करता है?

115-116. शुद्ध (योगी) आत्म-चमत्कार के रस से पूर्ण इस विश्व को आवेष्टित करके समस्त अध्वमण्डल का तर्पण करे।

स्नान आदि भी भेदयुक्त हैं, अतः उनको भी मायीय परामर्श ही मानना चाहिये। तब उन्हें शुद्धविद्या-परामर्शरूप कहने का क्या आशय है?

116.-117. बाह्योन्मुख, ज्ञानरूप अग्नि से (नील, सुखादि-रूप समस्त) विश्व-रूप इन्धन के जल जाने पर उत्पन्न हुई निरुपाधिक (सिते) भस्म (अर्थात् अपरिमितप्रमातृरूप परम तत्त्व) में देहादि (अर्थात् परिमित प्रमाता) का जो मज्जन है, वही स्नान कहलाता है।

उपर्युक्त विधि से किये गये स्नान से लाभ :-

117-118. और इस प्रकार (ऊपर) कही गई विधि से स्नान करने वाला, अनन्त (आत्म) देवता को तर्पित करते हुए उसके बाद देह से आरम्भ होने वाले (द्वैत) तत्त्वों का परिशोधन करे।

118.-119. इन (देहादि) के शिवात्मक होने पर जो भेद-रूप ज्ञान है वही अशुद्धि है और उसका विनाश ही परम ज्ञान-रूप शुद्ध है।[39]

119-120. गले हुए भेद वाले एवं (अद्वैत) ज्ञान के पात्र, अपने शरीर को इस प्रकार (अनात्मा में आत्मा के अभिमान का तिरस्कार करके) देखता हुआ प्रभु स्वतन्त्र संविद् मात्र में अवस्थित रहता है।

स्नान आदि के अकल्पितत्त्व के बताने के बाद अब अर्चना के अन्य अङ्गों को बताते हैं:-

120.-121. जहाँ कहीं इन्द्रिय-वृत्ति में जो कोई मानस को आह्लादित करने वाली वस्तु है उसे ब्रह्म-रूप सद्धाम में (जो) जोड़ा जाता है, वही पूजा का उपकरण है।

121.-122. स्वतन्त्र, विमल एवं अनन्त भैरवीय चिदात्मा के साथ विभिन्न (रूप, रस आदि) भाव-समूह का एकीकरण ही पूजा है।[40]

122.-123. **क्योंकि परामर्शस्वरूप यह संविद् ही अपने स्वातन्त्र्य (स्वभाव) के कारण आन्तर और बाह्य दोनों रूपों में वर्तमान रहती है।**

संविद् ही प्रमाता और प्रमेय के रूप में परिस्फुरित होती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु विद्यमान नहीं है। इस स्वातन्त्र्य-रूपा संविद् की यही विशेषता है कि यह प्रमेय आदि बाह्य रूपों में आभासित होते हुए भी अपने ऐक्य-स्वरूप की हानि नहीं होने देती।[41]

विश्वरूप में स्फुरित होना ही संविद् की परामर्शरूपता है :-

123.-124. **और वह (परामर्श) बारह प्रकार का है, क्योंकि (प्रमातृ, प्रमेय आदि) सब उसी में रहता है। सूर्य[42] (अर्थात् प्रमाण) ही सोमरूप (अर्थात् प्रमेयरूप) है और वह (सूर्य) ही मेयरूपात्मक विश्व के रूप में स्थित है। इसलिए परमार्थ रूप में संविद् ही बारह कला (अर्थात् प्रमाता-आदि-रूप अंश) है।**

अन्य मत इस परामर्श के तेरह प्रकार मानते हैं, तब यहाँ इसे बारह प्रकार का क्यों कहा गया?

125. **क्योंकि वह (पारमार्थिक संविद् सृष्टि, स्थिति, संहार एवं अनाख्य रूप से) चार प्रकार का स्वरूप धारण करके प्रमाता, विज्ञानरूप प्रमाण और प्रमाणविषयभूत प्रमेय के रूप में सदा आभासित होती है।**

सृष्टि, स्थिति, संहार तथा अनाख्य के प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूप होने से संवित् के (4x3) बारह भेद होते हैं। संवित् द्वादशात्मिका है अथवा त्रयोदशात्मिका, इस प्रश्न पर दोनों पक्षों में विभिन्न आगम-प्रमाण प्रस्तुत करते हुये यह निष्कर्ष दिया गया है कि संवित् वस्तुतः निरुपाधि, अनारुषिता, निराभासा तथा परा के रूप में एक है तथा अभेद-दृष्टि से द्वादशात्मिका अर्थात् विश्वोत्तीर्ण संवित् ही द्वादशरूप धारण कर लेती है। विश्वमयता की इस स्थिति में वह विश्वोत्तीर्ण के रूप में अलग नहीं है। उसी विश्वोत्तीर्ण परा संवित् की विश्वमयता स्वरूपान्तर है जो उसके स्वातन्त्र्य का परिणाम है। उपदेश के लिये ही आगमों में विश्वोत्तीर्ण को द्वादशात्मिका संवित् से भिन्न मानकर तेरह भेद बताये गये हैं। जिस प्रकार नट विभिन्न भूमिकाओं के अतिरिक्त नट के रूप में नहीं होता उसी प्रकार द्वादशात्मक विश्वमयता से अतिरिक्त विश्वोत्तीर्ण संवित् नहीं होती। शुद्ध संवित् तथा उसके द्वादशरूपों में सामान्य-विशेषभाव का सम्बन्ध नहीं है। जैसे गोविशेषों

में अनुगत होने पर भी गोत्व उनसे भिन्न है उस प्रकार द्वादशरूपों से अतिरिक्त या भिन्न संवित्तत्त्व नहीं है।[43]

यदि परासंविद् बारह रूपों में आभासित होती है तो उनमें परस्पर वैशिष्ट्य भी होना चाहिये, अन्यथा उनकी अनेकता ही सिद्ध नहीं होगी। इस शङ्का का उत्तर है :-

126. **यह परासंविद्, प्रमाता (प्राच्य) में शुद्ध ज्ञान-रूपा तथा ज्ञान (प्रमाण) में शब्दरूपा (अर्थात् विकल्प-रूपा अथवा भेद-ज्ञान-रूपा) होती है, इसीलिये 'श्रीयोगसंचर' में (इसे) करण में ग्रहण-रूप वाली कहा गया है।**

127. **हे परमेश्वरि, जो (दो) श्वेत चक्षुमण्डल दिखाई देते हैं वहाँ उत्तम षोडशार तथा द्वादशार चक्र स्थित हैं।**

षोडशार चक्र में षोडश देवियों की पूजा का विधान 'श्रीक्रमसद्भावभट्टारक' में प्राप्त होता है। काली को षोडश-कला भी बताया गया है। षोडशार चक्र को उत्तम इसलिये कहा गया है क्योंकि यह समग्र विश्व को अपने में गर्भित किये रहता है। इस चक्र में प्रमेय की प्रधानता होती है जो सोमरूप होने के कारण श्वेत है। श्वेतचक्षुमण्डल प्रत्यक्ष रहता है, वह रक्तमण्डल की भाँति गुप्त नहीं होता।

षोडशार चक्र के साथ द्वादशार चक्र को भी चक्षुमण्डल में स्थित क्यों कहा गया है?

128. **उस (श्वेत मण्डल) के बाहर मण्डलाकार जो (दो) रक्त (मण्डल) हैं वह दूसरा (द्वादशार नामक चक्र) है और जो (दो) कृष्णश्वेत मण्डल मध्य में स्थित हैं वे (अष्टारचक्र कहलाते हैं)।**

129.-130. **उस (श्वेत मण्डल) के भीतर जो शुद्ध छितराये काजल के समान जो (दो) (मण्डल) स्थित हैं उन्हें चतुर्दल (अनाख्यचक्र) समझना चाहिये। हे प्रिये, अग्नि-सोमात्मक (प्रमातृ-प्रमेयरूप अथवा भोक्तृ-भोग्य-रूप) जो दो (षोडशार तथा अष्टार चक्र मिथुनरूप में स्थित हैं वे, हे परमेश्वरि एक-दूसरे का उन्मूलन एवं निमीलन (सृष्टि एवं संहार) करते हैं।**

ऊपर जिन चार चक्रों का वर्णन किया गया है, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

षोडशारः यह श्वेतमण्डल में स्थित है क्योंकि सृष्ट्यात्मक प्रमेय सोमरूप होने के कारण

श्वेत माना गया है। षोडश देवियों की पूजा होने के कारण इस चक्र को षोडशार कहा जाता है। प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता तथा प्रमा इन सभी से षोडशार चक्र की एकात्मकता है तथापि इसे मुख्यतः प्रमातृरूप माना गया है।

द्वादशारः यह रक्तमण्डल में स्थित है क्योंकि इस अवस्था में प्रमाण की प्रधानता प्रमेय से उपरंजित होती है। इसे द्वादशार इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह श्रीसृष्टिकाली आदि द्वादश देवियों से एकात्म है। द्वादशार चक्र में प्रमेय का प्रमाण से अभेद होता है तथा प्रमाण की प्रधानता होती है। प्रमाण को स्थिति-रूप माना गया है।

अष्टारः तीन भैरव, तीन देवियों, कुलेश्वर तथा कुलेश्वरी को मिलाकर अष्टारचक्र होता है। यह श्वेत कृष्ण मण्डल में स्थित है। अन्तर्वर्ती मण्डल कृष्ण होता है तथा बाहरी मण्डल ' श्वेत। इस चक्र में प्रमाण प्रमाता में विश्रान्त होता है, अतः यह प्रमातृ-प्रधान है।

अनाख्यः इसे चतुर्दल माना गया है जिसमें तीन देवियाँ तथा श्रीमातृसद्भाव होता है। इसका मण्डल अत्यन्त-कृष्ण माना गया है क्योंकि सभी का संहारक होने के कारण यह तमोरूप है। इसके कृष्णमण्डल को कुमारिका भी कहा जाता है। अष्टार में प्रमाता की प्रधानता होती है तो इसमें प्रमा की।

131. जैसे माया (योनि) तथा परमेश्वर (लिंग)[44] मिलकर सृष्टि करते हैं उसी प्रकार वे (षोडशार तथा अष्टार) अमृत (सोमात्मा प्रमेय) तथा अग्नि (प्रमाता) के संयोग से अविनाशी (संवितत्त्व के रूप में) प्रस्फुरित होते हैं।

132. उन (प्रमातृ एवं प्रमेयरूप षोडशार एवं अष्टार) चक्रों के निपीड़न से, रात्रि (अर्थात् माया) के होने पर भी सूर्य एवं सोम (प्रमाणप्रमेय) से अतिक्रान्त (प्रमातृरूप) ज्योति आभासित होती है। (विश्व को व्याप्त करने वाली) उस परम ज्योत्सना को (स्वात्मरूप में) देखकर काल (अर्थात् परम प्रमातृरूप पूर्णप्रकाश) का ज्ञान प्रवर्तित होता है।

133. उन (षोडशार एवं अष्टार चक्रों) से सहस्रार चक्र ऊपर स्थित है। और उस (सहस्रार) चक्र से उत्पन्न ब्रह्माण्ड उन (सभी चक्रों से) ऊपर है।

विविध प्रकारों वाला यह विश्व अविच्छिन्न रूप से कैसे प्रस्फुरित होता है:-

134. (क्योंकि पर-प्रमाता-रूप) अग्नि से (अपने स्वातन्त्र्य के कारण)

समुत्तेजित हुआ (क्रियाशक्तिरूप) सोम उस (विश्व) में स्थित (प्रमातृप्रमेयादि रूप वाली अविच्छिन्न) धारा को परिस्फुरित करता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा में अनन्त जगत् को (सोम) उत्पन्न करता है।

135.-136. षोडशार एवं द्वादशार चक्रों के साथ अष्टार और सभी (चतुरार आदि) प्रकारों में (अवरोह) क्रम से सोम तब तक उत्तम अमृत (अर्थात् अपने सार को) प्रस्फुरित करता है जब तक कि पाँच चक्रों की पद्धति पूरी न हो जावे (अर्थात् शिव पञ्चभौतिक शरीर ग्रहण न कर (ले)।

यह केवल जगत् की सृष्टि ही नहीं अपितु संहार भी करता है :-

136.-137. हंस के रूप में ही स्फुरित होने वाला वह 'हंस' (प्रमातृप्रमेयात्मक विश्व) को (अपने स्वातन्त्र्यत्मक) आनन्द से पी जाता है। उस (परमात्मरूप हंस) का एक बार भी साक्षात्कार हो जाने पर (कोई भी) पुण्य और पापों से लिप्त नहीं होता है।

परमेश्वर परमप्रमातृरूप होते हुए भी विश्व के स्फार से युक्त है और विश्वस्फार के रूप में भी अहंप्रमाता के रूप में विद्यमान है। वह अपने विमर्श स्वभाव से ही सतत सृष्टि और संहार में प्रवृत्त रहता है।

137.-138. इसके बाद यह व्यापक (परमात्म शिव अपने स्वातन्त्र्य के कारण संकुचित होकर) पञ्चार अर्थात् पाँच भौतिक शरीर में सोम से निःसृत अमृत से आप्यायित होने से, (जन्म आदि) विकारों से युक्त होकर (अम्बुवाहा, शुक्रवाहिनी एवं रक्तवाहा)[45] इन तीन रसों एवं (अप्रकाशित होने के कारण) गुह्य (जन्म आदि) चक्रों के रूप में उन्मुख होता है।

138 (ब) जिन (गुह्य चक्रों) से, अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण जगत् उल्लसित होता है तथा जिसमें लीन होता है (यही जगत् की रचना के इच्छुक परमात्मा की प्रवृत्ति का परम कारण है)।

139. (पामर आदि) सभी उस (परमेश्वर) में परायण होते हुए, उसी में आनन्द और ब्रह्मचारीरूप (क्रमशः) सिद्धि और मुक्ति दोनों को एक साथ प्राप्त करते हैं।

चूँकि आनन्द और ब्रह्म के स्वरूप में कोई भेद नहीं है अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। अतः ऐहिक आनन्दरूप सिद्धि तथा ब्रह्मचारित्वरूप मुक्ति ये

दोनों ही मुमुक्षु को एक साथ प्राप्त हो जाती हैं।

'गुह्यचक्र' में बहुवचन के प्रयोग का क्या कारण है?

140. इसके ऊपर ब्रह्मात्मक पद को वह पा लेता है। वहाँ परमेश्वर अपनी ही भित्ति पर (अर्हता एवं इदन्ता स्वभाव वाले प्रमाता और प्रमेयरूप) अग्नि एवं सोम को एक साथ अथवा समानरूप से अवभासित करता है।

जब सोमरूप प्रमेय का उद्रेक होता है तब विश्व उल्लसित होता है:-

141.(अ) उस (साम्यावस्था) में स्थित (प्रमेयरूप) सोम भेद से भासित होता हुआ (स्थूल पृथिवीतत्त्व पर्यन्त) उल्लसित होता है।

सोम का भेद से उल्लसन कैसे :-

141-142. अग्नि उस (सोम) को बाह्यरूपों में आभासित करता है (तथा अग्नि से तापित सोम) अमृत को प्रवाहित करता है। (प्राण कुण्डलिनी रूप होने से) कुटिल एवं (प्रमाण दशा में अधिष्ठित) अर्क से प्रबुद्ध (अतः) पुनः उत्तेजित वह (सोमात्मिका क्रियारूपा) शक्ति, गुल्फ, जानु आदि रूपों में अभिव्यक्त पञ्चारादि क्रम अर्थात् पञ्चभूतात्म विश्व को आभासित करती है।

143. इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में और कर्मेन्द्रियों में भी समझना चाहिये (और) पैर के अंगूठे से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक (पञ्चभूतात्मक शरीर के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये)।

इन्द्रिय आदि के विषय में उपर्युक्त बात कहने से क्या प्रयोजन :-

144. इस प्रकार (और कुछ विशेष) न जानता हुआ योगी भी (अपने शरीर की इस विशिष्टता को) जानते हुए विश्वप्रभु होता है। मानो ब्रह्म आदि से प्रदीप्त होता हुआ वह परमेश्वर के रूप में दिखाई देता है।

145. यहाँ सभी इन्द्रियों में (सृष्टि आदि के) क्रमचतुष्टय को तात्पर्य रूप से कहा गया है। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय द्वादश-मरीचिका-रूप है।

146. (इसके तात्पर्यार्थ के) व्याख्यान को विभक्त करके इसलिए नहीं कहा गया कि यह अत्यन्त रहस्य वाला है। प्रमेय दशा में भी देवी (अर्थात् परासंवित्) मास, राशि, आदि[46] रूपों में प्रतिष्ठित रहती है।

इस प्रकार एक ही यह परासंवित् अनेक रूपों में सर्वत्र अवभासित होगी है:-

146. इसलिए यह संवित् आन्तर एवं बाह्य दोनों रूपों से स्वयं को आभासित करके स्थित है। (फिर भी) अपने में प्रमातृ-प्रमेय आदि को भिन्न की तरह से अवभासित करती हुई भासित होती है।

यद्यपि परासंवित् ही एक मात्र परमतत्त्व है तथा वही प्रमातृ, प्रमेयादि सभी रूपों में आभासित होती है। उसके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। फिर भी वह अपने परम स्वातन्त्र्य के कारण प्रमातृ आदि को ऐसे अवभासित करती है मानो वे उससे भिन्न हों, जब कि वस्तुतः भिन्न नहीं हैं।

148. और इस (प्रमाता आदि रूपों में आभासित होने) से पूर्व यह संविद् शुद्ध होती है। तथा (अपने से वस्तुतः अभिन्न प्रमातृप्रमेयादि को अपने स्वातन्त्र्य के कारण) भिन्न-सा आभासित करने को उत्सुक यह परासंविद् दैवी सृष्टि करती है। इसलिए ('श्रीपञ्चशतिक' एवं 'श्रीक्रमस्तोत्र') आगम में वह (श्रीसृष्टिकाली)[47] शब्द से अभिहित की जाती है।

149. उसके बाद (अर्थात् श्रीसृष्टिकाली के उदित होने के पश्चात्) वह परासंविद् अपने स्वातन्त्र्य के कारण बहिर्मुख होती हुई अपने वृत्तिचक्र (चक्षुरादि द्वारा रूपादि के आलोचन) के साथ प्रकाशित वस्तु के रूपादि अंशों का पर्याप्त रंजन (आत्म विषय के रूप में प्रकाशन) करती है।

प्रमेयगत स्थिति स्वरूप का अभिधान करने के बाद संहार के स्वरूप का अभिधानः-

150. (पूर्व कारिका में बताई गई) यही प्रमेय की स्थिति है (और) (वह परासंविद्) उस (स्थिति) को अपने में विश्रान्त करने वाली संहार की इच्छा से स्थिति का नाश करने वाली (स्थितिनाशकाली[48] शब्द से) कही जाती है।

प्रमेयगत संहार के स्वरूप का निरूपण करने के बाद अनाख्य स्वरूप को कहा जाता है :-

151. उसके (अर्थात् श्रीस्थितिनाशकाली के उदय के) बाद (पूर्वोक्तरूप) संहार के रस के पूर्ण होने पर (वही संविद् परिमित प्रमाता की भूमिका को ग्रहण करके अपने स्वातन्त्र्य के कारण) स्वयं ही विघ्नकारी एवं विकल्परूपा शङ्का को प्रथमभाग में उत्पन्न करती है तथा दूसरे भाग

में संहार करती है।

संविद् निरन्तर संकोच एवं विकास के स्वभाव से युक्त है। उसके इस स्वरूप का आख्यान सम्भव नहीं है। इसलिए उसे अनाख्य कहा गया है। 'श्रीपंचशतिक'[49] एवं 'श्रीक्रमस्तोत्र'[50] में इसे विकल्परूपा मानते हुए यमकाली कहा गया है।

अब प्रमाणांश-भक्षण में प्रवीण संहारादि देवीचतुष्टय का निरूपण किया जाता है (प्रमाणगत सृष्टि के स्वरूप का विवेचन):-

152. **(इस प्रकार विकल्पात्मिका) शंका अथवा शंकास्थानों (कार्य तथा अकार्यरूप अनर्थ) का संहार करके (वह परासंविद्) आत्मवह्नि में विलीन करने के कारण समस्त भावमण्डल का संहार करती ही है।**

श्रीपञ्चशतिका[51] एवं श्रीक्रमस्तोत्र[52] में संविद् के इस स्वरूप को 'संहारकाली' शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है। जिस अवस्था में भाव एवं अभाव, कार्य एवं अकार्य तथा समग्र विकल्पों का परा संविद् में संहार हो जाता है वही संहारकाली है।

उपसंहृत किये जाने वाले प्रमेयों का कलन कैसा होता है ?

153. **(संवित्) भावों के विलापनरूप उस भाव-संहार का अपने में (अभेदरूप से) परामर्श करती ही है जिसके कारण यह (संवित्) 'मेरे द्वारा यह (समस्त वस्तु-समूह) ग्रस्त हैं' इस रूप में प्रस्फुरित होती है।**

प्रमाणगत सृष्टि के स्वरूप को बताने के बाद अब स्थिति के स्वरूप का वर्णनः-

154. **संहाररूप उपाधि इस संविद् का अपना स्वभाव है जो (अन्ततः) उपाधि से रहित (प्रमातृरूप) शुद्ध संविद्रूप में विलीन हो जाता है।**

संहार मृत्यु का पर्याय है। अतः 'श्रीपञ्चशतिक'[53] एवं 'श्रीक्रमस्तोत्र'[54] में संहारात्मिका संविद् के इस रूप को 'मृत्युकाली' कहा गया है।

स्थिति के स्वरूप को बताने के बाद अब प्रमाणगत संहारस्वरूप का वर्णनः-

155.-156 **समस्त प्रमेय-समूह को विलीन कर देने पर भी वह (परासंविद्) संस्कार रूप में अवस्थित किसी भाव को सघन बना देती है। यह (भाव) शुभ और अशुभ की शङ्का का निमित्त बनता है तथा फलसंपदा को (भविष्य में) उत्पन्न करता है।**

कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य की शङ्काओं में डूबा हुआ प्रमाता जब कोई कार्य कर ही नहीं पायेगा तब उसे शुभ एवं अशुभ रूप फल ही कैसे मिलेगा :-

156 (ब) **यह शङ्का भोग से पहले अथवा बाद में उत्पन्न होती है।**

157. **यह (संवित्) किसी घनीभूत भाव को उसी समय द्रवित भी कर लेती है जैसे कि प्रायश्चित्त आदि के कर्मों से ब्रह्महत्या आदि के कर्म (द्रवित हो जाते हैं)।**

158. **'रोधन' (रोकना) तथा द्रावण (विगलित करना) के कारण संवित् इस (रुद्रकाली[55] के) रूप को ग्रहण करती है, उसी को द्रवित कर देती है और उसी को घनीभूत (करती है)।**

इसे 'श्रीक्रमसद्भाव'[56] में 'रुद्रकाली' कहा गया है क्योंकि यह संस्कार रूप में अवस्थित वस्तु का रोधन तथा द्रावण करती है। 'श्रीपञ्चशतिक[57] में इसी को भद्रकाली कहा गया है। किन्तु इन दो नामों में तात्पर्य-भेद नहीं है। 'श्रीक्रमस्तोत्र'[58] में भी इसे भद्रकाली ही कहा गया है क्योंकि यह घनीभूत अर्थ को द्रवित कर देती है और द्रवित को ही घनीभूत बना देती है।

प्रमाणगत संहार स्वरूप को बताने के बाद अब अनाख्यस्वरूप का निरूपणः-

159. **इस प्रकार भोग्य वस्तुओं का अपने में संहार करने के बाद (संविद्) उनके बारह करणों को भी अहंकार में लीन कर लेती है।**

बारह करण एवं उनका करणत्वः-

160. **बुद्ध्यन्त (अर्थात् बुद्धि एवं मन से युक्त) कर्म एवं ज्ञानेन्द्रियों का वर्ग बारह प्रकार का करण है। यह (द्वादशात्मक करण) वस्तु को प्रकाशित करता है। अतः विभिन्न वस्तुओं में सूर्य (प्रमाण) के रूप में अवस्थित है।**

सामान्यतया अन्तःकरण में मन एवं बुद्धि के साथ अहंकार को भी जोड़ा जाता है। अतः त्रयोदशकरण होने चाहिये। किन्तु यहाँ अहंकार को परिगणित न करते हुए केवल बारह ही करण क्यों माने गये हैं :-

161. **अहंकार[59] तो अभिमान का एक मात्र साधन तथा प्रमाता के साथ अभिन्न परामर्श करने के स्वभाव वाला करण है। इसलिए वह (बारह प्रकार का करणवर्ग) वहाँ (अहंकार में) लीन हो जाता है।**

बुद्धि आदि द्वादशकरण-वर्ग का अहंकार में लय कैसे होता है ? इस शङ्का का दृष्टान्त द्वारा निराकरण किया जाता है:-

162. **जिस प्रकार परस्पर भिन्न तलवार, जाल आदि करण का (उनसे) अभिन्न हस्त आदि में लय हो जाता है उसी प्रकार यह नियम है (कि अहंकार में द्वादश करणवर्ग लीन हो जाता है)।**

163. **इसलिए (उक्त क्रम से) परासंविद् अपने स्वातन्त्र्य के कारण स्वयं ही कल्पित अहंकार रूप में (द्वादश) इन्द्रिय-समूह रूप मार्तण्डमण्डल को लीन कर लेती है।[60]**

प्रमात्रंश की चर्वणा में चतुर देवीचतुष्टय का निरूपण :-

164. **(द्वादश करणों को अपने में लीन करने वाला) वह तेरहवाँ (तत्त्व अहंकार) ही पूर्णकल्प एवं परम आदित्य है। करण होने के कारण वह कर्त्ता में स्फुट रूप से लीन हो जाता है।**

कर्त्ता दो प्रकार का है-संकुचित एवं असंकुचित। अहंकार इन दोनों में से किस कर्त्ता में लीन होता है? :-

165. **और कर्त्ता कल्पित एवं अकल्पित रूप से दो प्रकार का कहा गया है। देह एवं बुद्धि आदि के व्यवच्छेद से इसे कल्पित (कर्त्ता) कहा गया है।**

166. **इस (परिमित कर्त्ता) की परिभाषा शास्त्रों में काल, अग्नि एवं रुद्र की गई है।[61] काल व्यवच्छेद से युक्त अग्नि को ही भोक्ता कहा गया है।**

167. **संसार की निष्पत्ति करने अथवा न करने से, रोधन करने एवं द्रवित करने से (वह) रुद्र है। (इसलिए जिस कर्त्ता का) पशुभाव निवृत्त नहीं हुआ है उस (संकुचित कर्त्ता) में अहंकार लीन हो जाता है।**

प्रमातृगत स्थितिस्वरूप का निरूपण:-

168. **(कालाग्निरुद्र शब्द से व्यपदिष्ट) वह (कल्पित प्रमाता) भी कल्पित होने के कारण अहंता और इदन्ता रूप विश्व से अभेद रखने वाले एवं विकासरूप महाकाल में लय हो जाता है।**

अर्थात् कल्पित अथवा परिमित प्रमाता पूर्णाहं विमर्शमय अकल्पित अथवा अपरिमितप्रमाता में लीन हो जाता है। इसीलिये इस अपरिमित प्रमाता को 'पञ्चशतिक'[62] एवं 'श्रीक्रमस्तोत्र'[63] में 'कालाग्निरुद्रकाली' कहा गया है।

प्रमातृगत स्थिति के स्वरूप को बताने के बाद अब संहार के स्वरूप का निरूपणः-

169-170. इस स्वात्म संवित्ति में 'यह सब मैं ही हूँ' ऐसा अनुभव करने वाली, विभु एवं विकासशील (जो) संविद् अवभासित होती है (वह भी उक्त रूप में अवभासित होने के) बाद में, अपने में स्थित सभी प्रकार की वस्तुओं के भोगों के स्वभाव वाली, परिपूर्ण संविद् अकुल धाम में लीन हो जाती है।

कालाग्नि रुद्ररूप प्रमाता अपरिमितप्रमाता में लीन हो जाता है। इसके बाद अपरिमितप्रमातृरूप महाकाल स्वात्मविश्रान्तिचमत्काररूप अहं परामर्श में लय होता है। महाकाल को अपने में लीन करने के कारण पञ्चशक्ति[64] एवं 'श्रीक्रमस्तोत्र[65]' में इसे 'महाकालकाली' कहा गया है।

प्रमातृगत अनाख्य स्वरूप का निरूपण-

171-172. प्रमातृवर्ग, मानसमूह, अनेक रूपों में स्थित प्रमा तथा मेय-समूह (आदि) जो भी कुछ (अवस्थित) है, वह सब चिन्मात्र ही है। प्रमातृ आदि से अवच्छिन्न, विचित्र रूपों वाली, (संविद् को) आश्रित करने वाली, जो (स्वप्रकाशरूप) संविद् है, वह स्वातन्त्र्य की अपेक्षा के बिना ही (इस दर्शन में) परा परमेश्वरी (कही जाती है)।

प्रमाता शब्द से यहाँ आशय 'महाभैरव' है। भेद से 'चण्ड', प्रमा से 'उग्र' तथा मान से 'घोर' है। अतः 'महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली' को ही इस दर्शन में 'परापरमेश्वरी' कहा गया है। 'श्रीपञ्चशतिक[66] एवं 'श्रीक्रमस्तोत्र[67]' भी इसी का समर्थन करते हैं।

173.(अ) पूर्वोक्त भेद उसी से उद्भूत होते हैं। अतः (उसे परमेश्वरी) कहा जाता है।

कलना के पाँच अर्थ :-

173-174. क्षेप, ज्ञान, संख्यान, गति एवं नाद के क्रम से (कलना पाँच प्रकार की है)। आत्मा से अलग करना क्षेप है। अलग हुए को विकल्प शून्य कर लेना ज्ञान है। अभेद परामर्श क्षेप है। एक-दूसरे से भेद करने के कारण विकल्प ही संख्यान है। गति का अर्थ है - अपने स्वरूप की ओर बढ़ना, जो (स्वरूप) प्रतिबिम्ब की ही तरह है। उस (विकल्प, ज्ञान आदि) के विलुप्त होने से केवल स्वात्मज्ञान का शेष रह जाना ही नाद है।

कल धातु क्षेप, गति, संख्यान तथा शब्द इन चार अर्थों में प्रसिद्ध है। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होती है। अतः कलना से उपर्युक्त पाँच अर्थ अभिप्रेत हैं।

176. इस प्रकार पाँच प्रकार की इस कलना को करती हुई परासंविद् देवी, काली एवं कालकर्षिणी कही जाती है।

177-178. इसी तरह इस (परासंविद्) को मातृसद्भाव के नाम से कहा गया है, जो इतने ही रूपों को अर्थात् बारह देवियों के स्वरूप को धारण करने वाली संवित् में और (सभी) प्रमाताओं में प्रमाता के रूप में स्फुट होता है। (इसी परासंविद् को) 'श्रीनिशिसंचर' में वामेश्वरी शब्द से कहा गया है।

178-180. इस प्रकार सभी प्रमाताओं में संविद् बारह प्रकार से अवस्थित होती हुई (भी) एक ही है। इसके क्रम का कोई भी नियम नहीं है। (इसमें) क्रम का अभाव होने से यौगपद्य नहीं है। इसलिए यह संविद् तत्त्व क्रम एवं अक्रम की कथा से परे और सुनिर्मल है।

180-181. तो इस संविद् देवी का जहाँ कहीं भी प्रवर्तन (अवस्थान) होता है वहीं तादात्म्य के योग से पूर्ण पूजा होती है।[68]

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि यदि मन्त्रों और संविद् में भेद है तो 'संविद् से ऐक्य स्थापित करना ही पूजा है' इस सिद्धान्त की हानि होगी और यदि मन्त्र, संविद् से अभिन्न हैं तो उनका स्वतन्त्र रूप से व्याख्यान करने की आवश्यकता ही क्या है?:-

181-182. इस (परासंविद्) के ज्ञानस्वभाव[69] होने से जो अन्यनिरपेक्ष (परावाक् रूप) नाद है वही निरन्तर उच्चरित होता हुआ सारभूत एवं व्यापक हृदय अर्थात् तथ्यरूप है।

इस अहं परामर्श को शास्त्रों में न केवल 'हृदय' अपितु 'स्पन्द' भी कहा गया है:-

182-183. समस्त विश्व को बाह्यरूप में प्रसारित करने वाला एवं अपने में ही अभिन्न रूप से विलीन करने वाला, प्रमेयरूप को ग्रहण करने के प्रारम्भ और अन्त में भी अस्तिता करने वाला, स्वयं को (विकसित और संकुचित करने के) ऊर्ध्वगमन के स्वभाव से युक्त एवं सामान्य शब्द वाला यह स्वात्म विमर्श ही (स्पन्द आदि) शास्त्र में 'स्पन्द' कहा जाता है।

184. कुछ स्पन्दन एवं अन्य निरपेक्ष, यह जो प्रकाशन है, यही ज्ञानरूपी समुद्र की तरङ्गें हैं। इस (स्फुरण) के बिना संविद् (संविद् ही) नहीं है।

संविद् का विभिन्न रूपों में स्फुरित होना ऐसी विशेषता है जो जड़ वस्तुओं में नहीं होती। 'स्पन्दशास्त्र' आदि में जिस प्रकार विमर्श को स्पन्द कहा गया है

उसी प्रकार 'श्रीमदूर्मिकीलि' में इसे ऊर्मि रूप से कहा गया है। संविद् का स्वभाव शुद्धता का है और तत्तत् वस्तुओं के रूपों में परिस्फुरित होना इसका मुख्य स्वभाव है।[70]

185-186. तरङ्गों से रहित होना अथवा तरङ्गादि की तरह होना ही समुद्रता है।

इस जड जगत् का सार चैतन्य है और इस समस्त (जड तथा चेतन) का सार यह (विमर्श-शक्ति) है। (चैतन्य की) स्वात्मविश्रान्ति उसी के अधीन है। अतः वह (विमर्श शक्ति) चैतन्य का भी सार तथा महान् हृदय है।[71]

186-188. ब्रह्ममूल एवं मायाण्ड नाम वाला यह (मायीय विश्व, प्रतिभासित होने के कारण) सत् है क्योंकि इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया (रूपविमर्श) के उदय के बिना (कोई वस्तु) सत् ही नहीं कही जा सकती है। उस शक्तित्रय (इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया) में सत् होने से (यह विश्व) परप्रमातृरूप भैरवीय स्वरूप में (संहारकाल में) विश्रान्ति पाता है और उसी (भैरवीयरूप) से (सृष्टिकाल में) बाह्यरूप में अवभासित होता है।

इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियाँ स्वातन्त्र्यरूप विमर्श शक्ति के ही पल्लव के समान हैं।[72] विश्व इन्हीं में अवस्थित होने के कारण सत् कहा जाता है। यह विश्वविमर्श में सत् होता हुआ भैरव से ही बाह्यरूप में स्फुरित होता है और उसी में विश्रान्त होता है।

188-89. शक्तित्रय एवं विसर्ग का आक्षेप करके ही इन (विश्वरूप में आभासमान ब्रह्माण्ड आदि) की परम प्रकाश के साथ सद्रूपता है।

इस प्रकार संवित्-क्रम से श्रीपराबीज का उदय बताने के अनन्तर श्रीपिण्डनाथ के उदय का व्याख्यान किया जाता है :-

189-91. वह (विश्व) जो पहले (प्रतिभासित होने के कारण) बाह्य था, ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा (अपनी बाह्यता को भस्मसात् करके) सद्रूप (अर्थात् स्वात्मरूप में स्थित) हो जाता है। (प्रमाता से एकात्म- भाव के कारण अन्दर ही अन्दर उल्लसित यह परामर्शरूप ग्रहण कर लेता है (जिसमें इदन्ता का लोप हो जाता है एवं बाह्यता का संस्कार भी समाप्त हो जाता है)। इस प्रकार शून्यता (आकाशरूपता) को पाकर तीन शक्तियों (ज्ञान, इच्छा क्रिया) के उदय से ज्ञानात्मकता को प्राप्त

करके, संहाररूप (श्रीकालसंकर्षिणी धाम)[73] में लीन हो जाता है।

विश्वरूपी ईन्धन के द्वैत को जलाने के कारण इसे प्रमाणरूप संकुचित बोधाग्नि कहा गया है। इस संकुचित बोध का मायाप्रमाता में लय हो जाता है। संहार कुण्डलिनीरूप लिपि के कूटवर्ण (वर्णों के स्थूल स्वरूप) का एवं मायाप्रमातृत्व का भी परमप्रमाता में अभाव होता है।

191 (ब) **(जीव-पराबीज रूप को) प्राप्त इस संहारहृदय[74] को सृष्टि में हृत् (हृदय) माना गया है।**

192-93 **('श्रीपराबीज' आदि विषयरूप से उदित) यह परामर्श जो अकृत्रिम (स्वाभाविक) एवं कलंक-रहित है, इसी को अहं परामर्श कहा गया है। (और) यही प्रकाश की प्रकाशता (विमर्श) है। यही (अहंपरामर्श से अनुस्यूत संविद्तत्त्व) सभी मन्त्रों का हृदयरूप वीर्य है। इस (अहंपरामर्शरूप वीर्य) के बिना वे (मन्त्र) जड़ (अर्थात् निरर्थक) हो जायेंगे[75]- हृदय (विमर्श) के बिना जीव।**

इस वीर्य से न केवल मन्त्र ही वीर्यवान् होते हैं अपितु अन्य भी वीर्यवान् होते हैं। (जप का वास्तविक स्वरूप):-

194. **सहज अहं परामर्श में विश्रान्त (योगी) जो कुछ भी आचरण करता है, जो श्वास-प्रश्वास लेता है अथवा सोचता-विचारता है, वह सब इसका जप माना गया है।[76]**

ध्यान का स्वरूपः

195. **सृष्टि, (आदि पञ्चकृत्यों को करना) इस (योगी) का स्वभाव है। (वह) अपनी इच्छा (स्वातन्त्र्य) से जो कुछ बाह्य एवं आन्तर वस्तु का अवभासन करता है, वही उसका वास्तविक ध्यान है।**

सृष्टि, स्थिति, संहृति, प्रलय एवं अनुग्रह, इन पाँच कार्यों[77] को शिव एवं तत्स्वरूप योगी निरन्तर करता रहता है।

यदि ध्यान का वास्तविक स्वरूप वही है जो पहले बताया गया है तब दशभुजा आदि निश्चित आकार को ध्यान आदि क्यों कहा गया है :-

196. **विश्व आकृतिरूप, चिद्धाम के निराकार होने पर भी फल की इच्छा रखने वाले साधकों के ध्येय की दृष्टि से (उस निराकार का) कोई**

आकार है।

परमेश्वर यदि विश्वाकार है तो फिर नियताकार के रूप में उसका अवभासन कैसे होता है:-

197.-198. जिस प्रकार (मिट्टी एवं सोने के घटों में घटत्व की दृष्टि से) अभेद है और वे जल को वहन करने में समर्थ हैं फिर भी जल लाने वाला अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक घट को छोड़कर दूसरा ग्रहण करता है। उसी प्रकार (चिद्धाम के विश्व अर्थात् समस्त रूप होने पर भी परमेश्वर की नियतिशक्ति के कारण (फल की इच्छा रखने वालों के उद्देश्य से) कोई आकृति किसी फलकल्पना को उत्पन्न करती है।

199. जो (साधक) पूर्ण हृदय है और फल की इच्छा नहीं करता है, उसके लिए सभी आकारों वाली वह देवी अवच्छेद से रहित है।

बुभुक्षु और मुमुक्षु के ध्यान में यही भेद है कि एक का ध्यान नियत आकार वाला होता है और दूसरे का अनियत आकार वाला:-

साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः।।

मुद्रा का वास्तविक स्वरूप:-

200. शरीर के रहने पर भी भैरवीय परम आसव से घूर्णित योगी के देह की जो स्थिति होती है वही मुद्रा है।

होम का वास्तविक स्वरूप:-

201-02. ईंधन सामग्री की परवाह किये बिना समग्र इन्द्रिय-समूह के रूप में फैली हुई प्रचण्ड ज्वालाओं वाली अग्नि हृदय में निरन्तर जलती रहती है।

202. इस प्रकार की संविदरूपी अग्नि में उस (योगी) के भाव समाविष्ट होकर शुद्ध तेज को उद्रिक्त करते हुए होमकर्म के निमित्त बनते हैं।[78]

203. जो परमेश्वर के शक्तिपात से पवित्र हो गया है, अग्रणी होकर पूर्वोक्त (जपादि की तरह) अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, वही दीक्षित है।

जब जपादि में से किसी एक के कारण मुमुक्षु को स्वरूप की सिद्धि हो सकती

है तब इनकी अनेकता का क्या प्रयोजन?

204. यद्यपि जप से आरम्भ करके होम तक प्रत्येक कर्म से परम सिद्धि (रुढिः) उदित होती है फिर भी (जपादि का) इस प्रकार निरूपण किया गया है।

205. जिस प्रकार (रस्सी से) नियंत्रित अश्व समान, नीची और ऊँची जमीन वाले विचित्र भूभाग पर (चालक की) इच्छानुसार उस-उस स्थान पर जाता है।

206. उसी प्रकार संविद्, विचित्र (अर्थात्) शान्त, घोर एवं घोरतर (जपादि) भंगिमाओं के द्वारा द्वैत को पूर्णतया छोड़कर भैरव (अनुत्तर) स्वरूप में प्रस्फुरित होती है।

207-08. जिस प्रकार सामने रक्खे दर्पण में अपने मुख को बार-बार (प्रयत्न पूर्वक) देखते हुए (अन्त में) स्वयं को ही समझता है उसी प्रकार ध्यान, पूजा एवं अर्चनारूपी विकल्प-दर्पण में अपने आप को भैरव रूप में देखते हुए शीघ्र ही भैरवमय हो जाता है।

तन्मयीभाव का स्वरूप क्या है?:-

209. अनुत्तर[79] स्वरूप में तन्मय हो जाना ही वह प्राप्ति है। वही पूर्णता की पराकाष्ठा है और यहाँ कोई दूसरा फल नहीं है।

210. अपूर्णता होने पर उन-उन प्रसङ्गों के सभी फल कल्पित होते हैं (किन्तु) अकल्पित (अर्थात् वास्तविक) पूर्णता होने पर (स्वरूपोपलब्धि के अतिरिक्त) दूसरा फल क्या हो सकता है?

पूर्वोक्त का ही उपसंहार करते हुए कहते हैं:-

211. अलौकिक यज्ञविधि जिसके हृदय में विद्यमान रहती है, उस श्रेष्ठजन्मा योगी का चित्त-चक्र तत्काल ही खिल उठता है।

212. इस याग में अवस्थित (मुमुक्षु) मोक्ष को प्राप्त करता है, (यद्यपि बन्धनग्रस्त) सांसारिक पुरुष उसे देह-सीमा के कार्यों में लगा हुआ देखते हैं।

शैव दृष्टिकोण से बद्ध एवं मुक्त पुरुष के व्यवहार में केवल यही भेद होता है कि मुक्त पुरुष सांसारिक वस्तुओं को अपने से अभिन्न मानकर उनका भोग करता है जबकि बद्ध पुरुष ग्राह्य-ग्राहक की भेद-बुद्धि रखते हुए उन्हें अपने से

अत्यन्त भिन्न मानता है।

213.-17 यहाँ नाथ ने ('श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र' के) अठारहवें पटल में कहा है-यहाँ न तो शुद्धि और अशुद्धि, न ही भक्ष्य आदि का विचार, न द्वैत और न ही उसका परित्याग, अपरिग्रह रखना अथवा परिग्रह करना, जटा, भस्म आदि का संग्रह करना अथवा उसका परित्याग करना, व्रत आदि का आचरण करना अथवा न करना, क्षेत्र आदि में प्रवेश करना और समय (मर्यादा) का पालन करना, परमस्वरूप के चिह्न तथा नाम, गोत्र आदि जिस किसी का यहाँ न तो विधान किया जाता है और न ही प्रतिषेध किया जाता है। यहाँ सभी का विधान किया जाता है और सभी का निषेध।

218. किन्तु हे देवि! यहाँ यह नियम-पूर्वक ही होता है कि सुप्रसन्न योगी को अपना चित्त तत्त्व में स्थिर करना चाहिये।

219-21. और वह (अर्थात् चित्त की स्थिरता) जिसकी जितनी होती है वह वैसा ही आचरण करता है। जिस (पुरुष) का चित्त, तत्त्व में स्थिर हो गया है वह विषयों का भोग करते हुए भी जल में कमलपत्र की तरह, दोषों से स्पृष्ट नहीं होता। (जिस प्रकार) विष के प्रभाव को समाप्त करने वाले मन्त्र आदि से सम्पन्न व्यक्ति विष को खाते हुए भी उससे मोहित (प्रभावित) नहीं होता। उसी प्रकार महामति योगी (विषयों का उपभोग करते हुए भी उससे प्रभावित नहीं होता) देह आदि पाँच भौतिक अशुद्ध कैसे हो सकते हैं?

शैव दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओं के विषय में शुद्धि एवं अशुद्धि का व्यवहार उचित नहीं है क्योंकि वस्तु का स्वभाव यदि शुद्ध है तो वह कभी भी अशुद्ध नहीं बनाई जा सकती और यदि अशुद्ध है तो शुद्ध नहीं बनाई जा सकती। जैसे नील को कभी भी अनील नहीं बनाया जा सकता। अतः वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय है।

222. प्रकाशता के भिन्न होने पर क्या वस्तु शुद्ध-अशुद्ध हो जाती है? (पृथ्वी आदि) अशुद्ध वस्तु की शुद्धि क्या (जल आदि) के द्वारा होती है ?

223. ऐसा मानने पर इनमें एक-दूसरे का आश्रय, व्यर्थता और अनवस्था (दोष) आ जायेंगे। पृथ्वी (अशुद्ध) जल से और जल (अशुद्ध) पृथ्वी से शुद्ध होने लगेगा।

224. यह परस्पर अधीनता (अन्योन्यायत्ता) होगी। (दोनों के) अशुद्ध होने पर भी यही क्रम होगा। अशुद्ध जल से पृथ्वी की शुद्धता व्यर्थ होगी।

225. जल की (शुद्धता) वायु से, वायु की तेज और उस (तेज) की अन्य (आकाश) से (इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा)। मन्त्र अनेक रूपों वाले होते हैं। उनमें स्वभाव से ही शुद्धता होती है।

226. (आकाश आदि भूत-पञ्चक के गुण वाले) मन्त्र यदि स्वभाव से ही शुद्ध हैं तो वे (पृथ्वी आदि) भी शुद्ध क्यों नहीं हैं? यदि उन (मन्त्रों) की शुद्धता का कारण उनकी शिवात्मकता है तो उन (पृथ्वी आदि) में वह क्यों नहीं है?

मन्त्रों की भाँति पृथ्वी आदि भूतपञ्चक में भी शिवात्मकता है क्योंकि शिवात्मकता का अर्थ है प्रकाशरूपता। इस प्रकाशरूपता के बिना कोई वस्तु कभी-भी प्रकाशित नहीं हो सकती। पृथ्वी आदि प्रकाशित होते हैं, अतः इनकी शिवात्मकता असंदिग्ध है।

यद्यपि धरादि एवं मन्त्रों में शिवात्मकता समान है तथापि मन्त्रों में मनन एवं त्राण धर्म होता है और उसकी उसी रूप में अनुभूति होती है, किन्तु धरादि में ऐसा नहीं है। अतः धरादि से विलक्षण मन्त्रों में ही शुद्धता मानना चाहिये:-

227. मन्त्रों में धरा आदि की भाँति शिवात्मकता का अपरिज्ञान नहीं होता है। इस कारण से यदि उन्हें (मन्त्रों को) शुद्ध माना जाता है तो उस (शिवात्मकता) का ज्ञान ही शुद्धता हो जायेगी।

228. (धरा आदि के विषय में) वह (शिवात्मरूप ज्ञान) योगियों को होता है। अतः (समस्त भाव-पदार्थों में (भी) विशुद्धता है।

(पूर्वपक्षी कहता है कि) शुद्धता और अशुद्धता का निश्चय शास्त्रों द्वारा होता है।

जो पुरुष इस समस्त विश्व को अपने से अभिन्न अथवा शिवात्मरूप में देखता है वही वस्तुतः योगी है। दूसरे शब्दों में, समस्त विश्व में शिवात्मता की अनुभूति करना ही योगी का योगित्व है।[80]

229. (इस पर उत्तर पक्षी कहता है कि) ऐसा (शुद्धता और अशुद्धता का निश्चय शास्त्र द्वारा) भले ही हो फिर भी इस शिवात्मता में भी शास्त्र ही निमित्त हैं। (जब शास्त्र दोनों ही प्रकार की बात कहते हैं तब इन दोनों में) क्या ठीक है - इसका उत्तर अन्यत्र विस्तार से दिया गया है।

वेद एवं आगम दोनों ही समान महत्त्व के हैं। अतः इनमें से किसका कथन

प्रामाणिक है यह कहना सम्भव नहीं। इन दोनों में परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं माना जा सकता क्योंकि कोई भी शास्त्र दूसरे से दुर्बल नहीं है।

यदि आगमों को वेदबाह्य[81] मानने के कारण वैदिक कथन को प्रामाणिक माना जाता है तो इसके विपरीत वेद को आगम-बाह्य मानकर अप्रामाणिक क्यों नहीं माना जा सकता?:-

230-31. **यदि वैदिकी विधि से यह (आगम विधि) बाधित होती है तो इसके विपरीत क्यों नहीं हो सकता।[82] यदि विशिष्ट विषय के सम्बन्ध में बाध को ठीक मान लेते हैं जैसे कि सामान्य नियम द्वारा विहित विधि अपवाद द्वारा बाधित हो जाती है।**

किसी विधि का बाध दो प्रकार का होता है : कहीं समान कार्यकारिता के कारण और कहीं विरोध के कारण। प्रथम का उदाहरण है:-**'चमसेनापः प्रणयेत्'**। इसमें चमसी का सामान्य विधान किया गया है। इसका बाध **'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्'** के द्वारा होता है। जल का 'प्रणयन' चमसी से भी हो सकता है और गोदोहन से भी। अतः यह समान-कार्यकारिता का उदाहरण है। बाध का उदाहरण है: **'अष्टाश्रिर्यूपो भवति'** इसमें यूप के अष्टाश्रि होने का सामान्य विधान है। किन्तु इसका बाध **'वाजपेयस्य चतुरस्रः'** की अपवाद-विधि में प्राप्त होता है जिसमें यूप के चतुरश्र होने का विधान किया गया है। इस प्रकार विशिष्ट विषय को लेकर किसी सामान्य विधि का अपवाद स्वयं वैदिक मानते हैं। फिर उन्हें वैदिक विधि के आगम-प्रोक्त आचार द्वारा निषेध में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

231-32. **(वैदिकी चोदना के) सर्वपुरुष सामान्य होने पर भी वे शुद्धता और अशुद्धता तत्त्वज्ञ के विषय में बाधित होती ही हैं, क्योंकि यहाँ ('मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' 18.74-82 में) ऐसा ही कहा गया है और महेश्वर के (द्वारा प्रणीत) आगमों में अर्थवाद आदि की शङ्का नहीं है।[83]**

233. **आकाश आदि के समान (अकर्तृक होने के कारण शून्य और इसलिए) बुद्धिपूर्वक निर्मल न होने वाले वेदशास्त्र का अर्थ झूठा है, यह शङ्का सदा बनी रहेगी।[84]**

जहाँ अनवच्छिन्न विज्ञानरूप परमेश्वर ही शास्त्र रूप में अवस्थित है वहाँ मिथ्यार्थत्व की शङ्का कैसे हो सकती है :-

234. **(जब) अनवच्छिन्न विज्ञानरूप, विश्वरूप एवं पूर्णस्वतन्त्र परमेश्वर ही शास्त्ररूप से अवस्थित है (तब) उन (शास्त्रों) के मिथ्यात्व की**

शङ्का करना उचित नहीं है।

ईश्वर सभी शास्त्रों का प्रणेता है-यह बात मान ली जाए तब भी यह कैसे हो सकता है कि वही शास्त्ररूप में अवस्थित है :-

235. **इच्छा-सम्पन्न ईश्वर जिस प्रकार भाव (पदार्थ) के रूप में अवस्थित रहने का संकल्प करता है उसी प्रकार विश्व के स्वरूप में शब्दरूप में स्थित रहने का इच्छुक वह (परमात्मा) उस रूप में (अर्थात् शब्दात्मकशास्त्र के रूप में) अवस्थित है।**

यह विश्व का वाच्यवाचकरूप है। शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से वाचक तथा वाच्य बनता है। जिस प्रकार वाच्य भाव-पदार्थ शिव के संकल्प के परिणाम हैं उसी प्रकार उस विश्व का निरूपण करने वाले वाचक शास्त्र भी उसी की इच्छा का परिणाम हैं। वाच्य तथा वाचक एकात्म होकर शिव के साथ अन्ततः तदात्मा हैं।

236. **जहाँ (स्तुति-निन्दारूप) अर्थवाद अन्य विधि आदि रूप की ओर देखता है (अर्थात् विधि अथवा निषेध का अंग बन कर रहता है) वहाँ वह भले ही असत्य हो पर (यहाँ) वही ईश्वर के स्वातन्त्र्य का विधायक है।**

अर्थवाद का प्रामाण्य विधि-परतन्त्र है, स्वतन्त्र नहीं। किन्तु शैवागम का प्रत्येक वाक्य स्वतन्त्रतया प्रमाण है। वह किसी का अङ्ग नहीं है। मीमांसा के अनुसार अर्थवाद विधि के अङ्ग बन कर ही, विधि के साथ एकवाक्यता स्थापित करके ही, प्रमाण बनते हैं। जैसे कि **'बर्हिषि रजतं न देयम्'** इस विधिवाक्य का अङ्गभूत अर्थवाद वाक्य निम्नाङ्कित है :-

'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।'

यदि कोई अर्थवाद वाक्य केवल इतिवृत्त स्वरूप अथवा यथाश्रुत अर्थ का प्रतिपादक है तथा दूसरे किसी वाक्य का अङ्ग नहीं बनता तो वह स्वतन्त्ररूप से सत्य किंवा प्रमाण नहीं माना जाता है।

इस अर्थवाद की केवल स्वतन्त्रता ही नहीं अपितु परतन्त्रता भी सत्य अर्थवादी है:-

237. **अथवा किसी विधि वाक्य का अङ्ग बनने पर भी यह अर्थवाद, सामीप्य के कारण गज, जड आदि (पदों) की तरह से निरर्थक नहीं है।**

पद का अङ्ग होने पर भी, एक-दूसरे से सन्निधि के कारण वर्ण निरर्थक नहीं

माने जाते हैं। उदाहरण के लिए 'गज' पद में 'ग' की 'ज' से और 'ज' की 'ग' से सन्निधि होने के कारण दोनों ही वर्ण सार्थक हैं यद्यपि ये दोनों ही गजरूप पद के अङ्ग हैं। यदि इन वर्णों को सार्थक नहीं माना जाता तो इनकी सन्निधि से बनने वाला गज पद भी निरर्थक रहेगा। अवयवों के निरर्थक होने पर समुदाय को भी निरर्थक माना होगा। यदि बालू के एक कण में तेल देने की सामर्थ्य नहीं है तो बालू के ढेर में भी वह सामर्थ्य नहीं हो सकती। अर्थवाद विधि का अङ्ग अथवा अवयव है। यदि वह अवयव निरर्थक है तो अङ्गी को भी निरर्थक ही मानना होगा। इसलिए उचित यही है कि अर्थवाद को भी सार्थक एवं सत्य माना जाय। वस्तुतः लोक में भी अर्थवाद के द्वारा ही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति सिद्ध होती है। 'यह गाय खरीद लो' इतना कहने से कोई गाय नहीं खरीदता जब तक कि यह न कहा जाय, कि वह बहुत दूध देती है, सीधी है और बछिया देने वाली है तथा सन्तान श्रेष्ठ होती है।

238. **अपनी संवित्ति (प्रतिभा) से ही उसे अर्थ का बोध हो जाता है। (यदि उस सहज अर्थ को छिपाया जाता है) तो विधि निषेध का भी दुराव किया जा सकता है।**

239. **न केवल अपनी निर्बाध प्रतिभा अपितु युक्ति भी (प्रमाण) है जो सारे अर्थरूपी मोती का रहस्य स्पष्ट कर देती है।[85]**

240. **मृत शरीर में और मलादि में जो अशुद्धि बताई गई है और अन्यत्र (अर्थात् जीवित शरीर और देह में स्थित मलादि में) नहीं। इसलिए संविद् (के स्वभाव) से पतित (रहित) वस्तु को अशुद्ध समझना चाहिये।**

241. **(और) संविद् से ऐक्य को प्राप्त सभी वस्तुओं को शुद्ध (समझना चाहिये)। इस प्रकार (संविद् से अभेद और भेद के आधार पर शुद्धि एवं अशुद्धि का) यह (विभाजन) सिद्ध है।**

शुद्धि और अशुद्धि के निरूपण में 'श्रीमद्वीरावली' में कहा गया है -

242. **(कि) सभी (प्रमातृ, प्रमेयरूप विश्व) को वहन करने वाला जीव ही है। कोई भी वस्तु अजीव नहीं है। जो वस्तु जीव से रहित है उसे अशुद्ध जानो।**

यहाँ जीव का अर्थ पर प्रकाश है। क्योंकि यह प्रमाता और प्रमेयरूप समस्त विश्व को ज्ञान क्रियादि शक्तियों के द्वारा प्राणवान् बनाता है। प्रमातृ, प्रमेयरूप विश्व को वहन करने के कारण उसे वाहक भी कहा गया है।

243. **इसलिए जो संविद् से अत्यन्त दूर नहीं है वही शुद्ध है। ऋषि भी अविकल्पज्ञान से उस प्रकार (अर्थात् संविद् से भेद एवं अभेद के आधार पर शुद्धि और अशुद्धि के विभाग के) भागी हो गये थे।**

श्रीमद्वीरावली' में कहा गया है:-

'ऋषिभिर्भक्षितं पूर्वं गोमासं च नरोद्भवम्'

परन्तु यदि ये ऋषि द्रव्यों की संविद् से एकात्मता को शुद्धि नहीं मानते तो शास्त्र द्वारा निन्दित एवं लोक-विरुद्ध गोमांस आदि का भक्षण कैसे करते, अर्थात् वस्तुओं से ऐक्य की अनुभूति करते हुए उनका उपभोग करना अनुचित नहीं है। बाह्यचर्या में कहा गया है:-

यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्रबहिष्कृतम्।
यज्जुगुप्स्यं च निन्द्यं च वीरैराहार्यमेव तत्।। विवेक, 4.243 में उद्धृत.

यदि ऋषियों के द्वारा गोमांस आदि का भक्षण उचित है तो वे स्वयं इसे अभक्ष्य कैसे कहते हैं ?

244. (अ) **उन्होंने (ऋषियों ने) लोक की रक्षा के लिए उस (ऐक्यरूप पारमार्थिक) तत्त्व को छुपा लिया।**

ऋषियों ने सामान्य व्यक्तियों के लिए मांस-भक्षण आदि का निषेध इसलिए किया ताकि अज्ञानी पुरुष ऐक्य की अनुभूति किये बिना ही, उनका उपभोग करते हुए, लोकव्यवहार को हानि न पहुँचाये। माना भी गया है कि ऋषियों के कथन का ही अनुकरण करना चाहिये उनके व्यवहार का नहीं:-

'यत्ते कुर्युर्न तत्कुर्याद्यत् ब्रूयुस्तत्समाचरेत्।[86]

244.-45. **भावों (पदार्थों) के बाह्य होने पर भी इनकी शुद्धि और अशुद्धि नील के समान नहीं है। (किन्तु किसी वस्तु को) चित् से ऐक्यरूप में जानने अथवा न जानने से। यह प्रमाता का ही धर्म है।**

शुद्धता और अशुद्धता वस्तु का स्वाभाविक धर्म नहीं है, अपितु प्रमाता अपने ज्ञान एवं दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध के रूप में देखता है। क्योंकि यदि शुद्धता एवं अशुद्धता वस्तुओं का स्वाभाविक धर्म होतीं तो वे सभी प्रमाताओं के लिए सदा शुद्ध अथवा अशुद्ध रहतीं।

वस्तुविशेषों को देखकर किसी प्रमाता का मन प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होता है। अतः शुद्धि और अशुद्धि को वस्तु का धर्म ही मानना चाहिये ?:-

245-46. **यदि (शुद्धि और अशुद्धि) वस्तु का स्वभाव है तो भी प्रमाता के प्रति परतन्त्रता ही निश्चित होगी। (एक ही) सुरा इन्द्रयज्ञ (सौत्रामण्याम) में होता के लिए शुद्ध (होती है और) दूसरे (यज्ञ न करने वाले) के लिए उसके विपरीत (अर्थात् अशुद्ध होती है)।**

शैव कथनों से वैदिक कथनों का बाधित होना तो ठीक है। किन्तु वैदिक कथन से स्वयं वैदिक कथन ही बाधित हो ऐसा तर्कसंगत नहीं लगता है:-

246-47. **वैदिक कथन अपने ही वाक्यों से बाधित होते हैं क्योंकि उनमें कहीं ब्रह्महत्या को विधि के रूप में (और कहीं) निषिद्ध बताया गया है। इसी नियम के द्वारा खाद्य (और अखाद्य) आदि की विधियाँ भी चर्चित हैं।**

दोनों ही प्रकार के वैदिक कथन मिलते हैं: 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः तथा 'ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत।' इसी प्रकार शैव दृष्टिकोण से एक ही सुरा किसी प्रमाता के लिए शुद्ध और किसी के लिए अशुद्ध होती है। अतः निष्कर्ष यह है कि शुद्धता और अशुद्धता वस्तु का स्वभाव नहीं है।

जिस प्रकार शैवों की विशेष चोदना से वैदिकी सामान्य चोदना बाधित हो जाती है उसी प्रकार वैदिकी से शैवी चोदना बाधित क्यों नहीं हो सकती, इस शङ्का के निवारण के लिए आगम-प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है:-

248-49. **'सर्वज्ञानोत्तर' आदि (आगम) में महेश्वर ने कहा था कि मनुष्य, ऋषि, देव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि ने जो कहा था वह (एक-दूसरे से) बाद-बाद वाला विशिष्ट होने के कारण अपने से पूर्व-पूर्व के लिए बाधक है। वैष्णव वाक्यों से शैव (वाक्य) कभी भी बाधित नहीं होता।**

250. **(इसी प्रकार) ब्रह्म से समुद्भूत (अर्थात् वेद-वाक्यों) से वैष्णव वाक्य बाधित नहीं होता है, इस प्रकार समझ लेना चाहिये। जो इसके (ऊपर बताये गये नियम के) विपरीत बाधित हुआ मानता है वह मूर्ख पाप का भागी बनता है।**

वेद ब्रह्म से समुद्भूत हैं-'प्रजापतिना चत्वारो वेदा असृज्यन्त।' वेद-वाक्यों से जब वैष्णव वाक्य ही बाधित नहीं होते तब वैष्णव मत से भी श्रेष्ठ शैव वाक्यों का वेद-वाक्यों से बाधित होना कैसे सम्भव है? परन्तु जो व्यक्ति वेदादि वाक्यों से शैव वाक्यों का बाध मानता है वह मूर्ख एवं पापी है:-'यो

हि बाधयते पापः स मूढो नष्टचेतनः।' इस सम्बन्ध में विवेक में उद्धृत निम्नाङ्कित वचन भी उल्लेख्य हैः-

न पुंभिरार्षवाक्यं च वैदिकं चर्षिभिस्तथा।
न देवैर्ब्रह्मणो वाक्यं वैष्णवं पद्मजन्मजैः।।
न शैवं विष्णुवचनैर्बाध्यते तु कदाचन।

251. **इसलिए हे स्कन्द! लोकधर्मों का मुख्यरूप से आचरण नहीं करना चाहिये। अन्य शास्त्रों में कहे गये नियम का नहीं (अपितु) निजशास्त्र में बताए गए नियम का आचरण करना चाहिये।**

लौकिक आचार, वैदिक एवं वैष्णवधर्म से शैवधर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने के बाद अभिनवगुप्त का कथन है कि लोक, वेद अथवा तन्त्रान्तर प्रतिपादित धर्म का शैव साधक को मुख्यरूप से निष्ठापूर्वक पालन नहीं करना चाहिये।[87]

ईश्वर ने अलग-अलग अधिकारियों के विचार से परस्पर विलक्षण शास्त्रों का उपदेश दिया है। अतः जिस अधिकारी के लिए जो शास्त्र उपदिष्ट है उसको उसी का आचरण करना चाहिये। क्रिया एवं चर्या के भेद से तन्त्रों का परस्पर भेद होता है। एक तन्त्र के अनुयायी को विरोधी तन्त्र का अनुगमन नहीं करना चाहिये। किसी क्रिया विशेष को समझने के लिए यदि कोई अपेक्षा होती है तो उसकी पूर्ति समान तन्त्र से की जा सकती है। उदाहरण के लिए 'श्रीपूर्वशास्त्र' में निर्दिष्ट द्वारपतियों की दृष्टि को 'श्रीत्रिशिरोभैरव' से और उसमें निर्दिष्ट ज्वलतपुष्प के निक्षेपण से सम्बन्धित इति कर्त्तव्यता को 'श्रीस्वच्छन्दशास्त्र' से और उसमें निर्दिष्ट 'नाराचास्त्र' के प्रयोग को 'अनन्तविजय' नामक सिद्धान्तशास्त्र से समझना चाहिये। ये तीनों शास्त्र समान तन्त्र हैं। इसलिए इनमें निर्दिष्ट विधियों को एक-दूसरे की सहायता से समझा जा सकता है। किन्तु जहाँ तक अपेक्षा हो वहीं तक दूसरे शास्त्र की सहायता लेनी चाहिये। इस सम्बन्ध में यह आगम-कथम हैः-

सापेक्षत्वेऽप्यपेक्षैव मानं यावदपेक्षते।
तावदेवान्यतः कार्यं नान्यत्स्यादनवस्थितेः।। विवेक, 4.4.251 में उद्धृत।

252. **क्योंकि यद्यपि ईश्वर ने वेद आदि (शास्त्रों) का भी निरूपण किया है फिर भी संकोच भाव एवं अभाव के ज्ञान के अनुसार (वे अलग-अलग अधिकारी के लिए) हैं।**

सभी शास्त्रों का उपदेष्टा परमेश्वर ही है इस विषय में कोई विवाद नहीं है। परन्तु

उसने कुछ शास्त्रों को अभेद-प्रधान बनाया है और कुछ को भेद-प्रधान। वेदादि शास्त्र भेद प्रधान हैं और शैव आदि शास्त्र अभेद प्रधान।

253. संकोच (भेद) के तारतम्य से वेद ज्ञान कहा गया है और विकास के तारतम्य से (उसका) बाधक पतिज्ञान (शैव ज्ञान)।

254. यह द्वैत है और यह द्वैत नहीं (अर्थात् अद्वैत) है। इस प्रकार एक-दूसरे का निषेध करते हुए, मायीय भेद से उत्पन्न यह (अवास्तविक) ज्ञान उस अकाल्पनिक (अर्थात् सत्य परमेश्वर) में कैसे हो सकता है?

255. और 'भर्गशिखा' में कहा गया है कि योगी, द्वैत और अद्वैत के विकल्प से उत्पन्न मृत्यु, काल, कला आदि को आत्मसात् कर लेता है।

परसंविद् से ऐक्य का अनुभव करने वाला योगी उसमें जन्म, मृत्यु, काल आदि की कल्पनाओं का तनिक भी स्पर्श नहीं देखता है:-

मृत्युं च कालं कलाकलापं विकारजातं प्रतिपत्तिजालम्।
ऐकात्म्यनानात्मवितर्कजातं तदा स सर्वं कवलीकरोति।।

'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' (14.74-81) के 'लिङ्गपूजादिकं न च' इस कथन की व्याख्या करते हैं:-

256. (छत्तीस तत्त्व वाले) विश्वरूप अध्वा को जानने वाले भेद दर्शन में लिङ्ग पूजा का विधान किया गया है। और कुलादि (अर्थात् अद्वयशास्त्रों) में उस (लिङ्गपूजा) का निषेध किया गया है। (क्योंकि) देह ही विश्वाध्वरूप है।

257. इस त्रिकदर्शन में उस (लिङ्गपूजा) के विधि और निषेध से कोई प्रयोजन नहीं। (वैराग्य आदि) नियमों का अभ्यास करने से परमेश्वर के साथ ऐक्य की अनुभूति होती है।

258. बिना प्रयत्न के (ज्ञान दिलाने वाले) उपाय के उपदेश से 'कुलदर्शन' में इस जटादि का निषेध कहा गया है।[88]

258.-60. और मन्त्र के अर्थ से तादात्म्य की अनुभूति के लिए व्रत (आदि) का आचरण करना चाहिये (ऐसा भेद दर्शन में कहा गया है)। मन्त्र के अर्थ के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए उस (व्रतचर्या) का निषेध (कौलदर्शन में किया गया) है।

क्षेत्र, पीठ एवं उपपीठ में प्रवेश का तथा मन्त्रादि का उपदेश, आराधक के विघ्नों की शान्ति के लिए अथवा उन (मन्त्रों) के लाभ के लिए भी दिया जाता है।

यहाँ क्षेत्र का अर्थ मेलापस्थान, पीठ का अर्थ कामरूप आदि एवं उपपीठ का अर्थ देवीकोट्टादि किया गया है।

अन्य स्थानों पर इसका निषेध भी किया गया है:-

260-61. **उसी प्रकार (पूर्ववत्) 'क्षेत्र (एवं पीठ, उपपीठ) आदि में प्रवेश के अभाव की विधि, स्वात्मा की पूर्णता को जानने के लिए है ऐसा भी (तन्त्रा., 4.257 में) वर्णित किया गया है।[89]**

(यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये ऐसे) समयाचार के सद्भाव का उपदेश, पालन करने के लिए दिया जाता है।

262-63. **भेदमूलक होने के कारण विभिन्न (समयाचारों) का त्याग कर तत्त्वशुद्धि के लिए मत शास्त्रों में समय आदि का निषेध (इस प्रकार) किया गया है कि उस स्वप्रकाशरूप (परतत्त्व) को मर्यादाओं से रहित एवं पूर्ण रूप से स्वतन्त्र जानो।**

वह परमतत्त्व स्वप्रकाश, पूर्णस्वतन्त्र एवं मर्यादा रहित है। इसलिए उसके विषय में हान-उपादान आदि से सम्पन्न समयाचार शुद्धि का कारण कैसे हो सकता है ?

क्रमशः परकीय एवं स्वकीय स्वरूप का व्याख्यानः-

263-64. **यह ध्येय दूसरे का स्वरूप है। और मेरा अपना स्वरूप यह (अर्थात् ध्यान के स्वभाव वाला) है। (इसी प्रकार) ज्वाला आदि लिङ्ग (चिह्न) दूसरे का और कपाल आदि मेरा अपना (स्वरूप) है। आदि शब्द से (चान्द्रायण आदि) तप, चर्या, (मध्याह्न रात्रि आदि) वेला तथा (प्रतिपदा आदि) तिथि को कहा गया है।**

265. **शक्ति, शिव आदि से अन्त होने वाला मुझ साधक का नाम है, अन्यथा नहीं (अर्थात् साधक का नाम स्त्री होने पर शिखाशक्ति, पुरुष होने पर ईशानशिव और शूद्र होने पर कवचगण होना चाहिये)। साथ ही गोत्र, गुरुपरम्परा, मठ (सम्प्रदाय) तथा कुल (गुरुकुल) का उल्लेख**

होना चाहिये।

266. शैव परम्परा में श्रीसन्तति (अर्थात् श्रीनाथ की परम्परावाली) त्र्यम्बक नामक, अर्धत्र्यम्बक नामक और अमर्द नामक इस प्रकार से साढ़े तीन मठ हैं।[90]

267-70. कूर्म 'आदि' से प्रारम्भ कर मीन तक युगानुसार सिद्धों की परम्परा है। 'आदि' शब्द से घर[91], पल्ली (भिक्षास्थान), पीठ, उपपीठ, मुद्रा तथा छुम्मा[92] (का ग्रहण होता है।) इनका विधान अपना-अपना है। एकत्व के बोध के लिए अपनी सन्तान का ही (अमरनाथ आदि के क्रम से) आश्रय लेना चाहिये। भिन्न सन्तति वाले के साथ चक्र की पूजा या भोग नहीं करना चाहिये। इसका निषेध मत-शास्त्रों में भी मिलता है। परमतत्त्व के अखण्ड होने पर भी (सन्तति क्रम के आधार पर) उपर्युक्त भेद से खण्डन (विभाग) सम्भव है।

270-71. इस प्रकार क्षेत्र-प्रवेश से आरम्भ करके सन्तान के नियम तक इस (शास्त्र) में किसी का भी विधान नहीं किया गया है क्योंकि ये शिव (स्वरूप की प्राप्ति) में साक्षात् उपाय नहीं हैं और उसका निषेध नहीं है क्योंकि वह (क्षेत्र प्रवेश आदि) परतत्त्व के खण्डन के लिए नहीं है।

272. विश्वात्मा शिव के द्वारा अपने स्वरूप में विकल्पित विधि तथा निषेध, इसके स्वरूप का खण्डन नहीं कर सकते हैं।

273. परमतत्त्व के प्रवेश में जब जो कोई उपाय निकट है उसीको (वह मुमुक्षु) ग्राह्य समझता है अथवा (जो जिससे दूर है उसे वह) त्याज्य समझता है।

274 (अ) 'श्रीत्रिकशासन' में कहा गया है कि यहाँ (त्याज्य अथवा उपादेय की विचाररूपा) यन्त्रणा नहीं करनी चाहिये।

अमुक वस्तु उपादेय है अथवा हेय है इस विचार का नाम यन्त्रणा है। इस दर्शन में उक्त प्रकार की यन्त्रणा का निषेध करते हुए यह नियम बताया गया है कि सभी मुमुक्षुओं के लिए कोई एक ही उपाय निश्चित नहीं है। जो उपाय जिस मुमुक्षु के निकट अथवा अनुकूल हो वही उसके लिए वास्तविक उपाय है।

274-75. सब कुछ शिवमय है। इसलिये सभी देवताओं, ओवल्ली, मन्त्रवर्ण, आगमों और गतियों में समता है।[93] जो अखण्डित सद्भावरूप आत्मतत्त्व को अनुभूत कर लेता है, वही अखण्डित सद्भावरूप

शिवतत्त्व का भी साक्षात्कार कर लेता है।

ओवल्ली का अर्थ है बोधि आदि छः प्रकार की ज्ञान सन्तति। गति से यहाँ भाव, वृत्ति, द्रव्य, भूमिका आदि अनेक प्रकार वाली गतियाँ अभीष्ट हैं।

276-78. केतकी के फूलों की सुगन्ध में भ्रमर ही अत्यधिक रसिक होता है मक्षिका नहीं। (उसी प्रकार) महेश्वर के द्वारा अनुग्रहीत (अर्थात् तीव्रतम शक्तिपात से पवित्र) कोई ही (मुमुक्षु) भैरवीय परम अद्वयतत्त्व की अर्चना में आसक्त होता है। इस याग (दर्शन अथवा तत्त्व) में विश्रान्त रहने वाले (मुमुक्षु) का संसार-चक्र, महाग्रीष्म में बर्फ की तरह से, स्वयं ही विलीन हो जाता है। अथवा (याज्ययाजक आदि के) बहुत अधिक विस्तार हो जाने पर इसके अतिप्रसङ्ग से बस किया जाय। इस (पूर्वोक्त) याग विधि में कोई ही योग्य अभिनवगुप्त पण्डित है।

इस प्रकार अनुत्तरपद के विकास में शाक्त उपाय की आज व्याख्या की गई।

-: सन्दर्भ :-

1. काश्मीर शैव दर्शन में मुक्ति के चार उपाय माने गये हैं - आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय तथा अनुपाय। इन्हें क्रमशः क्रिया, ज्ञान, इच्छा तथा आनन्दोपाय भी कहा जाता है। शाक्तोपाय में विकल्प-रूप ज्ञान की प्रधानता होती है इसलिए इसे ज्ञानोपाय कहा जाता है। द्रष्टव्य, तन्त्रा 1.148.

2. द्रष्टव्य, तन्त्रा 4.4.

3. (क) ज्ञानपल्लवस्वभावैव हि क्रिया ... इयमेव च संवित्स्वभावता। ईप्रवि, 1.1.1.

(ख) सकलोऽयं तत्त्वभूतभावभुवनसंभारः संविदि विश्रान्तः। वही, 1.5.12.

(ग) संवित् एव अभ्युपगतस्वातन्त्र्या अप्रतीघातलक्षणात् इच्छाविशेषवशात् संविदोऽनधिकात्मताया अनपायात् अन्तःस्थितमेव सत् भावजातम् इदमित्येवं प्राणबुद्धिदेह्यदेः वितीर्णकियन्मात्रसंविद्रूपात् बाह्यत्वेन आभासयति। वही, 1.5.7.

4. परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथवाशुभे।। विवेक, 4.6 में उद्धृत.

5. नापनेयमतः किञ्चित्प्रक्षेप्तव्यं न किञ्चन।
द्रष्टव्यं भूततोद्भूतं भूतदर्शी विमुच्यते।। वही, 4.9 में उद्धृत।

6. (क) मीनाति पशुप्रमात्रृनिति माया ...। शिदृवृ, 1.12.

(ख) .....माया विमोहिनी नाम शक्तिः। ईप्रवि, 1.1.2.

(ग) स्वातन्त्र्यरूपा माया शक्तिः। वही, 1.6.5.

(घ) चित्तत्वस्यैव स्वातन्त्र्यं मायाशक्तिः। वही, 1.5.18,

(ङ) मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः।। ईप्रका, 1.5.18,

(च) सा तु देशादिकाध्यक्षान्तरभिन्ने स्वलक्षणे।
तात्कालिकी प्रवृतिः स्यादर्थिनः ...।। वही, 2.3.9.

(छ) और भी द्रष्टव्य - वही, 3.1.6,

(ज) ..... तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः - वही, 3.1.7,

(झ) भेदाभासश्च माया। ईप्रवि, 2.3.13.

7. प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।। विवेक, 4.15 में उद्धृत.

8. (क) द्रष्टव्य - ईप्रवि, 3.1.9

(ख) अयं रागो जीवस्यान्तःस्वभावभूत एव न बाह्यवैराग्याभावः। मा, 3.1.9.

(ग) सांख्य एवं शैव दर्शन के रागतत्त्व की तुलना के लिये द्रष्टव्य - पाण्डेय, अभि, पृ. 309.

9. न विन्दन्ति परं देवं विद्यारागेण रञ्जिताः। ईप्रवि, 1.1.1 में उद्धृत.

10. भावांशकः स्वभावाख्यः पुष्पपातांश एव च। विवेक, 4.19 में उद्धृत.

11. न विन्दन्ति परं देवं विद्यारागेण रञ्जिताः। ईप्रवि, 1.1.1 में उद्धृत.

12. जयरथ में तन्त्रा, 4.33. के विवेक में वामा शक्ति को मायाशक्ति का पर्याय माना है।

13. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्धिदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।
योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।
सौन्दरनन्द, 16/28-29.

14. यत्र रूढिः प्रजायेत युक्तियुक्ते विनिश्चयात्।
शुद्धविद्याप्रसादोऽसावित्याह भगवाञ्छिवः।। विवेक, 4.34 में उद्धृत.

15. विस्तार के लिए तंत्रा 'शक्तिपात-प्रकाशनम्' नामक सम्पूर्ण तेहरवाँ आह्निक द्रष्टव्य है।

16. अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी।
निर्वैरपरिपन्थिन्या यया भ्रमितबुद्धयः।।
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः।

सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम्।।
गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः।
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः।।
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।
सांख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविनिश्चये।।
न तांल्लंघयितुं शक्ता यदान्ये मोक्षवादिनः।
क्लिश्यन्ते मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया।। वही, 4.38 में उद्धृत. स्वत. 120-21

17. गुरुशास्त्रानपेक्षं च यस्यैतत्स्वयमुद्भवेत्।
स सांसिद्धिक इत्युक्तस्तत्त्वनिष्ठो महामुनिः।। वही, 4.40 में उद्धृत.

18. उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते। वही, 4.41 में उद्धृत वाक्यपदीय 2.38.

19. बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिता।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्तिताः।। वही, 4.42 में उद्धृत.

20. विस्तार के लिए तंत्रा-का 'दीक्षोपक्रमप्रकाशनम्' नामक चौदहवाँ आह्निक द्रष्टव्य।

21. शास्त्रहीनं न सिद्धिः स्याद्दीक्षादौ वीरवन्दिते। वही, 4.44 में उद्धृत.

22. मध्यतीव्रात्पुनः सर्वमज्ञानं विनिवर्तते।
अयमेव यतो याति बन्धमोक्षतथात्मताम्।।
तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत्। वही, 4.47 में उद्धृत.

23. इसी विचार की तुलना के लिए महायान का बोधिसत्त्व का आदर्श, जैनों का तीर्थंकर का स्वरूप एवं गीता का निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य हैः-

(i) न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। गीता, 3.22,

(ii) ..... लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हति।। वही, 3.20.

24. विस्तार के लिए तंत्रा का चौदहवाँ आह्निक द्रष्टव्य।

25. अनादिमति संसारे कारणं परमेश्वरः।
स्वभावेनैव जन्तूनामनुग्रहपरः सदा।। विवेक, 4.56 में उद्धृत.

26. तया बद्धाञ्छिवो जन्तून्स्वेच्छया मोचयत्यतः। वही, 4.56 में उद्धृत.

27. विवेक, 4.64 में जयरथ ने 'श्रीमद्रक्ता' को 'श्रीचण्डिका' का पर्याय बताया है।

28. लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्रकल्पितः।
संकेतबलतो नास्य पुस्तकात्प्रथते महः।। वही, 4.66. में उद्धृत.

29. ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते।
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति।। वही, 4.66 में उद्धृत.

30. जयरथ ने विवेक, 4.53 में 'अभिषेक' का अर्थ शास्त्रज्ञानादि में अधिकारिता किया है।

31. तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शाङ्करीम्। वही, 4.72 में उद्धृत.

32. अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवसंहिताम्। वही, 4.72 में उद्धृत.

33. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योसू, 2.32.

34. शशिभास्करसंयोगाज्जीवस्तन्मात्रतां व्रजेत्।
अत्र ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकाङ्क्षिणः।। वही, 4.90 में उद्धृत.

35. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। योसू, 3-7.

36. (क) अन्तः संविदि यन्निरूढमभितस्तत्प्राणधीविग्रहे
संचार्येत कथं तथेति घटते तत्राभ्युपायक्रमः।
ये त्वभ्यासपथेन संविदमिमां संस्कर्तुमभ्युद्यता-
स्ते किं कुत्र कथं नु वा विदधतामित्यत्र संदिह्महे।। वही, 4.97 में उद्धृत.

(ख) अभिनवगुप्त का यह मत अद्वैत वेदान्त की मान्यता के समान ही है। शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य (1.1.4) में आत्मा को उत्पाद्य, विकार्य, आप्य एवं संस्कार्य मानने वाले मतों का सयुक्तिक खण्डन किया है। प्रसङ्गानुसार, वे आत्मा अथवा मोक्ष को इसलिये संस्कार्य नहीं मानते कि संस्कार में गुणों का आधान अथवा दोषों का अपनयन होता है किन्तु मोक्ष के विषय में ऐसा कोई अवसर नहीं है।

37. न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा।

सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः।।
तत्त्यागो वा व्रतादीनां चरणाचरणं च यत्।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम्।।
परलिङ्गस्वरूपादि नामगोत्रादिकं च यत्।
नास्मिन्विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिध्यते।। मावि, 75-77.

38. तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्। विवेक, 4.108 में उद्धृत.

39. अशुद्धं नास्ति तत्किञ्चित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम्।
यत्तेन रहितं किञ्चिदशुद्धं तेन जायते।। वही, 4.118 में उद्धृत.

40. पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।। विभै, 147.

41. इसी मान्यता के विषय में स्फटिक मणि का उदाहरण द्रष्टव्य हैः-
नानाविधवर्णानां रूपं धत्ते यथाऽमलः स्फटिकः।
सुरमानुषपशुपादपरूपत्वं तद्वदीशोऽपि।। पसा, 6.

42. सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते।
अन्योन्यमविमुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ।। विवेक, 4.124 से उद्धृत.

43. न खल्वेष शिवः शान्तो नाम कश्चिद्विभेदवान्।
सर्वेतराध्वव्यावृत्तो घटतुल्योऽस्ति कुत्रचित्।।
महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता।।
तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य जृम्भते। वही, 4.125 में उद्धृत.

44. लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम्।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम्।। वही, 4.131 में उद्धृत.

45. अम्बुवाहा वहेद्वामा मध्यमा शुक्रवाहिनी।
दक्षस्था रक्तवाहा च ..... ।। वही, 4.137 में उद्धृत.

46. द्वादशैव स्वराः प्रोक्ता नपुंसकविवर्जिताः।
आदित्या द्वादशप्रोक्ता द्वादशारव्यवस्थिताः।।
मासा द्वादश इत्युक्ताः कला द्वादशसंज्ञिताः।। वही, 4.146 में उद्धृत.

47. (क) मन्त्रोदया व्योमरूपा व्योमस्था व्योमवर्जिता।
सर्वा सर्वविनिर्मुक्ता विश्वस्मिन् सृष्टिनाशिनी।।

या कला विश्वविभवा सृष्ट्यर्थकरणक्षमा।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति सा स्मृता।।

वही, 4.148 में पञ्चशतिक से उद्धृत.

(ख) कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपा-
मुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः।
निलीयते नीलकुलालये या
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि।।

वही, 4.148 में 'श्रीक्रमस्तोत्र' से उद्धृत.

48. (क) वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र -
प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम्।
शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां
शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम्।।

वही, 4.150 में 'श्रीक्रमभट्टारक' से उद्धृत,

(ख) हासिनी पौद्गली येयं वालाग्रशतकल्पना।
कल्पते सर्वदेहस्था स्थितिः सर्गस्य कारिणी।।
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैव लीयते।
तां विद्धि देवदेवेश स्थितिकाली महेश्वर।।

वही, 4.150 में 'श्रीपञ्चशतिक' से उद्धृत.

49. यमरूपस्वरूपस्था रूपातीतस्वरूपगा।
सा कला लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता।। वही 4.151 में उद्धृत.

50. सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय।
वपुर्महाग्रासविलासरागात् संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम्।।

वही, 4.151 में उद्धृत.

51. चण्डकाली शुद्धवर्णा यामृतग्रसनोद्यता।
भावाभावविनिर्मुक्ता विश्वसंहाररूपिणी।।
यत्र सा याति विलयं सा च संहारकालिका। वही, 4.152 में उद्धृत.

52. उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहारनिमेषमेति।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां

संहारकालीं मुदितां नमामि।। वही, 4.152 में उद्धृत.

53. ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी।
मृत्युकालकला यस्याः प्रविशेद्विग्रहं शिव।।
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेया गिरिसुताधव।। वही, 4.154 में उद्धृत.

54. ममेत्यहंकारकलाकलापविस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम्।।

विवेक, 4.154 में उद्धृत.

55. रुद्रकाली में 'रु' रुध् धातु के अर्थ को तथा 'द्र' द्रव धातु के अर्थ को गर्भित करता है।

56. इसकी व्युत्पश्रि किञ्चित् भिन्नरूप में दी हुई है :-
..... दीधितीनां सहस्रं यद्गमेच्च पिबते भृशम्।
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीति सा स्मृता। वही, 4.158 में उद्धृत.

57. ..... यत्रैव शाम्यति कला रूद्रकालीति सा स्मृता।
भेदस्य द्रावणाद्भद्रा भद्रसिद्धिकरीति या।। वही, 4.158 में उद्धृत.

58. विश्वं महाकल्पविरामकल्प -
भवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम्।। वही, 4.158 में उद्धृत.

59. सांख्यदर्शन में तत्त्वों के क्रम में अहंकार को महत् अथवा बुद्धि तत्त्व के बाद परिगणित किया गया है तथा अहंकार के बाद वाले सभी तत्त्वों को महत् में लीन माना गया है जबकि शैव दर्शन में इसके विपरीत अहंकार को बुद्धि से पूर्व मानते हुए अहंकार में बुद्धि आदि द्वादश करणों को लीन माना गया है।

60. इसीलिये इसे विविध शास्त्रों में 'मार्तण्डकाली' कहा गया है:-

(क) मार्तण्डमापीतपतंगचक्रं पतंगवत्कालकलेन्धनाय।
करोति या विश्वरसान्तकां तां मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि।।

वही, 4.163 में 'श्रीक्रमस्तोत्र' से उद्धृत.

(ख) शब्दब्रह्मपदातीता षड्विंशान्तवान्तगा।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तण्डी मूर्तिरव्यया।।
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते।

वही, 4.163 में 'श्रीपञ्चशतिक' से उद्धृत.

61. शास्त्रों में इसी को 'परमार्ककाली' कहा गया है :-

(क) अस्तोदितद्वादशभानुभाजि यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम्।।

वही, 4.166 में 'श्रीक्रमस्तोत्र' से उद्धृत.

(ख) एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी।।
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण।।

वही, 4.167 में 'श्रीपञ्चशतिक' से उद्धृत.

62. वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला।
अघोषा सास्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता।।
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम्।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयामरवन्दित।। वही 4.168 में उद्धृत.

63. कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्रक्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां तां नौमि कालानलरुद्रकालीम्।।

वही, 4.168 में उद्धृत.

64. ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा।
कलाकलंकरहिता कालस्य कलनोद्यता।।
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता।। वही, 4.170 में उद्धृत.

65. नक्तं महाभूतलये श्मशाने दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम्।
कालीं महाकालमलंग्रसन्तीं वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम्।।
वही, 4.170 में उद्धृत.

66. दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा
संहरेद्भैरवान्सर्वान्विश्वं च सुरपूजित।।
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद्भरितभैरवी।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा।। वही, 4.172 में उद्धृत.

67. क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्रसंचारचातुर्यतुरीयसत्ताम्।
वन्दे महाभैरवघोरचण्डकालीं कलाकाशशशाङ्ककान्तिम्।। वही, 172 में उद्धृत.

68. यस्मिन्यस्मिंश्चक्रवरे तत्स्पर्शाह्लादनिर्वृतिः।

तदवष्टम्भयोगो यः स हि पूजाविधिः स्मृतः।। वही, 180 में उद्धृत.

69. (क) चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं, परमात्मनः।। ईप्रका 1.5.13

(ख) सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।। वही, 1.5 13-14.

70. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फुटिकादिजडोपमः।। वही, 1.5.

71. इस सम्बन्ध में ईप्रका तथा उसकी विमर्शिनी उल्लेखनीय हैः-

(क) वही, 1.5.14,

(ख) महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते। ईप्रवि, 1.5.14,

(ग) यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी परा। वही, 1.5.14,

(घ) हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनम्, तस्यापि प्रकाशात्मकत्वम्, तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो वित्तान्तस्य तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं यत्र तत्र अभिधीयते। वही, 1.5.14.

72. ईप्रवि, (1.1.1) में भी कहा गया है - 'ज्ञानपल्लवस्वभावैव हि क्रिया।'

73. सर्वसंहारसंहारसंहारमपि संहरेत्।
सा शक्तिर्देवदेवस्याभिन्नरूपा शिवात्मिका।। तन्त्रा, 4.190 में उद्धृत.

74. (क) कालानलाद्व्योमकलावसानं चिन्त्यं जगद्भासकलालयेन।
चक्रं महासंहृतिरूपमुग्रं गतं चिदाकाशपदस्थमित्थम्।। वही, 4.191 में उद्धृत.

(ख) अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत्।। वही, 4.193 में उद्धृत.

75. आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्। वही, 4.193 में उद्धृत.

76. (क) भुवनावलीं समस्तां तत्त्वक्रमकल्पनामधाक्षगणम्।
अन्तर्बोधे परिवर्तयति यत्सोऽस्य जप उदितः।। पसा, 78.

(ख) श्लोकगाथादि यत्किञ्चिदादिमान्त्ययुतं यतः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति।। वही, 4.194 में उद्धृत.

(ग) कथा जपः। शिवसूत्र, 3.27.

77. विस्तार के लिए द्रष्टव्यः सर्गसंहतिकर्तारं प्रलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं .....।। शिदृवृ, 1.8.

78. (क) ससेन्द्रियशिखाजालजटिले जातवेदसि।
बोधाख्ये भाववर्गस्य भस्मीभावोऽग्नितर्पणम्।। विवेक, 4.202 में उद्धृत.

(ख) बहिरन्तरपरिकल्पन - भेदमहाबीजनिचयमर्पयतः।
तस्यातिदीप्तसंविज्ज्वलने यत्नाद्विना भवति होमः।। पसा, 76.

79. (क) अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम्।
परात्रिंशिका विवृत्ति, (लक्ष्मीरामकृत), पृ. 2.

(ख) उत्तरं च शब्दनं सर्वथा ईदृशं तादृशम्इति व्यवच्छेदं कुर्यात् तद् यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नमिदमनुत्तरम्। वही, पृ. 21.

(ग) न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रति वाचो रूपं यत्र। वही, पृष्ठ 19.

80. यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः।। विवेक, 4.228 में उद्धृत.

81. ..... वेदबाह्ययस्तु यः कश्चिदागमो वञ्चनैव सा।। वही, 4.229 में उद्धृत.

82. वेद एवं आगम की प्रामाणिकता के विषय में द्रष्टव्य - भा, 1.1.1, पृ. 15.

83. विधिवाक्यमिदं तन्त्रं नार्थवादः कदाचन।
झगिति प्रत्यवायेषु सत्क्रियाणां फलेष्वपि।। विवेक, 4.232 में उद्धृत.

84. आप्तं तमेव भगवन्तमनादिमीश-
माश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः।
तेषामकर्तृकतया तु न कश्चिदेव
विस्रम्भमेति मतिमानिति वर्णितं प्राक्।। वही, 4.233 में उद्धृत.

85. जिस प्रकार जौहरी रत्नपरीक्षा द्वारा मोती के तत्त्व को समझ लेता है उसी प्रकार योगी अपनी प्रतिभा तथा उसकी सहायक युक्ति द्वारा अर्थतत्त्व को निश्चित कर लेता है।

86. तैत्तरीय उपनिषद् (1.11.2) में भी कहा गया है:-
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपस्यानि नेतराणि।

87. इस सम्बन्ध में विवेक में उद्धृत आगम-वाक्य भी उल्लेखनीय हैं जिसके अनुसार वैदिक संस्कार, वर्णाश्रमधर्म, देशधर्म इत्यादि में केवल व्यावहारिक निष्ठा ही

होनी चाहिये, शैव को हृदय से कौल और लोकाचार में वैदिक होना चाहिये:-

(क) ये तु वर्णाश्रमाचाराः प्रायश्चित्ताश्च लौकिकाः।
सम्बन्धान्देशधर्मांश्च प्रसिद्धान्न विचारयेत्।। वही, 4.251 में उद्धृत.

(ख) अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः।
सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा।। वही, 4.251 में उद्धृत.

88. पूर्वैर्निरोधः कथितो वैराग्याभ्यासयोगतः।
अस्माभिस्तु निरोधोऽयमयत्नेनोपदिश्यते।। वही 4.258 में उद्धृत.

89. नातः किञ्चिदपास्यं प्रक्षेप्तव्यं च नात्र किञ्चिदपि।
परिपूर्णे सत्यात्मनि किं नु क्षेत्रादिपर्यटनैः।। वही, 4.260 में उद्धृत.

90. त्र्यम्बकामर्दकाभिख्य श्रीनाथा अद्वये द्वये।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने।।
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात्।
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः।।
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात्।
शिष्यप्रशिष्यैर्विस्तीर्णाः शतशाखं व्यवस्थितैः।। तन्त्रा., 36. 12-14.

91. षण्णां साधिकाराणां राजपुत्राणां भिन्नभिन्नमाश्रमस्थानम्। विवेक, 4.267.

92. (क) दक्षांगुष्ठादिकनिष्ठिकान्तमथ सा कनीयसी वामात्।
द्विदशान्तोर्ध्वगकुण्डलिबैन्दवह्नाभिकन्दमिति छुम्माः।। तन्त्रा, 29.37,

(ख) छुम्मकाः संप्रवक्ष्यामि कुलाम्नाये यथा स्थिताः।
अतीतं प्रथमस्यापि द्वितीयस्य तु कुण्डली।।
भ्रूमध्ये वै तृतीयस्य संघट्टश्च चतुर्थके।
नाभिस्तु पञ्चमस्यैव जन्माधारस्तु षष्ठके।। विवेक, 29.39 में उद्धृत.

93. समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च।
समता सर्वदेवीनां वर्णानां चैव सर्वशः।। वही, 4.274 में उद्धृत.

■

पञ्चम परिच्छेद

(अ) पञ्चम आह्निक का मूलपाठ

आणवेन विधिना परधाम प्रेप्सतामथ निरूप्यत एतत्।।1।।
विकल्पस्यैव संस्कारे जाते निष्प्रतियोगिनि।
अभीष्टे वस्तुनि प्राप्तिर्निश्चिता भोगमोक्षयोः।।2।।
विकल्पः कस्यचित्स्वात्मस्वातन्त्र्यादेव सुस्थिरः।
उपायान्तरसापेक्ष्यवियोगेनैव जायते।।3।।
कस्यचित्तु विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति।
उपायान्तरसापेक्षस्तत्रोक्तः पूर्वको विधिः।।4।।
विकल्पो नाम चिन्मात्रस्वभावो यद्यपि स्थितः।
तथापि निश्चयात्मासावणोः स्वातन्त्र्ययोजकः।।5।।
निश्चयो बहुधा चैष तत्रोपायाश्च भेदिनः।
अणुशब्देन ते चोक्ता दूरान्तिकविभेदतः।।6।।
तला बुद्धौ तथा प्राणे देहे चापि प्रमातरि।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते।।7।।
यतः प्रकाशाच्चिन्मात्रात् प्राणाद्यव्यतिरेकवत्।
तस्यैव तु स्वतन्त्रत्वाद्द्विगुणं जडचिद्वपुः।।8।।
उक्तं त्रैशिरसे चैतद्देव्यै चन्द्रार्धमौलिना।
जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रैव स्थितापि सा।।9।।
स्वरूपप्रत्यये रूढा ज्ञानस्योन्मीलनात्परा।
तस्य चिद्रूपतां सत्यां स्वातन्त्र्योल्लासकल्पनात्।।10।।
पश्यञ्जडात्मताभागं तिरोधायाद्वयो भवेत्।
तत्र स्वातन्त्र्यदृष्ट्या वा दर्पणे मुखबिम्बवत्।।11।।

विशुद्धं निजचैतन्यं निश्चिनोत्यतदात्मकम्।
बुद्धिप्राणादितो भिन्नं चैतन्यं निश्चितं बलात्।।12।।
सत्यतस्तदभिन्नं स्यात्तस्यान्योन्यविभेदतः।
विश्वरूपाविभेदित्वं शुद्धत्वादेव जायते।।13।।
निष्ठितैकस्फुरन्मूर्तेर्मूर्त्यन्तरविरोधतः।
अन्तः संविदि सत्सर्वं यद्यप्यपरथा धियि।।14।।
प्राणे देहेऽथवा कस्मात्संक्रामेत्केन वा कथम्।
तथापि निर्विकल्पेऽस्मिन्विकल्पो नास्ति तं विना।।15।।
दृष्टेऽप्यदृष्टकल्पत्वं विकल्पेन तु निश्चयः।
बुद्धिप्राणशरीरेषु पारमेश्वर्यमञ्जसा।।16।।
विकल्प्यं शून्यरूपे न प्रमातरि विकल्पनम्।
बुद्धिर्ध्यानमयी तत्र प्राण उच्चारणात्मकः।।17।।
उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पञ्चवृत्तयः।
आद्या तु प्राणनाभिख्यापरोच्चारात्मिका भवेत्।।18।।
शरीरस्याक्षविषयैतत्पिण्डत्वेन संस्थितिः।
तत्र ध्यानमयं तावदनुत्तरमिहोच्यते।।19।।
यः प्रकाशः स्वतन्त्रोऽयं चित्स्वभावो हृदि स्थितः।
सर्वतत्त्वमयः प्रोक्तमेतच्च त्रिशिरोमते।।20।।
कदलीसंपुटाकारं सबाह्याभ्यन्तरान्तरम्।
ईक्षते हृदयान्तःस्थं तत्पुष्पमिवं तत्त्ववित्।।21।।
सोमसूर्याग्निसंघट्टं तत्र ध्यायेदनन्यधीः।
तद्ध्यानारणिसंक्षोभान्महाभैरवहव्यभुक्।।22।।
हृदयाख्ये महाकुण्डे जाज्वलन् स्फीततां व्रजेत्।
तस्य शक्तिमतः स्फीतशक्तेर्भैरवतेजसः।।23।।
मातृमानप्रमेयाख्यं धामाभेदेन भावयेत्।
वह्न्यर्कसोमशक्तीनां तदेव त्रितयं भवेत्।।24।।
परा परापरा चेयमपरा च सदोदिता।
सृष्टिसंस्थितिसंहारैस्तासां प्रत्येकतस्त्रिधा।।25।।
चतुर्थं चानवच्छिन्नं रूपमासामकल्पितम्।
एवं द्वादश ता देव्यः सूर्यबिम्बवदास्थिताः।।26।।

एकैकमासां वह्न्यर्कसोमतच्छान्तिभासनम्।
एतदानुत्तरं चक्रं हृदयाच्चक्षुरादिभिः।।27।।
व्योमभिर्निःसरत्येव तत्तद्विषयगोचरे।
तच्चक्रभाभिस्तत्रार्थे सृष्टिस्थितिलयक्रमात्।।28।।
सोमसूर्याग्निभासात्म रूपं समवतिष्ठते।
एवं शब्दादिविषये श्रोत्रादिव्योमवर्त्मना।।29।।
चक्रेणानेन पतता तादात्म्यं परिभावयेत्।
अनेन क्रमयोगेन यत्र यत्र पतत्यदः।।30।।
चक्रं सर्वात्मकं तत्तत्सार्वभौममहीशवत्।
इत्थं विश्वाध्वपटलमयत्नेनैव लीयते।।31।।
भैरवीयमहाचक्रे संवित्तिपरिवारिते।
ततः संस्कारमात्रेण विश्वस्यापि परिक्षये।।32।।
स्वात्मोच्छलत्तया भ्राम्यच्चक्रं संचिन्तयेन्महत्।
ततस्तद्वह्न्यविलयात् तत्संस्कारपरिक्षयात्।।33।।
प्रशाम्यद्भावयेच्चक्रं ततः शान्तं ततः शमम्।
अनेन ध्यानयोगेन विश्वं चक्रे विलीयते।।34।।
तत्संविदि ततः संविद्विलीनार्थैव भासते।
चित्स्वाभाव्यात् ततो भूयः सृष्टिर्यच्चिन्महेश्वरी।।35।।
एवं प्रतिक्षणं विश्वं स्वसंविदि विलापयन्।
विसृजंश्च ततो भूयः शश्वद्भैरवतां व्रजेत्।।36।।
एवं त्रिशूलात् प्रभृति चतुष्पञ्चारकक्रमात्।
पञ्चाशदरपर्यन्तं चक्रं योगी विभावयेत्।।37।।
चतुष्षष्टिशतारं वा सहस्रारमथापि वा।
असंख्यारसहस्रं वा चक्रं ध्यायेदनन्यधीः।।38।।
संवित्राथस्य महतो देवस्योल्लासिसंविदः।
नैवास्ति काचित्कलना विश्वशक्तेर्महेशितुः।।39।।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।
इति माङ्गलशास्त्रे तु श्रीश्रीकण्ठो न्यरूपयत्।।40।।
इत्येतत् प्रथमोपायरूपं ध्यानं न्यरूपयत्।
श्रीशम्भुनाथो मे तुष्टस्तस्मै श्रीसुमतिप्रभुः।।41।।

अनयैव दिशान्यानि ध्यानान्यपि समाश्रयेत्।
अनुत्तरोपायधुरां यान्यायान्ति क्रमं विना।।42।।
अथ प्राणस्य या वृत्तिः प्राणनाद्या निरूपिता।
तदुपायतया ब्रूमोऽनुत्तरप्रविकासनम्।।43।।
निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरा स्थितः।
शून्यतामात्रविश्रान्तेर्निरानन्दं विभावयेत्।।44।।
प्राणोदये प्रमेये तु परानन्दं विभावयेत्।
तत्रानन्तप्रमेयांशपूरणापाननिर्वृतः।।45।।
परानन्दगतस्तिष्ठेदपानशशिशोभितः।
ततोऽनन्तस्फुरन्मेयसंघट्टैकान्तनिर्वृतः।।46।।
समानभूमिमागत्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत्।
ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः।।47।।
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावयत्।
तत्र विश्रान्तिमभ्येत्य शाम्यत्यस्मिन्महार्चिषि।।48।।
निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः।।49।।
नह्यत्रा संस्थितिः कापि विभक्ता जडरूपिणः।
यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत्।।50।।
यदनाहतसंवित्ति परमामृतबृंहितम्।
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः।।51।।
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरूचिवान्।
तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः।।52।।
या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः सानुत्तरमयी स्थितिः।
इत्येतद्धृदयाद्येकस्वभावेऽपि स्वधामनि।।53।।
षट्प्राणोच्चारजं रूपमथ व्याप्त्या तदुच्यते।
प्राणदण्डप्रयोगेन पूर्वापरसमीकृतेः।।54।।
चतुष्किकाम्बुजालम्बिलम्बिकासौधमाश्रयेत्।
त्रिशूलभूमिं क्रान्त्वातो नाडित्रितयसङ्गताम्।।55।।
इच्छाज्ञनक्रियाशक्तिसमत्वे प्रविशेत् सुधीः।
एकां विकासिनीं भूयस्त्वसंकोचां विकस्वराम्।।56।।

श्रयेद्भ्रूबिन्दुनादान्तशक्तिसोपानमालिकाम्।
तत्रोर्ध्वकुण्डलीभूमौ स्पन्दनोदरसुन्दरः।।57।।
विसर्गस्तत्र विश्राम्येन्मत्स्योदरदशाजुषि।
रासभी वडवा यद्वत्स्वधामानन्दमन्दिरम्।।58।।
विकाससंकोचमयं प्रविश्य हृदि हृष्यति।
तद्वन्मुहुर्लीनसृष्टभावव्रातसुनिर्भराम्।।59।।
श्रयेद्विकाससंकोचरूढभैरवयामलाम्।
एकीकृतमहामूलशूलवैसर्गिके हृदि।।60।।
परस्मिन्नेति विश्रान्तिं सर्वापूरणयोगतः।
अत्र तत्पूर्णवत्त्यैव विश्वावेशमयं स्थितम्।।61।।
प्रकाशस्यात्मविश्रान्तावहमित्येव दृश्यताम्।
अनुत्तरविमर्शे प्राग्व्यापारादिविवर्जिते।।62।।
चिद्विमर्शपराहंकृत् प्रथमोल्लासिनी स्फुरेत्।
तत उद्योगसक्तेन स द्वादशकलात्मना।।63।।
सूर्येणाभासयेद्भावं पूरयेदथ चर्चयेत्।
अथेन्दुः षोडशकलो विसर्गग्रासमन्थरः।।64।।
संजीवन्यमृतं बोधवह्नौ विसृजति स्फुरन्।
इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसूक्ष्मरन्ध्रस्रुगग्रगम्।।65।।
तदेवम(-तद-)मृतं दिव्यं संविद्देवीषु तर्पकम्।
विसर्गामृतमेतावद् बोधाख्ये हुतभोजिनि।।66।।
विसृष्टं चेद्भवेत्सर्वं हुतं षोढाध्वमण्डलम्।
यतोऽनुत्तरनाथस्य विसर्गः कुलनायिका।
तत्क्षोभः कादिहान्तं तत्प्रसरस्तत्त्वपद्धतिः।।67।।
अंअ इति कुलेश्वर्या सहितो हि कुलेशिता।
परो विसर्गविश्लेषस्तन्मयं विश्वमुच्यते।।68।।
वित्प्राणगुणदेहान्तर्बहिर्द्रव्यमयीमिमाम्।
अर्चयेज्जुहुयाद्ध्यायेदित्थं संजीवनीं कलाम्।।69।।
आनन्दनाडीयुगलस्पन्दनावहितौ स्थितः।
एनां विसर्गनिःष्यन्दसौधभूमिं प्रपद्यते।।70।।
शाक्ते क्षोभे कुलावेशे सर्वनाड्यग्रगोचरे।
व्याप्तौ सर्वात्मसंकोचे हृदयं प्रविशेत्सुधीः।।71।।

सोमसूर्यकलाजालपरस्परनिघर्षतः।
अग्नीषोमात्मके धाम्नि विसर्गानन्द उन्मिषेत्।।72।।
अलं रहस्यकथया गुप्तमेतत्स्वभावतः।
योगिनीहृदयं तत्र विश्रान्तः स्यात्कृती बुधः।।73।।
हानादानतिरस्कारवृत्तौ रूढिमुपागतः।
अभेदवृत्तितः पश्येद्विश्वं चितिचमत्कृतेः।।74।।
अर्थक्रियार्थितादैन्यं त्यक्त्वा बाह्यान्तरात्मनि।
स्वरूपे निर्वृतिं प्राप्य फुल्लां नाददशां श्रयेत्।।75।।
वक्रमन्तस्तया सम्यक् संविदः प्रविकासयेत्।
संविदक्षमरुच्चक्रं ज्ञेयाभिन्नं ततो भवेत्।।76।।
तज्ज्ञेयं संविदाख्येन वह्निना प्रतिलीयते।
विलीनं तत् त्रिकोणेऽस्मिञ्शक्तिवह्नौ विलीयते।।77।।
तत्र संवेदनोदारबिन्दुसत्तासुनिर्वृतः।
संहारबीजविश्रान्तो योगी परमयो भवेत्।।78।।
अन्तर्बाह्ये द्वये वापि सामान्येतरसुन्दरः।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा संकोचप्रविकासवान्।।79।।
असंकोचविकासोऽपि तदाभासनतस्तथा।
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते।।80।।
ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति।
विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः।।81।।
तत्र विश्रान्तिमागच्छेद्यद्वीर्यं मन्त्रमण्डले।
शान्त्यादिसिद्धयस्तत्तद्रूपतादात्म्यतो यतः।।82।।
दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं बोधस्वातन्त्र्यसंज्ञकः।
सोऽनिमीलित एवैतत् कुर्यात्स्वात्ममयं जगत्।।83।।
महासाहससंयोगविलीनाखिलवृत्तिकः।
पुञ्जीभूते स्वरश्म्योघे निर्भरीभूय तिष्ठति।।84।।
अकिंचिच्चिन्तकस्तत्र स्पष्टदृग्याति संविदम्।
यद्विस्फुलिङ्गाः संसारभस्मदाहैकहेतवः।।85।।
तदुक्तं परमेशेन त्रिशिरोभैरवागमे।
श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि मन्त्रभूम्यां प्रवेशनम्।।86।।

मध्यनाड्योर्ध्वगमनं तद्धर्मप्राप्तिलक्षणम्।
विसर्गान्तपदातीतं प्रान्तकोटिनिरूपितम्।।87।।
अधःप्रवाहसंरोधादूर्ध्वक्षेपविवर्जनात्।
महाप्रकाशमुदयज्ञानव्यक्तिप्रदायकम्।।88।।
अनुभूय परे धाम्नि मात्रा वृत्त्या पुरं विशेत्।
निस्तरङ्गावतीर्णा सा वृत्तिरेका शिवात्मिका।।89।।
चतुष्षड्द्विद्विगुणितचक्रषट्कसमुज्ज्वला।।
तत्स्थं (त्स्थो) विचारयेत् खं खं खस्थं खस्थेन संविशेत्।।90।।
खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य खस्थं खं चोच्चरेदिति।
खमध्यास्याधिकारेण पदस्थाश्चिन्मरीचयः।।91।।
भावयेद्भावमन्तःस्थं भावस्थो भावनिःस्पृहः।
भावाभावगती रुद्ध्वा भावाभावावरोधदृक्।।92।।
आत्माणुकुलमूलानि शक्तिर्भूतिश्चिती रतिः।
शक्तित्रयं द्रष्टदृश्योपरक्तं तद्विवर्जितम्।।93।।
एतत्खं दशधा प्रोक्तमुच्चारोच्चारलक्षणम्।
धामस्थं धाममध्यस्थं धामोदरपुटीकृतम्।।94।।
धाम्ना तु बोधयेद्धाम धाम धामान्तगं कुरु।
तद्धाम धामगत्या तु भेद्यं धामान्तमान्तरम्।।95।।
भेदोपभेदभेदेन भेदः कार्यस्तु मध्यतः।
इति प्रवेशोपायोऽयमाणवः परिकीर्तितः।।96।।
श्रीमहेश्वरनाथेन या हृत्स्थेन ममोदितः।
श्रीब्रह्मयामले चोक्तं श्रीमान् रावो दशात्मकः।।97।।
स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः कण्ठ्यस्तालव्य एव च।
सर्वतश्च विभुर्योऽसौ विभुत्वपददायकः।।98।।
जितरावो महोयोगी संक्रामेत्परदेहगः।
परां च विन्दति व्याप्तिं प्रत्यहं ह्यभ्यसेत तम्।।99।।
तावद्यावदरावे सा रावाल्लीयेत राविणी।
अत्र भावनया देहगतोपायैः परे पथि।।100।।
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शात्प्रागानन्दः प्रजायते।
ततोऽपि विद्युदापातसदृशे देहवर्जिते।।101।।

धाम्नि क्षणं समावेशादुद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः।
जलपांसुवदभ्यस्तसंविद्देहैक्यहानितः।।102।।
स्वबलाक्रमणाद्देहशैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात्।
गलिते देहतादात्म्यनिश्चयेऽन्तर्मुखत्वतः।।103।।
निद्रायते पुरा यावन्न रूढः संविदात्मनि।
ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम्।।104।।
संविदन् घूर्णते घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता।
आत्मन्यनात्माभिमतौ सत्यामेव ह्यनात्मनि।।105।।
आत्माभिमानो देहादौ बन्धो मुक्तिस्तु तल्लयः।
आदावनात्मन्यात्मत्वे लीने लब्धे निजात्मनि।।106।।
आत्मन्यनात्मतानाशे महाव्याप्तिः प्रवर्तते।
आनन्द उद्भवः कम्पो निन्द्रा घूर्णिश्च पञ्चकम्।।107।।
इत्युक्तमत एव श्रीमालिनीविजयोत्तरे।
प्रदर्शितेऽस्मिन्नानन्दप्रभृतौ पञ्चके यदा।।108।।
योगी विशेत्तदा तत्तच्चक्रेशत्वं हठाद्व्रजेत्।
यथा सर्वेशिना बोधेनाक्रान्तापि तनुः क्वचित्।।109।।
किंचित्कर्तुं प्रभवति चक्षुषा रूपसंविदम्।
तथैव चक्रे कुत्रापि प्रवेशात्कोऽपि संभवेत्।।110।।
आनन्दचक्रं वह्यश्रि कन्द उद्भव उच्यते।
कम्पो हृत्तालु निद्रा च घूर्णिः स्यादूर्ध्वकुण्डली।।111।।
एतच्य स्फुटमेवोक्तं श्रीमन्त्रैशिरसे मते।
एवं प्रदर्शितोच्चारविश्रान्तिहृदयं परम्।।112।।
यत्तदव्यक्तलिङ्गं नृशिवशक्त्यविभागवत्।
अत्र विश्वमिदं लीनमत्रान्तःस्थं च गम्यते।।113।।
इदं तल्लक्षणं पूर्णशक्तिभैरवसंविदः।
देहगाध्वसमुन्मेषे समावेशस्तु यः स्फुटः।।114।।
अहन्ताच्छादितोन्मेषिभावेदंभावयुक् स च।
व्यक्ताव्यक्तमिदं लिङ्गं मन्त्रवीर्यं परापरम्।।115।।
नरशक्तिसमुन्मेषि शिवरूपाद्विभेदितम्।
यन्त्यक्कृतशिवाहन्तासमावेशं विभेदवत्।।116।।

विशेषस्पन्दरूपं तद् व्यक्तं लिङ्गं चिदात्मकम्।
व्यक्तात्सिद्धिप्रसवो व्यक्ताव्यक्ताद्द्वयं विमोक्षश्च।
अव्यक्ताद्बलमाद्यं परस्य नानुत्तरे त्वियं चर्चा।।117।।
आत्माख्यं यद्व्यक्तं नरलिङ्गं तत्र विश्वमर्पयतः।
व्यक्ताव्यक्तं तस्माद्गलिते तस्मिंस्तदव्यक्तम्।।118।।
तेनात्मलिङ्गमेतत् परमे शिवशक्त्यणुस्वभावमये।
अव्यक्ते विश्राम्यति नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा।।119।।
एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रैधं भेदव्यवस्थितिः।
अत्र लिङ्गे सदा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्तितत्परः।।120।।
योगिनीहृदयं लिङ्गमिदमानन्दसुन्दरम्।
बीजयोनिसमापत्त्या सूते कामपि संविदम्।।121।।
अत्र प्रयासविरहात्सर्वोऽसौ देवतागणः।
आनन्दपूर्णे धाम्न्यास्ते नित्योदितचिदात्मकः।।122।।
अत्र भैरवनाथस्य ससंकोचविकासिका।
भासते दुर्घटा शक्तिरसंकोचविकासिनः।।123।।
एतल्लिङ्गसमापत्तिविसर्गानन्दधारया।
सिक्तं तदेव सद्विश्वं शश्वन्नवनवायते।।124।।
अनुत्तरेऽभ्युपायोऽत्र ताद्रूप्यादेव वर्णितः।
ज्वलितेष्वपि दीपेषु घर्मांशुः कि न भासते।।125।।
अर्थेषु तद्भोगविधौ तदुत्थे
दुःखे सुखे वा गलिताभिशङ्कम्।
अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः।।126।।
सत्येवात्मनि चित्स्वभावमहसि स्वान्ते तथोपक्रियां
तस्मै कुर्वंति तत्प्रचारविवशे सत्यक्षवर्गेऽपि च।
सत्स्वर्थेषु सुखादिषु स्फुटतरं यद्भेदवन्ध्योदयं
योगी तिष्ठति पूर्णरश्मिविभवस्तत्तत्त्वमाचीयताम्।।127।।
इत्युच्चारविधिः प्रोक्तः करणं प्रविविच्यते।
तच्चेत्थं त्रिशिरःशास्त्रे परमेशेन भाषितम्।।128।।
ग्राह्यग्राहकचिद्द्वयात्सित्यागाक्षेपनिविशनैः।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम्।।129।।

तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता।
गुरुवक्त्राच्च बोद्धव्यं करणं यद्यपि स्फुटम्।।130।।
तथाप्यागमरक्षार्थं तदग्रे वर्णयिष्यते।
उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः।।131।।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते।
सृष्टिसंहारबीजं च तस्य मुख्यं वपुर्विदुः।।132।।
तदभ्यासवशाद्याति क्रमाद्योगी चिदात्मताम्।
तथा ह्यनच्के साच्के वा कादौ सान्ते पुनः पुनः।।133।।
स्मृते प्रोच्चारिते वापि सा सा संवित्प्रसूयते।
बाह्यार्थसमयापेक्षा घटाद्या ध्वनयोऽपि ये।।134।।
तेऽप्यर्थभावनां कुर्युर्मनोराज्यवदात्मनि।
तदुक्तं परमेशेन भैरवो व्यापकोऽखिले।।135।।
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः।
श्रीमत्त्रैशिरसेऽप्युक्तं मन्त्रोद्धारस्य पूर्वतः।।136।।
स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं सर्वभावेषु वस्तुतः।
मन्त्रस्वरूपं तद्भाव्यस्वरूपापत्तियोजकम्।।137।।
स्मृतिः स्वरूपजनिका सर्वभावेषु रञ्जिका।
अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थितेन तु।।138।।
स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः संवित्तिः परमार्थतः।
व्यक्तिनिष्ठा ततो विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा।।139।।
किं पुनः समयापेक्षां विना ये बीजपिण्डकाः।
संविदं स्पन्दयन्त्येते नेयुः संविदुपायताम्।।140।।
वाच्याभावादुदासीनसंवित्स्पन्दात्स्वधामतः।
प्राणोल्लासनिरोधाभ्यां बीजपिण्डेषु पूर्णता।।141।।
सुखसीत्कारसत्सम्यक्साम्यप्रथमसंविदः।
संवेदनं हि प्रथमं स्पर्शोऽनुत्तरसंविदः।।142।।
हृत्कण्ठ्योष्ठ्यत्रिधामान्तर्नितरां प्रविकासिनि।
चतुर्दशः प्रवेशो य एकीकृततदात्मकः।।143।।
ततो विसर्गोच्चारांशे द्वादशान्तपथावुभौ।
हृदयेन सहैकध्यं नयते जपतत्परः।।144।।

कन्दहृत्कण्ठताल्वग्रकौण्डिलीप्रक्रियान्ततः।
आनन्दमध्यनाड्यन्तः स्पन्दनं बीजमावहेत्।।145।।
संहारबीजं खं हृत्स्थमोष्ठ्यं फुल्लं स्वमूर्धनि।
तेजस्त्र्यश्रं तालुकण्ठे बिन्दुरूर्ध्वपदे स्थितः।।146।।
इत्येनया बुधो युक्त्या वर्णजप्यपरायणः।
अनुत्तरं परं धाम प्रविशेदचिरात् सुधीः।।147।।
वर्णशब्देन नीलादि यद्वा दीक्षोत्तरे यथा।
संहारन्नग्निमरुतो रुद्रबिन्दुयुतान्स्मरेत्।।148।।
हृदये तन्मयो लक्ष्यं पश्येत्सप्तदिनादथ।
विस्फुलिङ्गाग्निवन्नीलपीतरक्तादिचित्रितम्।।149।।
जाज्वलीति हृदम्भोजे बीजदीपप्रबोधितम्।
दीपवज्ज्वलितो बिन्दुर्भासते विघनार्कवत्।।150।।
स्वयंभासात्मनानेन तादात्म्यं यात्यनन्यधीः।
शिवेन हेमतां यद्वत्ताम्रं सूतेन वेधितम्।।151।।
उपलक्षणमेतच्च सर्वमन्त्रेषु लक्षयेत्।
यद्यत्संकल्पसंभूतं वर्णजालं हि भौतिकम्।।152।।
तत् संविदाधिक्यवशादभौतिकमिव स्थितम्।
अतस्तथाविधे रूपे रूढ्ये रोहति संविदि।।153।।
अनाच्छादितरूपायामनुपाधौ प्रसन्नधीः।
नीले पीते सुखे दुःखे संविद्रूपमखण्डितम्।।154।।
गुरुभिर्भाषितं तस्मादुपायेषु विचित्रता।
उच्चारकरणध्यानवर्णैरेभिः प्रदर्शितः।।155।।
अनुत्तरपदप्राप्तावभ्युपायविधिक्रमः।
अकिंचिच्चिन्तनं वीर्यं भावनायां च सा पुनः।।156।।
ध्याने तदपि चोच्चारे करणे सोऽपि तद्धनौ।
स स्थानकल्पने बाह्यमिति क्रममुपाश्रयेत्।।157।।
लङ्घनेन परो योगी मन्दबुद्धिः क्रमेण तु।
वीर्यं विना यथा षण्ठस्तस्याप्यस्त्यथ वा बलम्।
मृतदेह इवेयं स्याद्बाह्यान्तः परिकल्पना।158।।

इत्याणवेऽनुत्तरताभ्युपायः प्रोक्तो नयः स्पष्टपथेन बाह्यः।

(आ) पञ्चम आह्निक की कारिकानुसार विषयसूची

विषय	कारिका संख्या
आणवोपाय के प्रतिपादन का निर्देश	1
शाक्तोपाय में प्रतिपादित विकल्प-संस्कार से भोग एवं मोक्ष में से अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है तो फिर आणवोपाय बताने की क्या आवश्यकता है ?	2
विकल्प-संस्कार द्विविधः उपायान्तरनिरपेक्ष तथा उपायान्तरसापेक्ष, इनमें से पहले का प्रतिपादन शाक्तोपाय के अन्तर्गत किया जा चुका है	3-4
यद्यपि विकल्प तत्त्वतः चिदात्मा है तथापि अन्यापोह के द्वारा निश्चय करने के कारण वह क्षेत्रज्ञ के स्वातन्त्र्य का निष्पादक है (अतः भेदनिवृत्ति के लिये स्वात्म-संस्कार की आवश्यकता)	5
निश्चय की विविधता के कारण विभिन्न उपाय, जिनमें से कुछ संवित् से सन्निकृष्ट (जैसे कि प्राणोच्चार) तथा कुछ विप्रकृष्ट होते हैं (जैसे कि बुद्धिगत ध्यानादि)	6
अपारमार्थिकबुद्धि-प्राण-देह-प्रमाता में परमार्थ का प्रकाशन	7
प्रकाश की स्वतन्त्रता से प्राणादि की चिदचिद्रूपता	8
प्राण आदि की जड़ता एवं चेतनता	8
इसके समर्थन में 'त्रैशिरस' का उद्धरणः संर्वत्र व्यापक होने पर भी शिव की पराशक्ति विकल्प के द्वारा संकुचित होकर जीव (प्राणादि प्रमाता) बन जाती है	9-10
चिद्रूपता के साक्षात्कार से जड़ता को तिरोहित कर अद्वय स्थापित होता है	10-11
अथवा अपने स्वातन्त्र्य से दर्पण से भिन्न मुखबिम्ब की भाँति प्राणादि से भिन्न अपने शुद्धचैतन्य का निश्चय होता है	11-12
वस्तुतः चैतन्य बुद्धि-प्राणादि से अभिन्न है, यद्यपि बुद्ध्यादि परस्पर भिन्न हैं	12-13
एक होकर भी अनेक आकारों को धारण करने के सामर्थ्य के कारण चैतन्य शुद्ध है, इसीलिये वह विश्वरूप से अभिन्न है	13-14
यद्यपि विश्व अन्तःस्थित भासित होता है तथापि बुद्ध्यादि-प्रमाता को उसके अभेद का भान नहीं हो पाता है क्योंकि विकल्प भेदपूर्वक निश्चय है	14-16
बुद्धि-प्राण-देह-प्रमाता में ज्ञातृत्व-कर्तृत्व का विकल्प सम्भव है पर शून्यप्रमाता में नहीं	16-17
बुद्धि ध्यानात्मिका एवं पञ्चवृत्यात्मक प्राण उच्चारण (उच्चार) है	17-18

जीव नामक सामान्य प्राण नहीं, अपितु पञ्चवृत्त्यात्मक प्राण ही उच्चार है 18
इन्द्रिय-विषय-प्राणादि के पिण्डभूत देहप्रमाता का स्वरूप 19 (अ)
अनुत्तर ध्यानमय है 19 (ब)
उसकी सर्वतत्त्वमयता के सम्बन्ध में 'त्रिशिरोमत' का प्रमाण 20
'पुष्प' के रूप में साक्षात्कार के लिये 'त्रिशिरोमत' का उद्धरण 21
आत्मा का हृदय में साक्षात्कार का कारणः महाभैरवाग्नि हृदयकुण्ड में प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूप सोमसूर्याग्नि-ध्यान की सामरस्यात्क अरणि से अत्यन्त प्रदीप्त रहती है 22-24
परा, परापरा, अपरा, शक्तियों में से प्रत्येक सृष्टि, स्थिति, संहार के कारण त्रिविध है 25
चतुर्थ रूप निरुपाधि, निर्विकल्प है इस प्रकार सूर्य-बिम्ब की भाँति द्वादश देवियाँ हैं 26-27
यह द्वादशदेव्यात्मक अनुत्तर चक्र हृदय से चलकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों तक निरन्तर चलता रहता है 27-28
इन्द्रियवृत्ति से विषय की सृष्टि-स्थिति-लय के द्वारा सोमादि (-प्रमातृ) रूप की अभिव्यक्ति 28-29
इन्द्रिय-चक्र द्वारा विषय के साक्षात्कार से तादात्म्य की भावना तथा सर्वात्मकता का अनुभव 29-31
इस प्रकार विषय के साथ इन्द्रियचक्र का भैरवीय महाचक्र में लय तथा विश्वसंस्कार के विलीन होने पर इन्द्रिय-चक्र के स्वतः भ्रमण की भावना 31-33
बाह्य विषय एवं उसके संस्कार के विलीन होने से इन्द्रिय-चक्र की क्रमशः प्रशाम्यत्, शान्त तथा शम अवस्थाएँ 33-34
अस्तु, ध्यानयोग से विश्व का इन्द्रियचक्र में तथा इन्द्रियचक्र का संवित् में विलय एवं पुनः उसके द्वारा सृष्टि का स्वभाव 34-35
आत्मसंवित् में विश्व के निरन्तर प्रलयोदय के चिन्तन द्वारा भैरवस्वरूप की प्राप्ति 36
त्रिशूल से प्रारम्भकर, चतुष्पञ्चरक, पञ्चशदर, चतुष्षष्टिशतार, सहस्रार, असंख्यार सहस्रचक्र के क्रमशः चिन्तन का उपदेश 37-38
अनन्तशक्ति महेश्वर के असंख्यारत्व का कारण 39
'मांगलशास्त्र' में श्रीश्रीकण्ठ ने कहा है कि समग्र जगत् शक्तियाँ हैं तथा शक्तिमान् केवल महेश्वर है 40
ध्यानरूप प्रथम उपाय का 'सुमतिप्रभु' ने 'श्रीशम्भुनाथ' को तथा उन्होंने अभिनवगुप्त को उपदेश दिया था 41
अनुत्तर प्राप्ति के उपायभूत (अन्य शास्त्रों में वर्णित) ध्यानों को करने का उपदेश 42
ध्यानयोग के अनन्तर प्राणोच्चाररूप उपाय का निर्देश 43

शून्यता में विश्रान्ति द्वारा प्रमातृगत 'निरानन्द' दशा की भावना 44
तदनन्तर प्रमेयकृत 'परानन्द' दशा की भावना 45
तदनन्तर विभिन्न प्रमेयों के सामरस्य द्वारा समत्वभूमि में स्थित होकर 'ब्रह्मानन्द' की भावना 46-47
तदनन्तर प्रमाण-प्रमेय (सूर्यसोम अथवा प्राणापान) के भेदों को प्रक्षीण कर उदान वह्नि में विश्रान्त होकर 'महानन्द' की भावना द्वारा शान्ति की प्राप्ति 47-48
निरुपाधिक एवं महाव्याप्तिरूप व्यानाख्या शान्ति से शुद्ध 'चिदानन्द' की उपलब्धि 49
इस अवस्था में जडांश विभक्त नहीं होता और न इसके अतिरिक्त किसी की सत्ता होती है 50
विश्वात्मिका संवित् के स्वातन्त्र्य से युक्त होने पर 'जगदानन्द' दशा की प्राप्ति जिसमें प्राणोच्चार आदि वस्तुतः उपाय नहीं माने जा सकते, 'हृदयोच्चार' के द्वारा इसमें विश्रान्ति का उपदेश 51-52
'जगदानन्द' में विश्रान्ति ही अनुत्तरदशा है, हृदयादि में एक रूप में स्थित संवित् का छह प्रकार के प्राणोच्चार से सम्पादित निरानन्दादि षड्विध रूप का वर्णन समाप्त कर मन्त्रव्याप्ति के द्वारा स्वरूप-वर्णन 53-54
प्राणापान का समीकरण कर ब्रह्मरन्ध्र के अधोवर्ती 'चिन्तामणि' नामक आधार तथा 'विद्याकमल' नामक भूमध्यवर्ती आधार के सहारे 'सौध' (सुधा के आधार अथवा सकार) में विश्रान्त रहे 54-55
तदनन्तर ब्रह्मरन्ध्र की ऊर्ध्ववर्तिनी 'नाड्याधार' नामक त्रिशूल-भूमि को पार कर इच्छाज्ञानक्रियाशक्ति के साम्यरूप 'विसर्ग' नामक भैरवीयरूप में समाविष्ट हो 55-56
भैरवसमावेश के लिये भूपृष्ठ से प्रारम्भ कर बिन्दु, नाद, नादान्त-शक्तिरूप सीढी का सहारा ले 56-57
इस प्रकार ऊर्ध्वकुण्डली भूमि में पहुँच कर स्पन्दशील 'विसर्ग' (परम परमेश्वर) में विश्राम करे 57-58
सृष्टि-संहारशील भैरवभैरवीयुग्म में प्रवेश से आनन्द की प्राप्ति जैसे कि रासभी अथवा वड्वा को संकोचविकासशील योनि से होती है 58-60
अस्तु, माया एवं सकार, शूल-इच्छादित्रय एवं ओंकार, विसर्ग अर्थात् ऊर्ध्वकुण्डलिनी स्थान एवं बिन्दुद्वय को एक करने वाले परम हृदय में विश्रान्ति 60-61
ऊर्ध्वकुण्डलिनी भूमि में प्रकाश की अहंपरामर्श में विश्रान्ति द्वारा शुद्ध अहं की अनुभूति 61-62
निरुपाधिक अनुत्तर विमर्श में चिन्मय अहंपरामर्श का प्रथमोदय 62-63
तदनन्तर द्वादशकलात्मक प्रमाणरूप सूर्य से पदार्थ का अवभासन, आलोचन (पूरण) तथा संहरण (निश्चयात्मक ज्ञान) 63-64
इसके बाद अकारादि तथा बुद्धीन्द्रियरूप षोडश कलाओं से युक्त मेयरूप

इन्दु द्वारा परिमितप्रमाता (बोधाग्नि) में संजीवनी-अमृत (प्रमेय) की सृष्टि जो दृगादि देवी को (विषयरसास्वादन से) तृप्त करता है 64-66
बोधाग्नि (प्रमाता) में विसर्गभूत (दिव्यप्रमेय) का संहार ही षड्विध अध्वमण्डल का हवन है 66-67
अनुत्तर की कौलिकी शक्ति विसर्ग के क्षोभ से 'क' से प्रारम्भ कर 'ह' तक के तत्त्वों (मातृकाओं) का विस्तार 67
'अं अ' कुलेश्वरी है जिससे युक्त 'कुलेश्वर' है, विसर्ग का स्फार ही विश्व है 68
इस प्रकार सोम की सप्तदश अमाख्या संजीवनी कला की अर्चना, हवन तथा ध्यान का विधान 69
आनन्दप्रधान नाडीयुगल के स्पन्दन के प्रति सावधान विसर्ग निष्पन्द की अमृतमयी भूमि को पा लेता है 70
शक्ति के सम्भोग (शाक्त क्षोभ), उसके स्मरण (कुलावेश), द्वादशान्त में प्रवेश, सार्वात्म्यभावना (व्याप्ति) तथा शून्यता की भावना (सर्वात्म-संकोच) हृदय (विसर्गभूमि) में प्रवेश होता है 71
सोमसूर्य (प्रमेयप्रमाण) के परस्पर संघर्ष (सामरस्य) से अग्निसोमात्मक हृदय में विसर्गानन्द का उन्मेष 72
स्वभावतः गुप्त योगिनी-हृदय (विसर्गोन्मेष) में विश्रान्ति से ज्ञानी की चरितार्थता 73
'हृदय' में विश्रान्त योगी विश्व को अभेददृष्टि से देखता है 74
योगी द्वारा अर्थक्रियाकारिता की आकांक्षा को छोड़कर नाददशा (विमर्शप्रधान-संवित्) का आश्रय 75
नाददशा के आश्रय से संवित् की अन्तर्मुखता का विकास जिससे ज्ञान, इन्द्रिय, प्राणादि का चक्र शून्यरूप ज्ञेय हो जाता है 76
शून्यात्मक ज्ञेय संवित् की अग्नि में गलकर त्रिकोण शाक्ति वह्नि में लीन हो जाता है 77
बिन्दुसत्ता (परामर्शदशा) में विश्रान्त परमप्रमातृरूप (संहार-बीज में विश्रान्त) योगी परतत्त्वरूप हो जाता है 78
संवित्-स्पन्दन अपने स्वातन्त्र्य से सामान्यविशेषात्मना संकुचित एवं विकसित होता रहता है 79
स्वरूपतः स्पन्द संकोचविकासशील नहीं है, अन्तर्लक्ष्य और बहिर्दृष्टि वाला योगी ही परमपद प्राप्त करता है 80
विशेषाख्य स्पन्द ही विमर्श है, जिसकी संज्ञा 'औन्मुख्य' है। 81
मन्त्रमण्डल के वीर्य में विश्रान्ति से शान्ति आदि सिद्धियाँ 82
'बोध' एवं 'स्वातन्त्र्य' संज्ञाओं से निर्दिष्ट दिव्य इन्द्रिय-समूह जगत् में व्याप्त रहकर भी उसे आत्मरूप बना सकता है (यही भैरवमुद्रानुप्रवेश है) 83
इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा आत्मोन्मुख कर पूर्णता का अनुभव 84

अहंपरामर्श प्रमातृतत्त्व को ज्ञानी चेतना की चिनगारियों से संसार को भस्म कर देता है 85
'मन्त्रभूमि' (परतत्त्व) में प्रवेश के सम्बन्ध में 'त्रिशिरोभैरवागम' का प्रमाण तथा उद्धरण 86
मध्यनाडी का द्वादशान्त तक ऊर्ध्वगमन 'मन्त्रभूमि' में प्रवेश है 87
प्राणापान को रोक कर नित्योदित, महाप्रकाश आत्मज्ञान का अनुभव कर परम धाम में प्रवेश, शिवात्मिकावृत्ति का स्वरूप 88-89
'ख' के निगूढार्थ द्वारा शिवात्मिकावृत्ति (भैरवमुद्रा) का स्वरूपनिरूपण 90-91
भावाभाव (प्राणापान) के निरोध द्वारा स्वात्मसाक्षात्कार 92
'ख' शब्द के (त्रिशिरोभैरव के अनुसार) दश अर्थ 93-94
'धाम' शब्द के दश अर्थ 94-95
उपायान्तरों की अपेक्षा आणवोपाय की श्रेष्ठता, महेश्वरनाथ द्वारा अभिनवगुप्त को इसका उपदेश 96-97
'श्री ब्रह्मयामल' में इसी का दशविध 'ध्वनि' के रूप में प्रतिपादन 97-98
'ध्वनि' विजय से परमव्याप्ति की प्राप्ति 99-100
परतत्त्व में अन्तःप्रवेश कराने वाले मार्ग के लक्षणः चमत्कार का अनुभव, देह की ऊर्ध्वगति, अनात्मा में आत्माभिमान की शिथिलता से कंप की अनुभूति तथा अन्तर्मुखता के कारण निद्रालुता 100-104
सत्यपद में आरूढ योगी संविद् को शिवात्मक समझकर घूर्णित रहता हैः यह घूर्णि ही महाव्याप्ति (परमधाम में अनुप्रवेश) है 104-105
आत्मा में अनात्मा का तथा अनात्मा में आत्मा का अभिमान बन्ध-(आणवमल) है, इसका लय मुक्ति है 105-106
पहले अनात्मा में आत्मा का तदनन्तर आत्मा में अनात्मा का नाश होने पर 'महाव्याप्ति' का उदय 106-107
'श्रीमालिनीविजयोत्तर' में आनन्द, उद्भव, कंप, निद्रा तथा घूर्णि ये योगी के लक्षण माने गये हैं 107-108
'आनन्द' आदि पाँच लक्षणों में से किसी में प्रवेश से विभिन्न चक्रों पर विजय (चक्रेशता की प्राप्ति) 108-109
सर्वात्मक बोध के होने पर भी चक्षु से जैसे रूपविज्ञान ही होता है उसी प्रकार चक्रेश की स्थिति में आनन्दादि में से किसी एक का ही अनुभव होता है 109-110
त्रिकोण (योगिनीवक्त्र) आनन्दचक्र है, कन्द (लिंगमूल)

उद्भवचक्र, हृदयकम्प, तालु निद्रा तथा द्वादशान्त घूर्णि है 111
'त्रिशिरस्मत' में उपर्युक्त का स्पष्ट प्रतिपादन 112 (अ)
नर-शिवशक्ति के अविनाभाव वाले अहंपरामर्शरूप
परम हृदय का नामान्तरः अव्यक्तलिङ्ग 112-113
अन्तर्लीनता तथा एकात्मता ही घूर्णिशक्तिसंपन्न
भैरवसंवित् का लक्षण है (अव्यक्तलिङ्ग का स्वरूप) 113-114
व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग का स्वरूपः अहमिदं से युक्त,
मन्त्रवीर्यात्मक, परापर तथा नर-शक्ति-रूप 114-116
व्यक्तलिङ्ग नरप्रधान, भेदमय तथा विशेष स्पन्दात्मक है
(व्यक्ताव्यक्त तथा व्यक्त दोनों प्रकार के लिङ्ग चिदात्मक हैं) 116-117
लिङ्गत्रय का फलभेदः व्यक्त से सिद्धि, व्यक्ताव्यक्त से मुक्ति,
अव्यक्त से मोक्ष, अनुत्तर में यह विभाग सम्भव नहीं 117
'आत्मा' नामक इदंप्रधान व्यक्त नरलिङ्ग में विश्व के अर्पण से व्यक्ताव्यक्त,
तथा विश्व के गलने से (अहंपरामर्शात्मक बनने पर) लिङ्ग अव्यक्त कहलाता है 118
इस प्रकार आत्मलिङ्ग (व्यक्त) अव्यक्त में विश्रान्त होता है,
अनुत्तर इस चर्चा से अतीत है 119
अनुत्तर का स्पन्दन ही लिङ्गत्रय के रूप में व्यवस्थित है
अतः उसी की आराधना में लीन रहे 120
योगिनीहृदय नामक आनन्दसुन्दर यह अनुत्तर लिङ्ग ही
शिवशक्ति की एकात्मता से परतत्त्व में समावेश कराता है 121
इसी आनन्दधाम में सभी देवगणों की विश्रान्ति 122
इसी में भैरव की सृष्टिसंहारशीला स्वातन्त्र्यशक्ति विश्रान्त है 123
अनुत्तरलिङ्ग में समाविष्ट शक्ति की आनन्दधारा से सिक्त विश्व नितनवीन होता रहता है 124
आणवोपाय के साथ अनुत्तर समावेश के परमोपाय का प्रकाशनः
दीपकों के साथ सूर्य के प्रकाश का दृष्टान्त 125
विषय, उसके भोग एवं तज्जन्य सुखदुःख में फंसे होने
पर भी योगी इनसे विरति को अन्तस् में पहिचानते हैं 126
अन्तःकरण, इन्द्रियवर्ग, विषय-सुखादि के रहने पर भी परमार्थ की अनुभूति का उपदेश 127
उच्चारविधि के अनन्तर करण के विवेचन का प्रारम्भः 'त्रिशिरःशास्त्र' का प्रमाण 128

करण के सात भेदः ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, व्याप्ति, त्याग,
आक्षेप तथा निवेशन (सन्निवेश), करण का
अर्थ : विश्वात्मता के साथ आत्मविश्रान्ति 129-30
गुरुमुख से 'करण' का स्पष्ट ज्ञान तथापि तन्त्रालोक में आगमरक्षार्थ अन्यत्र वर्णन 130-31
प्राणोच्चार में अनाहत नाद 'वर्ण' है जिसके सृष्टि-बीज तथा
संहारबीज प्रमुख अभिव्यक्ति स्थान हैं 131-32
वर्ण के अभ्यास से चिदात्मता की प्राप्ति 133
मन्त्रवर्णों की तरह लौकिक वर्णों द्वारा अर्थ का साक्षात्कारः मनोराज्य का दृष्टान्त 134-35
भैरव शब्द के सतत उच्चारण से शिवता की प्राप्ति में
आगम-प्रमाण (विज्ञानभैरव का उद्धरण) 135-36
स्मरण से शिवत्व प्राप्ति में 'त्रैशिरस' का प्रमाण तथा उद्धरण 136-37
आगम प्रतिपादित स्मरण का स्वरूपः प्रमातृरूप (मन्त्रस्वरूप) ऐक्य का व्यवस्थापक,
अर्थप्रकाशक, अनुभव के साथ अभेद के द्वारा परमार्थ संवित्ति अथवा आत्मस्वभाव की
प्राप्ति सत्ता के रूप में नामान्तर 137-39
संकेतग्रह के बिना बीजपिण्ड संवित् से एकात्म्य के उपाय हैं 140
लौकिक शब्दों के विपरीत बीजपिण्डों में पूर्णता का कारणः उनकी वाच्याभावता,
संवित् की अन्तर्मुखता प्रमाणात्मक प्राण के प्रमेयोन्मुख प्रसार
तथा निरोध (सृष्टिसंहारशीलता) 141
सुख की सिसकारी, रमणीयता, सम्यक् संघटना तथा समता में अनुत्तर संविद् का स्पर्श 142
हृदय, कण्ठ, ओष्ठ से उठकर मध्यधाम (नाड्याधार नामक ब्रह्मरन्ध्र के
ऊर्ध्ववर्ती परम आधार) में प्रवेश कर शक्त्यादि सामरस्य से पराबीज का उच्चारण करे 143-44
उपर्युक्त वर्णप्रक्रिया का संक्षेपतः निर्देशः कन्दादि से प्रारम्भ कर द्वादशान्त
तक सृष्टिबीज से अनुत्तर का साक्षात्कार 145
वर्णतत्त्व का संहारबीज के अनुसार विवेचनः संहारबीज के स्थानः ख का हृदय,
फका ओष्ठ, र का मूर्धा, एकार का कण्ठ-तालु, बिन्दु का द्वादशान्त 146
वर्णतत्त्व की साधना अनुत्तर परम धाम में प्रवेश 147
वर्णतत्त्व का 'दीक्षोत्तर' में प्रतिपादन 148-50
शिव-तादात्म्य की प्राप्तिः तांबे के सोना बनने का दृष्टान्त 151
सृष्टिबीज की भाँति आत्मसाक्षात्कार की शक्ति सभी मन्त्रों में 152-53

सभी मन्त्रों की संविद्रूपता 153-54
मन्त्रों में परस्पर स्वरूप भेद होने पर भी उनसे अखण्डसंवित् का साक्षात्कारः
गुरु वामनदत्ताचार्य का प्रमाण 154-55
उच्चार, करण, ध्यान एवं वर्ण सभी अनुत्तरपद की प्राप्ति के उपाय हैं 155-56
शाम्भव, शाक्त, ध्यान, उच्चार, करण, वर्ण तथा स्थान-कल्पना में
पूर्वपूर्व बलवत्तर (वीर्य) हैं मन्दबुद्धि क्रमानुसार साधना करता है,
परमयोगी बिना क्रम के 156-57
उपायों को 'वीर्य' कहने का कारणः नपुंसक तथा मृत शरीर का उदाहरण,
आह्निक-समाप्ति की घोषणा 158-59

(इ) पञ्चम आह्निक का सटिप्पण अनुवाद

1. **परमधाम को प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों के लिए अब आणवविधि से इस (आणवपाय) का निरूपण किया जाता है।**

शाक्तोपाय से ही जब सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब आणवोपाय का निरूपण किसलिए ?

2. **विकल्प के संस्कार के (शाक्तोपाय के द्वारा) प्रतियोगी रहित हो जाने पर, भोग और मोक्ष में से किसी एक अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति निश्चित है।**

3. **किसी का विकल्प अपनी स्वतन्त्रता के कारण और अन्य उपाय की अपेक्षा के बिना ही सुस्थिर हो जाता है।**

4. **किन्तु किसी का यह विकल्प अपने संस्कार के लिए अन्य उपाय की अपेक्षा रखता है। इन (दो प्रकार के विकल्पों) में से पहले प्रकार को कहा जा चुका है।**

शंका है कि विकल्प भी वस्तुओं को प्रकाशित करने के कारण निर्विकल्प की भाँति चित्-स्वरूप ही है तब उस विकल्प-ज्ञान में संस्कार की क्या आवश्यकता ?

5. **यद्यपि विकल्प-ज्ञान भी चिन्मात्र के स्वभाव का माना गया है फिर भी यह निश्चयात्मक (विकल्प) संकुचित प्रमाता के स्वातन्त्र्य को योजित करने वाला है।**

यद्यपि निर्विकल्प एवं सविकल्प दोनों ही प्रकार के ज्ञान चिद्रूप हैं फिर भी निर्विकल्प-ज्ञान में भेद का लेशमात्र भी नहीं होता किन्तु विकल्प में 'यह अघट नहीं, घट है' इस प्रकार की भेद-बुद्धि होती है। अतः उसी भेद-बुद्धि को हटाने के लिए आत्मा में संस्कार की आवश्यकता होती है। संस्कार, वस्तु के पारमार्थिक स्वरूप में न तो कुछ विशेष जोड़ता है और न ही घटाता है अपितु वह केवल अस्फुट स्वरूप को स्फुट, स्फुट को स्फुटतर और स्फुटतर को स्फुटतम बनाता है।[1]

आत्मा में संस्कार के लिए ध्यान आदि अनेक उपाय हैं:-

6. **विकल्पों को भेदने वाले अनेक उपाय हैं, यह निश्चित है। और उन्हें (उपायों को संविद् से) दूर और पास के भेद-पूर्वक अणु शब्द से कहा गया है।**

कुछ उपाय संविद् के समीप हैं और कुछ दूर। जैसे बुद्धि आदि की अपेक्षा प्राण के अन्तरंग होने से प्राणगत उच्चारण आदि समीप हैं और उसकी अपेक्षा से बुद्धि में रहने वाले ध्यान आदि दूर हैं तथा उनसे भी अधिक दूर शरीर की इन्द्रियाँ आदि हैं।

प्राण आदि जड़ होने के कारण पारमार्थिक नहीं हैं तब उनमें रहने वाले उच्चारण आदि से परमार्थ-स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

7. **वहाँ बुद्धि, प्राण तथा देह-प्रमाता के अपारमार्थिक (वेद्यरूप) होने पर भी उसमें परमार्थ प्रकाशित होता है।**

पूर्वपक्षी की आपत्ति है कि उपर्युक्त कथन में प्रश्न को ही उत्तर कैसे बना दिया गया?

8. (अ) **क्योंकि प्रकाश-स्वभाव चिन्मात्र से प्राण आदि अभिन्न हैं[2] (इसलिए उसमें परमार्थ-प्रकाशन की बात कही गई है)।**

प्राण आदि जड़ हैं तब इन्हें चित् कैसे माना जा सकता है ?

(ब) **इसलिए कि उस (चिदात्मा) के स्वातन्त्र्य के कारण (प्राण आदि) जड़ और चेतन दोनों रूप हैं।**

परमेश्वर मायीय सृष्टि की रचना करते समय अपने स्वातन्त्र्य के कारण जड़ और चेतन रूपों में अवभासित होता है।

उपर्युक्त कथन में आगम-प्रमाणः-

9-11. **और शिव ने देवी (उमा) को 'त्रैशिरस' में कहा है कि जीव शिव की ही परा शक्ति है। वह सर्वत्र स्थित होते हुए भी, ज्ञान के उन्मीलन से आत्मरूप विकल्प पर आरूढ़ है। स्वातन्त्र्य के उल्लास की कल्पना से उस (प्राणादि प्रमाता) की पारमार्थिक चिन्मयता का साक्षात्कार करते हुए तथा जड़रूपता के अंश को तिरोहित कर अद्वय हो जाता है।**

11-12. **अथवा वहाँ (प्राण आदि में) (योगी) अपने स्वातन्त्र्य की महत्ता के कारण विशुद्ध और उन (प्राण आदि) से भिन्न रूप में अपने (स्वाभाविक) चैतन्य को, दर्पण में मुख-बिम्ब की तरह से निश्चित करता है।**

जिस प्रकार अपने मुख-बिम्ब को दर्पण में देखते हुए भी व्यक्ति उसे दर्पण से भिन्न समझता है उसी प्रकार योगी अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के कारण प्राण आदि में अपने स्वरूप को देखते हुए भी उससे अपने आप को भिन्न समझता है। अतः कहा गया है -

नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहम्। (हरिमीडे स्तो., श्लोक 36)

12-13 **बुद्धि, प्राण आदि से बलात् (अस्वाभाविक रूप से) भिन्न निश्चित किया गया चैतन्य भी वस्तुतः अभिन्न हो जाता है क्योंकि उन (बुद्धि आदि) में आपस में ही भेद है।**

एक ही चैतन्य अनन्त बुद्धि आदि से अभिन्न कैसे है ?

13-14 **(चैतन्य की) विशुद्धता के कारण ही सभी (बुद्धि आदि) के साथ अभिन्नता उत्पन्न होती है। क्योंकि नियत और स्वतन्त्ररूप में स्फुरित होने वाली (बुद्धि आदि) मूर्ति (द्रव्य) का अन्य मूर्ति (द्रव्य, प्राण आदि) से विरोध है।**

शैव मतानुसार आन्तर का ही बहिराभासन होता है।[3] क्या यह नियम बुद्धि आदि प्रमाता पर भी लागू होता है? अर्थात् बुद्धि आदि प्रमाता में स्थित वस्तुओं का ही क्या बहिरवभासन होता है?

14-16. **यह समस्त (भाव-जगत्) संविद् में सत् है। यदि ऐसा नहीं होता तो (यह सब भावजात) बुद्धि, प्राण अथवा शरीर (प्रमाता) में (संविद् के अतिरिक्त) किससे, किसके द्वारा अथवा कैसे अवभासित होते ? ऐसा होने पर भी इस (बुद्धि आदि) निर्विकल्प प्रमाता में विकल्प (उत्पन्न) नहीं होते। उस (विकल्प) के बिना (भावजगत्) देखा हुआ होते हुए भी अनदेखे के समान है क्योंकि विकल्प के द्वारा ही (यह वस्तु ऐसी है, इस तरह का) निश्चय होता है।**

बुद्धि आदि प्रमाता के अपारमार्थिक होने पर भी तद्गत ध्यान आदि को जिस तरह परमार्थ के प्रकाशन में कारण माना गया है उसी प्रकार शून्यप्रमाता के साथ यह नियम लागू क्यों नहीं होता ?

16-17. **बुद्धि, प्राण एवं शरीर (प्रमाताओं) में स्पष्ट रूप से पारमेश्वर्य को समझना चाहिये (जिससे तद्गत ध्यान आदि को परमार्थस्वरूप की प्राप्ति में कारण माना जा सके। परन्तु शून्यप्रमाता में (पारमेश्वर्य के रहते हुए भी) विकल्पन नहीं होता।**

परमार्थस्वरूप की प्राप्ति में बुद्धि आदि तीनों की ही कारणता है, शून्यप्रमाता की नहीं। क्योंकि उसमें कोई अवच्छेदक तत्त्व नहीं होता।

बुद्धि आदि किसके द्वारा पारमार्थिक-स्वरूप की प्राप्ति कराते हैं?

17-18. **उनमें बुद्धि (अनुसन्धानशक्ति की प्रधानता के कारण) ध्यान वाली**

है, तथा प्राण उच्चारण रूप है और उच्चारण, प्राण से प्रारम्भ करके व्यान पर्यन्त[4] पाँच वृत्तियों वाला है।

प्राणीयवृत्ति दो प्रकार की होती है। पहली पाँचों प्रकार के प्राणों की आधाररूपा 'सामान्यप्राणीया' और दूसरी विशिष्ट प्राणात्मिका। तब उच्चारण को पाँच वृत्तियों वाला कैसे कहा गया है:-

18 (ब) उनमें पहली तो प्राणना नामक और दूसरी उच्चारात्मिका है।[5]

शरीर (देह-प्रमाता) के असाधारण स्वरूप का विवेचन:-

19 (अ) इन्द्रिय, विषय तथा प्राणादि के पिण्ड के रूप में शरीर (अर्थात् देह-प्रमाता) स्थित है।

ध्यान का स्वरूप:-

19 (ब) उनमें से, अनुत्तर को ध्यानमय कहा जाता है।

20. चित्-स्वभाव वाला, स्वतन्त्र और सर्वतत्त्वमय यह प्रकाश हृदय में अवस्थित है।[6] ऐसा 'त्रिशिरोमत' में कहा गया है।

21. कदली के संपुट के समान आकार वाले, साधारण और असाधारण तत्त्वजात को अपने में रखने वाले उस (पर ब्रह्म) को तत्त्वज्ञानी (कदली के) पुष्प की तरह हृदय के भीतर स्थित देखता है।

जिस प्रकार कदली में एक-दूसरे से बाह्य और आन्तर रूप से मिले हुए पत्तों का सन्निवेश होता है उसी प्रकार परम-ब्रह्म में भी भूत, तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ आदि तत्त्व एक-दूसरे से ओत-प्रोत रहते हैं। साथ ही जिस तरह कोई पुरुष कदली के बाहरी और सार-रहित पत्तों को छोड़कर भीतरी तत्त्व को ग्रहण करता जाता है और अन्त में अत्यन्त उपयोगी अंश को पा लेता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भी शरीर-सम्बन्धी बाहरी तत्त्वजात को छोड़कर हृदय में परिस्फुरित होने वाले आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, फिर उसका साक्षात्कार हृदय में ही कैसे हो सकता है?

22-24. एकाग्रचित्त योगी उस (हृदय) में (प्राण, अपान एवं उदान-रूप) सोम, सूर्य एवं अग्नि के समूह का ध्यान करे। उस (सोम, सूर्य एवं अग्नि के समूह-रूप वाले) ध्यान-रूप अरणि (शमीवृक्ष की लकड़ी) के घर्षण के कारण (22) हृदय नामक महाकुण्ड में प्रज्वलित होने

वाली महाभैरवाग्नि फैल जाती है (अर्थात् संकोच का तिरस्कार करते हुए पूर्ण प्रमातृ-रूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है[7])

भैरवीय तेज वाले और व्यापकशक्ति वाले उस शक्तिमान् के (23) प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण नामक (तीन) धाम का अभेद-रूप से ध्यान करे। अग्नि, सूर्य और सोम शक्तियों का ही वह (प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाणरूप) त्रयात्मक समूह (अर्थात् ये शक्तियाँ ही प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाणरूप) हैं।[8]

25. (यह प्रमाता आदि का त्रितय) परा, परापरा एवं अपरा (शक्ति के रूप में भी) हमेशा (सृष्टि, स्थिति एवं संहार नामक सभी दशाओं में) प्रकट होता है। उन (परा आदि शक्तियों) में से प्रत्येक के सृष्टि, स्थिति और संहार रूप से तीन प्रकार होते हैं।

26.-27. और इन (सोम आदि शक्तियों) का चौथा (अनाख्य) रूप (सृष्टि आदि के) अवच्छेद से शून्य एवं अकल्पित (तात्त्विक) है। इस प्रकार वे (परा आदि) बारह शक्तियाँ सूर्य के बिम्ब की तरह मानी गई हैं। इसमें से प्रत्येक वह्नि, सूर्य सोम एवं उनकी शान्ति का प्रकाशन है।

यह द्वादशात्मक चक्र कोई अपूर्व तत्त्व नहीं है अपितु सभी का अनुभव-सिद्ध है :-

27-28. यह (द्वादशात्मक) 'अनुत्तर-चक्र' हृदय से चक्षु आदि इन्द्रियरूप आकाश के द्वारा उन-उन विषयों का ज्ञान करने में निःसृत होता ही है।

परमेश्वर हृदय में स्थित है। वहीं से वह चक्षुरादि इन्द्रियों के माध्यम से निरन्तर विषयों का साक्षात्कार करता रहता है। इस प्रकार संविच्चक्र निरन्तर जागरूक रहता है। जो ज्ञानी है, संविच्चक्र की गति को पहिचानता है वह इसी अनुत्तर चक्र के द्वारा मुक्त हो जाता है पर जो अज्ञानी है वह इस चक्र की गति में, इन्द्रियादि द्वारा विषयों के ज्ञान के व्यापार में फंसकर बन्धन में पड़ा रहता है।

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।। स्पन्दकारिका, 3.16.
येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात्।। विवेक, 5.27 में उद्धृत.

28-29. उस (चक्षु आदि द्वादश[9] देवीरूप) चक्र की (उन-उन रूपों में) भासित होने वाली वृत्तियों के द्वारा, सृष्टि, स्थिति और लय के माध्यम से उन-उन विषयों में वह (प्रमाता) सोम, सूर्य और अग्नि के रूपों में आभासित होते हुए अवस्थित है।

प्रमाता सबसे पहले स्वयं को विषय के रूप में उत्पन्न करता है। कुछ समय तक उसी में अनुरक्त रहने के बाद यह सन्तोषाभिमान करता है कि 'मैंने इस विषय को जान लिया'। इसके बाद हठपाक के क्रम से पूर्णता को प्राप्त करके चिद्रूप अग्नि से ऐक्य का अनुभव करता है। इस प्रकार विषय भी चक्षु आदि इन्द्रिय देवियों की तरह सृष्टि, स्थिति, संहार एवम् अनाख्य इन चार रूपों को प्राप्त कर लेता है।

29-31. श्रोत्र आदि के व्योम मार्ग से (इन्द्रिय का) यह चक्र शब्दादि विषय में जहाँ-जहाँ गिरे वहाँ तादात्म्य की भावना करनी चाहिये।

यह चक्र इस क्रम-योग से जहाँ-जहाँ गिरता है वह सर्वात्मक हो जाता है जैसे कि सार्वभौम राजा।[10]

31-32. इस प्रकार समस्त (छहों प्रकार का) अध्वपटल संवित्ति (देवी चक्र) से परिवेष्टित भैरवीय महाचक्र में बिना प्रयत्न के ही (सरलता से) लीन हो जाता है। इसके अनन्तर संस्काररूप में अवस्थित विश्व के भी पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर स्वात्म-रूप में उल्लसित होते हुए (चक्षु आदि इन्द्रिय संवित्तिरूप) महान् एवं विकासशील चक्र का भली भाँति चिन्तन करे।

33-34. इसके बाद उन दाह्य (समस्त बाह्य विषयों) के विलीन हो जाने पर शान्त अवस्था की ओर उन्मुख प्रशाम्यत् चक्र का, उन (विषयों) के संस्कारों के क्षीण हो जाने पर शान्त का और (अन्त में) शम (शुद्ध संविद्) का ध्यान करना चाहिये।[11]

34-35. इस ध्यान-योग के फलस्वरूप चक्र में (प्रमातृ-प्रमेयरूप) विश्व लीन हो जाता है और वह (चक्र) संवित् में (लीन हो जाता है)। इसके बाद विषयों को अपने में लीन करने वाली एक मात्र संविद् ही आभासित होती है। इसके बाद चित् के (स्वातन्त्र्य) स्वभाव के कारण चिद्रूपा सृष्टि पुनः होती है।

36. इस प्रकार आत्मसंविद् में प्रतिक्षण विश्व का संहार एवं निर्माण करते हुए अन्त में पुनः शाश्वत भैरव बन जाता है।

37. इस प्रकार त्रिशूल से आरम्भ करके चार और पाँच अर वाले के क्रम से पचपन अर तक के चक्र का योगी ध्यान करे।

38. एक सौ चौसठ अर वाले का अथवा सहस्रार अथवा असंख्य अरसहस्र वाले चक्र का एकाग्रचित्त होकर ध्यान करना चाहिये।

39. संविद्रूप, महान्, देव, संविद् का उल्लास करने वाले और सभी शक्तियों के स्वामी महेश्वर के लिए कोई भी कलना (सीमा) नहीं है (यही उसके असंख्यारत्व का कारण है)।

40. 'मांगलशास्त्र' में 'श्रीश्रीकण्ठ' ने निरूपण किया है कि इस (शिव) की शक्तियाँ सम्पूर्ण जगत् है और महेश्वर शक्तिमान्[12] है।

41. सन्तुष्ट 'श्रीशंभुनाथ' ने मेरे (अभिनवगुप्त के) लिए और उनके ('श्रीशंभुनाथ' के) लिए 'श्रीसुमतिप्रभु' ने प्रथम उपाय-रूप इस ध्यान का निरूपण किया था।

42. इसी तरह (दूसरे शास्त्रों में वर्णित चक्ररूप) विभिन्न ध्यानों का जो कि बिना किसी क्रम के अनुत्तर उपाय की धुरी बनते हैं, आश्रय लेना चाहिये।

प्राणतत्त्व के समुच्चार का निरुपणः-

43. अब प्राण की जो प्राणना आदि वृत्ति बताई गई है, उसके माध्यम से अनुत्तर का विकास बताते हैं।

44. सबसे पहले प्राण के उदय होने पर शून्यता[13] मात्र में विश्रान्त होकर निजानन्द रूप एवं प्रमातृस्वरूप हृदय में स्थित होते हुए निरानन्द का ध्यान करे।

45. और (अपान-रूप) प्रमेय में परानन्द का ध्यान करे। क्योंकि वहाँ (प्रमेय के उदय की स्थिति में) अनन्त प्रमेय के अंशों के पूर्ण पान का निवारण हो चुका है।

46-48. परानन्द को प्राप्त (योगी) अपानरूप शरीर शशि से शोभित होता हुआ स्थिर रहे। इसके बाद अनन्त रूपों में स्फुरित होने वाले प्रमेय पदार्थों के समूह से पूर्ण-रूप से निवृत्त हुआ योगी समान भूमि को प्राप्त करके,

ब्रह्मानन्दमय हो जाता है। इसके बाद (सूर्य और सोमरूप) प्रमाण और प्रमेय के प्रवाह की कलनाओं[14] को ग्रहण करने में तत्पर (योगी) उदान-रूप अग्नि में विश्रान्त होता हुआ महानन्द का ध्यान करे। उस (महानन्द में) विश्रान्त होकर (योगी) इस (प्रमातृ-रूप) उदान-वह्नि में शान्त हो जाता है (अर्थात् उससे ऐक्य स्थापित कर लेता है)।

शान्ति का स्वरूपः-

49. वह (शान्ति) (प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमातृरूप) उपाधियों से रहित, सर्वत्र व्याप्त रहने वाली तथा व्यान-दशा में अधिष्ठित एवं (सर्वात्मिका होने पर भी) सर्वोत्तीर्ण है। उस दशा में चिद्रूप आनन्द मात्र ही होता है जो जड़ता के स्पर्श से रहित है।

50. यहाँ (इस शान्त अवस्था में) जड़ (जैसे शरीर आदि) की भेद-शीला कोई स्थिति नहीं है।[15] यहाँ कोई भी व्यवच्छेद नहीं है क्योंकि यही सभी रूपों में स्फुरित होता है।

51. यह पूर्ण संविद् परम अमृत (रूप-स्वातन्त्र्य) से समन्वित है जिसमें भावना आदि की कोई साक्षात् संगति नहीं है (अर्थात् इसमें प्रत्यक्ष-रूप से भावना आदि उपायों का कोई स्थान नहीं है[16])।

52. उसी (परम तत्त्व) को 'श्रीशम्भुनाथ' ने हमें जगदानन्द (शब्द से) कहा है। सृष्ट्यादि- स्वरूप हृदय से उच्चार योग से उसमें विश्रान्त रहना चाहिये।

53-54. जो वहाँ विश्रान्ति है वही अनुत्तर स्थिति है। (यद्यपि) इस प्रकार स्वप्रकाश का स्वभाव 'हृदय' से प्रारम्भ कर (द्वादशान्त तक) एक ही है तथापि मन्त्र के द्वारा छः प्रकार के (सामान्य तथा विशेषरूप) प्राण के स्पन्दन से उत्पन्न उस (स्वप्रकाश शिव) के रूप को व्यापित से बताया जा रहा है।

54-56. प्राणरूपी दण्ड के प्रयोग से[17], प्राण और अपान (पूर्वापर) के समीकरण (अर्थात् विषुवत्-रूप को ग्रहण कर) के द्वारा 'चतुष्किका' (ब्रह्मरन्ध्र के नीचे चतुष्पथ-रूप चिन्तामणि नामक आधार) तथा 'अम्बुज' (भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमल नामक आधार) को स्वीकार करने वाली 'लम्बिका' (उपजिह्वा) अमृत के आधार (सौध तथा सोऽहम् के सकार) पर विश्रान्त होती है।

इस प्रकार तीन नाड़ियों (इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना) से युक्त त्रिशूल-भूमि को पार कर योगी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों के समत्व में प्रवेश करे (अर्थात् अनुत्तर तत्त्व में समाविष्ट हो)।

56-57. और फिर प्रधान, विकासशील, अत्यधिक संकोच से रहित एवं विसर्ग भूबिन्दु से नाद तक की शक्तिरूपी सोपानमालिका का आश्रय लेना चाहिये जिससे ऊर्ध्व कुण्डलिनी पद को प्राप्त किया जा सके।

57-58. वहाँ ऊर्ध्व कुण्डलिनी भूमि में स्पन्द के सार से सुन्दर बने हुए विसर्ग (परमात्मेश्वररूप बिन्दुद्वय) में विश्रान्त रहना चाहिये जो (भूमि) मत्स्य के उदर की (अर्थात् नित्य स्पन्दनवाली) दशा के समान है।

58-60. जिस प्रकार गर्दभी अथवा घोड़ी विकास और संकोच से युक्त अपने धाम आनन्दमन्दिर (योनि) में प्रवेश करके हृदय में अत्यधिक आनन्द का अनुभव करती है, उसी प्रकार बाह्य-बाह्य लीन होने वाले और उत्पन्न होने वाले (प्रमातृ, प्रमेय आदि) भाव-समूहों से पूरी तरह स्वतन्त्र, विकास और संकोच (सृष्टि और संहार) के स्फुरण से सम्पन्न भैरव और भैरवी[13] समूह (विसर्गभू) का आश्रय लेना चाहिये।

60-61. महामूल (माया), शूल (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) और विसर्ग[14] को एकाकार करने वाले परप्रमातृरूप हृदय में (अन्तर और बाह्य) साक्षी के ऐक्य की युक्ति (योग) से विश्रान्ति प्राप्त करता है (अर्थात् प्रमाहंता-भाव से स्वात्ममात्र में स्थित रहता है)।

61-62. यहाँ (ऊर्ध्वकुण्डलिनीभूमि में) वह (अहंपरामर्शरूपपरमहृदय) पूर्ण रूप से विश्व को अपने में समाविष्ट करके स्थित है। क्योंकि प्रकाश केवल स्वात्म में ही विश्रान्त रहता है इसलिए उसे अहंपरामर्श के रूप में ही देखना चाहिए।

उच्चारण का स्वरूपः-

62-63. उस पहले, व्यापार आदि से रहित अनुत्तर विमर्श में सर्वप्रथम उल्लसित होने वाला चिद्विमर्शशील 'अहंपरामर्श' स्फुरित होता है।

63-64. इसके बाद वह (परमप्रकाश) (वस्तुओं को अवभासित करने के) उद्योग में लगे हुए, बारह कलारूप सूर्य के द्वारा भावपदार्थों को (बाह्यरूप से) अवभासित करता है, (उसी रूप में कुछ समय के लिए) स्थापित करता है और (अन्त में अपने में) संहृत करता है।

64-66. इसके बाद (आत्मरूप में) स्फुरित होने वाला, सोलह कलाओं वाला एवं 'विसर्ग' के ग्रहण से विश्वस्त बना हुआ इन्दु (विश्व) संजीवनी (अमा नामक कला) अमृत की बोधाग्नि (परिमित प्रमाता) में स्फुरित होकर समुल्लसित होता है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया-शक्ति के सूक्ष्म छिद्रों (इन्द्रियों) से प्रवाहित होने में अग्रणी तथा संविद् देवियों का तर्पण करने वाला वही दिव्य अमृत है।

संविद् देवी के तर्पण का लाभः-

66-67. यह विसर्ग-(कौलिकी शक्ति) अमृत यदि ज्ञानाग्नि में गिरता है तो इससे समस्त छः प्रकार का ऊर्ध्वमण्डल[20] आहुत हो जाता है।[21]

67. 'अनुत्तरनाथ' का 'विसर्ग' ही कुलनायिका (कौलिकी शक्ति)[22] है। इसलिए उस (विसर्ग) का क्षोभ 'क' से प्रारम्भ कर 'ह' तक होता है और उस (क्षोभ) का प्रसार ही तत्त्वों का विस्तार है।

68. कुलेश्वरी के साथ 'अंअः' ही कुलेशिता है।[23] और 'विसर्ग' का परविश्लेष (वियोग) ही तन्मय[24] (शक्तिमान् से अभिन्न) विश्व कहा जाता है।

69. इस प्रकार विद्या, प्राण, गुण (बुद्धि) शरीर तथा (यज्ञ के साधन रत्न-पञ्चक, कुमकुम आदि) बाह्य एवं आन्तरिक द्रव्यों से समन्वित इस (अमाख्या) संजीवनी कला की अर्चना करनी चाहिये, (इसमें) होम करना चाहिये तथा (इसका) ध्यान करना चाहिये।

70. आनन्दप्रधान नाडी-युगल के स्पन्दन (अर्थात् एक-दूसरे के प्रति रमणेच्छा से उन्मुखता) में एकाग्रचित (हुआ योगी) विसर्ग के निःष्यन्द (प्रसार) की इस सौधभूमि (सुधा-समूह के विश्रान्ति स्थान) को प्राप्त करता है।

71. (बाह्य) शक्ति का संभोग होने पर[25], शक्ति-स्वरूप के साथ तन्मयता हो जाने पर[26], सभी नाड़ियों में प्रधान अथवा अन्तिम (द्वादशान्त) का साक्षात्कार कर लेने पर[27], सर्वात्मकता (विकास समाधि) हो जाने पर[28], सर्वशून्यता हो जाने पर[29], ज्ञानी हृदय (विसर्गभूमि) में लीन हो जाता है।

यदि यहाँ अनेक उपाय सम्भव हैं तो शाक्तोपाय के क्षोभ का ही प्रमुख रूप से निर्देश क्यों किया गया है?

72. सोम (प्रमेय) और सूर्य (प्रमाण) के तथा (शब्दादि-रूप और श्रोत्रादि-रूप) कला-जाल के परस्पर संघर्ष से अग्नि सोमात्मक (मध्यम) धाम में (प्रवेश होता है और फिर विसर्गानन्द उदित होता है (अर्थात् परमसामरस्य की अनुभूति होती है)।

73. इस रहस्य को अधिक कहने से क्या? क्योंकि यह योगिनियों का हृदय (परम विश्रान्ति-स्थान) स्वभाव से ही गुप्त है।[30] चतुर ज्ञानी को उसमें विश्रान्त रहना चाहिए (इससे विसर्गोन्मेष में ज्ञानियों का ही प्राधान्य प्रकट किया गया है)।

74. (हेय और उपादेय विषयों के) त्याग और ग्रहण (दोनों ही) के तिरस्कार[31] की (निर्विकल्पक) वृत्ति में अवस्थित (योगी), चिति के विमर्श के कारण विश्व को अभेद वृत्ति से[32] (अर्थात् स्वात्म से अभिन्न-रूप में) देखे।

सभी हेय और उपादेय वस्तुओं का तिरस्कार करके स्वात्ममात्र में अवस्थित होना ही परतत्त्व में प्रवेश का प्रमुख लक्षण है। जो योगी भेदों को विगलित कर चुका है उसके लिए कोई भी वस्तु हेय अथवा उपादेय नहीं होती क्योंकि वस्तुओं के इस प्रकार के विभाजन का कारण भेद-दृष्टि होती है।

75. (हेयोपादेय विषयों का तिरस्कार कर चुका योगी) बाह्य और आन्तरिक विषयों से सम्बद्ध अर्थक्रियाकांक्षा की दीनता को छोड़कर तथा आकाशरूप में तृप्ति को प्राप्त करके विकस्वर वाली नाद-दशा का आश्रय ले (अर्थात् विमर्श-रूप वाली विश्वोत्तीर्ण संविद् को प्राप्त करे)।

नाददशा को प्राप्त करने से क्या लाभ?

76. उस (नाददशा) को प्राप्त करके (योगी) संविद् के अन्तर्मुख (स्वरूप) को भलीभांति विकसित करे। इसके बाद संविद् (ज्ञान) अक्ष (इन्द्रियों) और मरुत् (प्राण आदि) का चक्र ज्ञेय से अभिन्न (अर्थात् ज्ञातृरूप) हो जाता है।

ऊपर बताई गई स्थिति के अनन्तर भी भाव-वस्तुओं के संस्कार तो विद्यमान रहते ही हैं और तब भेद-बुद्धि का विगलन पूरी तरह नहीं माना जा सकता। अतः योगी का संवित् मात्र में प्रवेश कैसे हो सकता है?

77. वह ज्ञेय, संवित्[33] नामक अग्नि के द्वारा विगलित कर लिया जाता है (अर्थात् ज्ञेय पदार्थ संविद्-रूप को प्राप्त कर लेते हैं)। इस प्रकार

विलीन (अथवा विगलित) हुआ वह (ज्ञेय) इस (इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया-रूप त्रिकोण की शक्तिवह्नि में (अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति में) लीन हो जाता है।

78. (उपर्युक्त स्थिति में अवस्थित होने के) बाद में (परम प्रमाता के) संवेदन की महान् बिन्दुसत्ता (अर्थात् परम परामर्श दशा) के द्वारा मुक्त हुआ और (इसके फलस्वरूप) संहार बीज में विश्रान्त हुआ योगी परम तत्त्व से समन्वित हो जाता है।

संविद् की अपेक्षा विमर्श को विश्रान्ति-स्थान क्यों माना गया है ?

79. संविद्-स्पन्द (अर्थात् विमर्श) अन्तः और बाह्य तथा दोनों में (अर्थात् आन्तर-बाह्य स्थिति में), सामान्य और विशेष-रूप से सुन्दर (इच्छा, ज्ञान, क्रिया के) शक्तित्रय के स्वभाववाला तथा संकोच और विकास के स्वभाव वाला है।

वह संवित्स्पन्द ही सभी विशेषों को अपने में आत्मसात् करने के कारण परम शिव की दशा में आन्तर तथा सामान्यात्मा है एवं इस स्थिति में उसका बोध अहं के रूप में होता है। माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त भेदों को उल्लसित करने के कारण वह बाह्य तथा विशेषात्मा है। इस स्थिति में उसका बोध 'इदम्' के रूप में होता है। आन्तर एवं बाह्य तथा 'अहम्' और 'इदम्' की जब समान-रूप में अनुभूति होती तब वही स्पन्द सामान्य-विशेषात्मा होता है। शिवतत्त्व की स्थिति में अथवा 'अहम्' की अनुभूति में संवित् का स्पन्दन विकासशील है, 'इदम्' की अनुभूति में वह संकोचशील तथा 'अहमिदम्' की स्थिति में संकोचविकासात्मा।

यदि संविद् के स्पन्द का स्वभाव संकोच और विकासरूप से अनेक प्रकार का है तो वह जड़ हो जायगा और इस तरह किसी का भी विश्रान्ति-स्थान नहीं बन सकेगा :-

80. (संवित्-स्पन्द वस्तुतः) संकोच और विकास वाला नहीं है फिर भी वह अपनी आभासनशक्ति (अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति) के कारण उस (संकोच और विकास) रूप में दिखाई देता है। बाह्य विषयों को देखने वाला (अर्थात् बाह्य विषयों में आसक्त रह कर स्वरूप-परामर्श करने वाला योगी) आन्तरिक लक्ष्य वाला है (अर्थात् अहंपरामर्श-रूप संविद्-तत्त्व में एकाग्रचित्त है) वह परम पद को प्राप्त करता है।[34]

81. इसीलिए अपने स्वातन्त्र्य से उत्थापित विविध भावविषयों का विमर्शन ही विशेष नामक स्पन्द है (और उन-उन अर्थक्रियाओं को करने के तारतम्य के अनुसार उसी की) औन्मुख्य संज्ञा (भी) है।

82. 'मन्त्रमण्डल' में जो वीर्य है उसमें विश्रान्ति प्राप्त करना चाहिये।[35] क्योंकि उन-उन रूपों से तादात्म्य स्थापित करने से ही भ्रान्ति आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

83. बोध और स्वातन्त्र्य के अभिधानवाला तथा दिव्य वह जो इन्द्रिय-समूह है वह बिना बन्द हुए ही (अपने व्यापार में प्रवृत्त रहता हुआ भी) इस जगत् को आत्ममय कर लेता है (अर्थात् जगत् को संविन्मात्र के रूप में देखता है)।

84. महासाहस (चकित मुद्रा) के संयोग से (इन्द्रियों की) समस्त वृत्तियों को विलीन कर लेने वाला अपनी इन्द्रियों के समूह के (स्वात्मा में) संघटित होने पर पूर्ण-स्वरूप को प्राप्त करके स्थित रहता है।

85. कुछ भी न सोचने वाला वह साक्षात् ज्ञानी संविद् को प्राप्त कर लेता है (अर्थात् परतत्त्व में उसका प्रवेश हो जाता है) जिससे (निकले हुए) विस्फुलिंग संसार-भस्म की दाहकता के कारण बनते हैं।

86. 'त्रिशिरोभैरवागम' में परमेश ने कहा है-कि हे देवि। सुनो, मैं मन्त्रभूमि (परतत्त्व) में प्रवेश को कहूँगा।

मन्त्रभूमि क्या है ?

87. मध्यनाड़ी के द्वारा ऊपर जाना ही उस (मध्यभूमि) के (निरावरणत्व, निर्विकल्पत्व आदि) धर्मों की प्राप्ति का लक्षण है। (यह भूमि) विसर्ग के अन्तिम पद (अर्थात् द्वादशान्त पद) से अतीत है तथा इसी को अन्तिम कोटि (अर्थात् पराकाष्ठा)[36] के रूप में निरूपित किया गया है।

88-90. अधः-प्रवाह (अपान) के रोकने तथा ऊर्ध्वक्षेप (प्राण) को अवरुद्ध करने के कारण परम धाम (मध्यम) में, 'मात्रा'[37] की बार-बार गणना के द्वारा[38], उदयप्रधान ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले महाप्रकाश की अनुभूति करके पुर (पूर्ण मन्त्रभूमि) में प्रवेश करे। वह शिवात्मिका वृत्ति शान्त, तत्तत् रूप से उल्लसित विश्वमय एक एवं 'चतुर्विंशारक' षट्चक्रों से समुज्वलित है।

90-91. 'ख'[39] (भूमि अथवा स्वातन्त्र्य) का अवलम्बन लेकर, 'ख' (अणु) में स्थित, 'ख' (पूर्ण आत्मस्वरूप) का विचार करे। क्योंकि 'ख' (रति) में स्थित चित्त से, 'ख' (कुलमूल) में स्थित, 'ख' (प्राणरूप शक्ति) का उच्चारण करे। 'ख' (क्रियाशक्ति-प्रमेयभूमि) और 'ख' (ज्ञानशक्ति-प्रमाणभूमि) को छोड़कर तथा 'ख' (इच्छाशक्ति स्वविमर्शमात्रभूमि) को अधिकारपूर्वक आक्रान्त करके, 'ख' (चित्ति) में प्रवेश करे। (इस प्रकार करने से) उन-उन इन्द्रियों की (चिद्रश्मिरूप) वृत्तियाँ पद (तुर्यातीतदशा) में अधिष्ठित हो जाती हैं।

92. भाव (प्राण) और अभाव (अपान) के अवरोध (साम्यावस्था)[40] का साक्षात्कार करने वाला (बहिरुन्मुखता के अभाव के कारण) स्वरूपनिष्ठ एवं स्वात्मनिष्ठ[41] योगी प्राण-अपान के क्षोभ को छोड़कर आन्तरिक सत्ता में ध्यान करे।

'ख' शब्द के विविध दश अर्थ :-

उच्चारोच्चार के लक्षण वाला यह 'ख' दश प्रकार का (श्रीत्रिशिरोभैरव[42] में कहा गया है। आत्मा (परमात्मा), अणु (संकुचित आत्मा), कुलमूल (प्राणशक्ति का उत्पत्ति स्थान), शक्ति (मध्यमप्राणवाहिनी-शक्ति), भूति (स्वातन्त्र्यरूप ऐश्वर्य), चित्ति (परा संविद्), रति (आसक्ति) तथा द्रष्टृ और दृश्य से उपरक्त (क्रमशः ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ) तीनों शक्तियाँ एवं उससे रहित (अर्थात् इच्छा शक्ति) तीनों शक्तियाँ।

न केवल 'ख' शब्द से अपितु अन्य शब्द से भी यहाँ दश प्रकार का अर्थ बताया गया है :-

94-95. धाम (भूति अथवा स्वातन्त्र्य) के उदर के द्वारा संपुटित किये गये, धाम (अणु) में स्थित, धाम (कुलमूल) के मध्य में स्थित, धाम (प्राणशक्ति), धाम (अर्थात् रति) के द्वारा धाम (अर्थात् आत्मा) का धाम (परा संवित्) की पराकाष्ठा में साक्षात्कार करे। इसके फलस्वरूप धाम (क्रियाशक्ति) की गति के द्वारा, धाम (अर्थात् ज्ञानशक्ति) त्याज्य है। और इसके बाद आन्तरिक धाम (अर्थात् इच्छा-शक्ति त्याज्य है)

परतत्त्व में प्रवेश करने के दूसरे भी अनेक उपाय हैं किन्तु उनमें से इस आणवोपाय को रहस्य के रूप में क्यों प्रस्तुत किया गया है ?

96-97. भेद और उपभेद के भेदों से युक्त (जो अन्य) भेद-(उपाय) हैं वे मध्यम हैं (अर्थात् आणवोपाय की तरह उत्तम नहीं हैं। (अन्त में इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि परतत्त्व में) प्रवेश का यह आणवोपाय इस प्रकार है जिसे मेरे हृदय में स्थित श्रीमहेश्वर ने कहा है।

97-98. सभी ओर से शक्तिमान् तथा सभी का विश्रान्ति-स्थान (परावाक्-स्वरूप) यह जो विमर्शात्मा ध्वनि है वह हृदय, कण्ठ तथा तालु से उत्पन्न होता है (अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप है, उनमें से प्रत्येक) स्थूल, सूक्ष्म तथा पर है। अतः इस (प्रकाश के जीवित-भूत) ध्वनि को 'श्रीब्रह्मयामल' में दश प्रकार का बताया गया है।[43]

इसी में चित्त को एकाग्र करने से परमार्थ-स्वरूप की सिद्धि होती है:-

99-100. (उत्तरोत्तर) राव को वश में करने वाला महायोगी राव को संक्रमित करे (जिसके फलस्वरूप) वह परम देह में प्रविष्ट हुआ (एक-दूसरे से उत्कृष्ट स्वरूप में अवस्थित होकर) परम व्याप्ति (पारमार्थिक स्वरूप) को प्राप्त करता है। (इसलिए) प्रतिदिन तब तक उसका अभ्यास करना चाहिये, जब तक कि वह राविणी (परवाग्रूपविमर्शशक्ति) राव से अराव (अहं परामर्श-रूप आत्मा) में लीन नहीं हो जाती।

100-104. यहाँ (आणवोपाय में) अभ्यास के द्वारा, (उच्चारण, करण आदि) देहगत उपायों के माध्यम से परम तत्त्व में प्रवेश करने के इच्छुक (योगी में) पूर्णता के स्पर्श से पहले आनन्द की उत्पत्ति होती है उसके बाद विजली के गिरने की तरह देह से वर्जित धाम में क्षणभर के समावेश से स्पष्ट ही ऊर्ध्व-गमन होता है।

जल और धूल की तरह से संविद् और देह के ऐक्य के अभ्यास की हानि के कारण स्वात्म के बल (अहंता-रूपी वीर्य) के आक्रमण से देह (के प्रति आत्माभिमान) शिथिल हो जाता है। इसलिए उस (देह) में (आत्माभिमान की) दृढ़ता को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सबसे पहले देह की (संवित् के साथ एकरूपता निवृत्त हो जाने पर) किसी आन्तरिक अनुभव के उदित न होने से, संवित्-रूप में उस अनुभव के पुनः उत्पन्न न होने तक वह निद्रायमाण हो जाता है।

104-05. इसके बाद (परसंविद्रूप) सत्यपद में आरूढ़ हुआ (योगी) सम्पूर्ण जगत् के सहित संवित् को ऐक्य रूप में समझते हुए विचरण करता है (अर्थात् स्पन्द दशा में अधिष्ठित होता है)। क्योंकि (स्पन्ददशा में अवस्थित योगी का) यही भ्रमण महाव्याप्ति माना गया है।

परतत्त्व में प्रवेश पाने के इच्छुक योगी के कम्प आदि दश[44] लक्षण हैं। परन्तु यहाँ उन सबको बताये बिना परतत्त्व में प्रवेश कैसे मान लिया गया है ?

105-06. आत्मा में अनात्मा का अभिमान तथा देह आदि अनात्म में आत्मा का अभिमान होने पर बन्ध (कहा जाता है) तथा उस (दोनों प्रकार के अभिमानों) का लीन होना मुक्ति[45] है।

बन्ध दो प्रकार का माना गया है-आत्मा में अनात्मा का अभिमान और अनात्म में आत्मा का अभिमान। इसी का नाम आणवमल है।[46] यही कार्म और मायीय मलों का कारण होने से संसार का मूल है।[47]

शङ्का-द्विधाभिमान का लय क्या क्रम से होता है अथवा प्रकारान्तर से?

106-07. पहले अनात्म में आत्मा के अभिमान के लीन हो जाने पर तथा (बाद में) आत्मा में अनात्मा के अभिमान के नष्ट हो जाने पर आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है (और तभी) महाव्याप्ति (अर्थात् पूर्णता) का उदय होता है।

शास्त्र-प्रमाण :-

107-08. इसीलिए आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा और पाँचवे घूर्णि को इस प्रकार 'श्रीमालिनीविजयोत्तर'[48] में कहा गया है।

108-09. जब योगी (पूर्व-) प्रदर्शित इस आनन्द आदि पञ्चक में प्रवेश करता है तब हठात् (स्वयं ही) उन-उन चक्रों के ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है।

109-10. जिस प्रकार सर्वव्यापी ज्ञान से आक्रान्त शरीर कहीं किसी (के अनुभव) को करने में समर्थ होता है (जैसे) आँख से रूपज्ञान, उसी प्रकार किसी (नियत) चक्र में प्रवेश करने से (आनन्द आदि में से निश्चित) कोई (एक अनुभव विशेष ही) सम्भव होता है।

कौन किसका चक्र है?

111. वह्न्यश्रि (तीन कोणों वाला योगिनी का मुख) आनन्द का एवं

कन्द उद्भव का चक्र कहा जाता है। हृदय कम्प का, तालु निद्रा का और ऊर्ध्वकुण्डली घूर्णि का (चक्र) है।

शास्त्र प्रमाणः-

112-13. और ऐसा 'श्रीमन्त्रैशिरस' ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

113-14. यह (नरशक्ति शिवात्मक) विश्व इस (अहं-परामर्श से युक्त परमहृदय) में लीन है और इसी (परम हृदय) में (नीरक्षीर की तरह से) अवस्थित समझा जाता है। पूर्ण शक्तिमान् भैरव की उस (पूर्वोक्त) संविद् का यही लक्षण है (कि उसी से विश्व उदित होता है और उसी में विलीन होता है)।[49]

लिङ्ग तीन प्रकार के माने गये हैं: - व्यक्त, व्याक्ताव्यक्त और अव्यक्त। इनमें से अव्यक्त को परासंविद् कहा गया है। तब शेष दो लिङ्ग भी क्या उसी संविद् के विस्फार है अथवा नहीं? इस शंका का समाधान है :-

114-16. देह (आदि) में आत्माभिमान के रहने पर भी जो स्पष्ट (परतत्त्व) में समावेश है वही यह व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग है। (अव्यक्त से इसका वैशिष्ट्य यह है कि) यह अहन्ता से आच्छादित और बाहर उल्लसित होने वाले भाव-पदार्थों के इदंभाव से युक्त है (अर्थात् 'इदम्-अहम्' ऐसी प्रतीत वाला है)। यह नर और शक्ति के समुन्मेषण (के स्वभाव) वाला है। (इसलिए) शिवरूप (अर्थात् शुद्ध अहंपरामर्शरूप) से विच्छिन्न है। (यह) मन्त्रवीर्य है[50] (अर्थात् इस दशा में अधिष्ठित मन्त्र अपने योग्य फल को देने में समर्थ होता है) तथा परापर (अर्थात् शक्तिप्रधान है)।

न केवल व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग अपितु व्यक्तलिङ्ग भी संवित् का स्फार है:-

116-17. जिसमें पराद्वयरूप अहंता-परामर्श को गौण बना दिया गया है, जो बाह्यरूप से स्फुरित होने वाला तथा विशेष स्पन्दनरूप (विमर्श) है वही (चिदात्मक व्यक्त लिङ्ग) है।

न केवल इन तीनों लिङ्गों के स्वरूप में भेद है अपितु फलों में भी भेद है:-

117. व्यक्त (लिङ्ग) से सिद्धि[51] की उत्पत्ति होती है। व्यक्ताव्यक्त से मोक्ष तथा अव्यक्त से परम (तत्त्व) के आदिबल की प्राप्ति होती है। अनुत्तर में तो इस (सिद्धि आदि) की चर्चा ही (प्रासङ्गिक) नहीं है। (क्योंकि वह पूर्ण और निराकांक्ष है)।

पहले लिङ्ग में ही बाद वाले की विश्रान्ति होनी चाहिये, न कि इससे विपरीत क्रम में- इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं:-

118. आत्मा नामक एवं नरप्रधान इस व्यक्तलिङ्ग में विश्व को अर्पित करने पर (अर्थात् 'इदम्' को 'अहम्' रूप में अनुभव करने पर) व्यक्ताव्यक्त (लिङ्ग होता है) तथा उस (व्यक्ताव्यक्तलिङ्ग) से उस (विश्व) के गल जाने पर वह अव्यक्त लिङ्ग होता है।

119. इस प्रकार यह आत्मलिङ्ग, शिवशक्ति के अणुस्वभाव से युक्त परम अव्यक्त में विश्रान्त होता है। (इस अव्यक्त लिङ्ग के) अनुत्तरधाम में प्रवेश की कोई चर्चा नहीं है (क्योंकि अनुत्तरधाम ही लिङ्गत्रय के रूप में स्फुरित होता है और वह हमेशा उनमें विद्यमान रहता है)।

120. एक (अनुत्तर) स्पन्दन के ही यह (व्यक्तादि) तीन प्रकार (के लिङ्ग), भेद-रूप में परिस्फुरित होते हैं। इसलिए (बाह्य) पूजा से विरत होकर इस (अनुत्तर) लिङ्ग में सदा अवस्थित रहे।[52]

इसमें विश्रान्त होने का क्या फल है ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं:-

121. योगिनी-हृदय (नामक) एवं आनन्द[53] सुन्दर यह लिङ्ग बीज और योनि (अर्थात् शिव और शक्ति) के ऐक्य के द्वारा किसी संवित् (अर्थात् परा संविद्) को उत्पन्न करता है।[54]

लिङ्ग-पूजा में विश्रान्त रहने से पूर्वोक्त परा संविद् की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

122. यहाँ यह सभी देवता-समूह आनन्द पूर्ण धाम में नित्योदित एवं चिदात्मकरूप में बिना किसी प्रयत्न के विश्रान्त रहता है।[55]

123. इसी (लिङ्गपूजा) में पूर्णप्रकाश असंकोचविकासी भैरवनाथ की संकोच और विकास से युक्त (अर्थात् सदा ही सृष्टि एवं संहार करने वाली) दुर्घट (स्वातन्त्र्य नामक) शक्ति भासित होती है।

124. इस (अनुत्तरधाम-रूप) लिङ्ग में ऐकात्म्य वाले विसर्ग (स्वातन्त्र्य नामक कौलिकीशक्ति) की आनन्दधारी[56] के द्वारा, (बाह्यरूप से आभासित होने वाला) सद् विश्व सदा ही नूतन रूप में आभासित होता है (अर्थात् सृष्टि-संहार का क्रम निरन्तर चलता रहता है)।

भेदात्मक विकल्प-संस्कारों को धारण करने के कारण बुद्धि, ध्यान आदि

स्पष्टतः आणवोपाय हैं किन्तु परतत्त्व में प्रवेश कराने वाला, निर्विकल्पस्वरूप होने के कारण, आणवोपाय नहीं हो सकता फिर उसका यहाँ निरूपण क्यों किया जा रहा है?

125. **यहाँ (आणवोपाय को प्रकाशित करने वाले आह्निक में भी) अनुत्तर तत्त्व की प्राप्ति के इस उपाय को, तद्रूप (अनुत्तर अभ्युपाय-रूप होने के कारण वर्णित किया गया है)। दीपकों के प्रज्वलित होने पर भी क्या सूर्य प्रकाशित नहीं होता है?**

जिस प्रकार वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए संकुचित प्रकाश वाले दीपों के रहने के साथ ही यदि महाप्रकाश सूर्य भी विद्यमान रहता है तो इससे वस्तु के प्रकाशन में कोई दोष अथवा विरोध उत्पन्न नहीं होता क्योंकि अन्ततोगत्वा दीपक और सूर्य दोनों ही प्रकाशक हैं। उसी प्रकार भेद-मूलक एवं विकल्पात्मक आणवोपाय के सन्दर्भ में निर्विकल्प और पूर्ण उपाय की उपस्थिति से अनुत्तर तत्त्व के प्रकाशन में कोई हानि नहीं होती है। विकल्पसंस्कारात्मक आणवोपाय दीपक की भाँति है और अनुत्तर उपाय सूर्य की भाँति।

आणव आदि उपायों का मिलाजुला उपदेश न करके अलग-अलग आह्निकों में उपदेश क्यों किया गया है?

126. **(नीलादि) विषयों का भोग करने पर उससे उत्पन्न होने वाले दुःख अथवा सुख में चित्त को लगाने वाले, शंकाओं को निर्मूल करके (स्वाप्निक वस्तुओं की तरह उन वस्तुओं को असत्य मान कर उनकी अधीनता में) प्रवेश न करते हुए (योगी बाह्य) वृत्तियों के क्षय हो जाने पर आन्तरिक सुख का अनुभव करते हैं (अर्थात् बाह्री व्यवहार का निर्वाह करते हुए भी स्वात्ममात्र में विश्रान्त रहते हैं)[57]**

127. **आत्मा चित्-स्वभाव से प्रकाशित है। अन्तःकरण (संकुचित ज्ञान एवं कर्तृत्व के द्वारा) उस (चिद्रूप-आत्मा) का उपकार करता रहता है तथा इन्द्रिय-वर्ग भी उस (अन्तःकरण) के अध्यवसाय (प्रचार), निश्चयादि बुद्धिव्यापार) में बुद्धिप्रमाता की अवस्था में) लगा रहता है, तथा (देहप्रमाता की अवस्था में) सुखादि पदार्थों का भिन्नतया भान होता है। यह होने पर भी योगी भेद (प्रमातृप्रमेयरूप बाह्य क्षोभ) को बन्जर बनाकर, समग्र चिद्रश्मियों के वैभव से युक्त होकर (अर्थात् पूर्ण अद्वैतदृष्टि रखकर) स्थित रहता है। उस परमार्थरूप का संचय करो।**

परप्रमाता, बुद्धिप्रमाता, देहप्रमाता की क्रमशः अभेद, भेदाभेद तथा भेद की विभिन्न स्थितियों में पूर्णतया स्वरूपमात्रनिष्ठ बना रहना ही पारमार्थिक रूप अथवा भैरव मुद्रा है। बाह्य विषयों से अथवा भेद से सर्वथा असंस्पृष्ट रहकर आत्मसुख में निरन्तर विश्रान्त रहना ही गीता (5.21) में ब्रह्मयोग कहा गया है। इसी का उपबृंहण उपर्युक्त कारिका में किया गया है।

अब करण का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है:-

128. (पूर्वोक्त रूप में) उच्चार की विधि बताई गई (और अब) करण का विवेचन किया जाता है। और उस (करण) को परमेश्वर ने 'त्रिशिरःशास्त्र' में इस प्रकार कहा है।

129-30. ग्राह्य (प्रमेय) ग्राहक (प्रमाता) चित् (संवित्ति), व्याप्ति[58] (विश्वात्मता) त्याग[59], आक्षेप[60] और निवेशन (संनिवेश) इन सात प्रकारों[61] से करण अर्थात् ज्ञानपूर्वक अभ्यास को बताया गया है। वह करण (विश्व का) व्याप्तिपूर्वक आक्षेप करने से आत्मविश्रान्तिरूप है।

इस प्रकार पहले प्रदर्शित किये गये उच्चार (आदि) की विश्रान्ति का जो परम हृदय है वह, नर, शिव और शक्ति के अविभाग की तरह अव्यक्त लिङ्ग (कहा जाता) है।

यहाँ इसका विभाजन करके क्यों नहीं बताया गया?

130-31. और यद्यपि करण को स्पष्ट रूप से गुरु के मुख से जानना चाहिये (क्योंकि वह अनुभवात्मक है) तथापि आगमों की रक्षा के लिये उन (ग्राह्यादि करणों के स्वरूप) का वर्णन आगे[62] किया जाएगा।

वर्णतत्त्व का विवेचन:-

131-32. यह जो (प्राणरूप) उच्चार बताया गया है (द्र. तंत्रा, 5.17) उस (उच्चार) में जो स्फुरित होने वाला है[63], अव्यक्त स्वभाव का वह नाद[64] वर्ण कहा जाता है और उसका प्रमुख शरीर (अर्थात् अभिव्यक्तिस्थान) सृष्टिबीज और संहारबीज को माना जाता है।

133. उस (नाद) के अभ्यास के कारण योगी क्रमशः चिद्रूपता को प्राप्त होता है। क्योंकि स्वर से रहित अथवा स्वर के सहित ककार से प्रारम्भ कर सकार पर्यन्त (वर्णकलाप के) बार-बार उच्चारित करने अथवा स्मृत करने पर तत्तत् संवित् उत्पन्न होती है।

मन्त्रवर्ण की भाँति लौकिक वर्ण भी वाच्यार्थ का साक्षात्कार करा देते हैं:-

134-35. **बाह्य वस्तु एवं रूढि (संकेत) की अपेक्षा रखने वाले जो घटादि शब्द हैं वे भी (वस्तु के न रहने पर भी) अर्थ का साक्षात्कार आत्मा में मनोराज्य की भाँति, करा देते हैं।**

काम या शोक के कारण व्यक्ति जब कान्ता का स्मरण[65] करता है तो उसके न रहने पर भी उसका साक्षात्कार कर लेता है।[66] दिवास्वप्न, स्वप्न अथवा विभिन्न उत्प्रेक्षाएँ एवं विकल्पनाएँ मन का ही साम्राज्य हैं जिनमें मन बाह्य वस्तु की अपेक्षा किये बिना उनका साक्षात्कार कर लेता है। अतः लौकिक शब्द वस्तु के बिना भी अर्थ की भावना कर लेते हैं। मन्त्र के वर्ण लोकोत्तर हैं, उनके द्वारा तो अविद्यमान वस्तु का साक्षात्कार सहज सम्भव है।

आगम भी उपर्युक्त मत की ही पुष्टि करते हैं:-

135-36. **परमेश्वर ने वैसा कहा है कि भैरव अखिल (जगत्) में व्याप्त है। ऐसे भैरव शब्द का निरन्तर उच्चारण करने से (मध्य धाम में हृदय से द्वादशान्त तक परामर्श करने से योगी) शिव हो जाता है।[67]**

भैरव शब्द के उच्चारण से शिवैक्य की अनुभूति भले ही हो परन्तु स्मरण से ऐसा कैसे हो सकता है?

136. **'श्रीमन्त्रैशिरस्' में भी मन्त्रोद्धार[68] के पूर्व ही (भगवती के द्वारा प्रश्न करने पर[69] उसके समाधान के लिए भगवान् ने इस स्मरण के स्वरूप को) कहा है।**

137. **और स्मरण ही स्मृति है। (यह स्मरण वाच्य और वाचक रूपों में स्फुरित होने वाले) सभी भावविषयों में पहले रहने वाला एवं वास्तव में मन्त्रस्वरूप है। (क्योंकि) वह (मन्त्रस्वरूप) भावजगत् अर्थात् अनुभव-योग्य घट आदि) के स्वरूप को व्यवस्थापित करने वाला है।**

स्मरण अनुभव, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान के दूसरे प्रकारों से भिन्न है, वह प्रत्यवमर्शात्मक है, जिसमें अनुभूत अर्थ का ज्ञान तिरोहित नहीं होता। स्मरण परमेश्वर की ही शक्ति है। किसी वस्तु के स्वीकार या परिहार के मूल में यही स्मरणशक्ति विद्यमान है। इसीलिए कहा जाता है कि स्मरण से जन्य इच्छा से ही समग्र व्यवहार चलता है : स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्तते। इसी कारण स्मरण को 'पहले रहने वाला' (पूर्व) कहा गया है।

यह स्मरण सभी वस्तुओं का तत्त्वतः अभेदरूप में परामर्श (मनन) करता है।

अतः मन्त्रस्वरूप कहा गया है : तद्धि स्मरणं वस्तुवृत्तेन मन्त्रयति स्वाभेदेन विश्वं परामर्शति-इति मन्त्रः। यह अद्वैतभाव ही परम प्रमाता का स्वरूप है। अतः मन्त्र को परप्रमातृस्वरूप माना जाता है। सभी वस्तुओं का ऐकात्म्य यदि न हो तो स्मृति भी सम्भव नहीं है।[70]

138. स्मृति (स्मर्यमाण विषयों के) स्वरूप को अवभासित करने वाली है। अनेक आकार स्वरूपों के द्वारा सर्वत्र अवस्थित होकर सभी भावों को रंजित करने वाली (अर्थात् स्वकाल में स्पष्ट अवभासित करने वाली) है।[71]

139. (वह स्मृति) आत्मस्वरूप की प्राप्ति तथा पारमार्थिक संवित्ति है।[72] उसे (वस्तु के स्वरूप की) अभिव्यक्ति से अभिन्न जानो। वही परम सत्ता कही गई है।[73]

लौकिक घट आदि शब्दों के उच्चारण अथवा स्मरण से भी जब संवित् से ऐक्य की प्राप्ति हो जाती है तब सृष्टिबीज आदि की तो बात ही क्या :-

140. जो बीज पिण्डक समय (संकेत) की अपेक्षा के बिना ही संवित् को स्पन्दित कर देते हैं वे संवित् प्राप्ति के उपाय क्योंकर नहीं होंगे?

141. (संवित् से ऐक्य की अनुभूति होने के बाद अन्य कोई) वाच्य विषय न होने के कारण, स्वात्ममात्र में विश्रान्त संवित् स्पन्दरूप विस्फार के कारण तथा प्राण के (प्रमेयोन्मुख) प्रसार एवं निरोध के कारण बीज-पिण्डों में पूर्णता (अर्थात् निराकांक्षा) आती है।

142. सुख (चमत्कार) की सिसकारी की, (स्त्री आदि) की, (अरमणी होने पर भी) सम्यक् (संघटित वस्तु) की तथा समता की प्रथम संवित् का प्रथम संवेदन ही अनुत्तर संवित् का स्पर्श (अर्थात् परा संवित् का साक्षात्कार) है।

सुख, रमणीयता, औचित्य (सम्यक् संघटना) एवं साम्य की निष्कलुष एवं वेद्यशून्य प्रथम अनुभूति हमें परसंवित् का साक्षात्कार करा देती है।[74]

143. अत्यधिक विकासशील मध्यधाम में हृत, कण्ठ और ओष्ठरूप त्रिधाम की संहति वाला जो प्रवेश है वह चौदहवाँ है तथा पर ब्रह्म के स्वरूप से एकाकार हो जाने वाला है।

144. उसके बाद विसर्ग के उच्चारांश के जप में तत्पर (योगी शक्तिद्वादशान्त

और शिवद्वादशान्त) दोनों ही प्रकार के द्वादशान्त मार्गों को हृदय के साथ एकाकार कर लेता है।

145. कन्द (लिङ्गमूल), हृदय, कण्ठ, तालु का अग्रभाग से शक्तिद्वादशान्त एवं शिवद्वादशान्त) तक (विभिन्न आधारचक्रों को पार करते हुए) आनन्दस्वरूप मध्य नाड़ी के भीतर सृष्टिबीज को अनुत्तर से एकाकार करे।

146. संहारबीज 'ख' हृदय में स्थित है। फकार ओष्ठ्य, रेफमूर्धा में, एकार कण्ठ तालु में तथा बिन्दु द्वादशान्त में स्थित है।

वर्णतत्त्व की साधना का फल :-

147. वर्ण के जप में परायण ज्ञानी पण्डित इस उपर्युक्त युक्ति से परम अनुत्तरधाम में शीघ्र प्रविष्ट हो जाता है।

148-50. वर्ण शब्द से नील आदि (सामान्य अर्थ समझा जाना चाहिये) किंवा जैसा कि 'दीक्षोत्तर' (नामक ग्रन्थ) में (कहा गया है उसके अनुसार विशिष्ट अर्थ?-विशिष्ट अर्थ ही तन्त्र के अनुसार मानना चाहिये, यह अभिप्राय है)। रुद्र (एकार अथवा ओकार) और (अर्ध चन्द्र के सहित) बिन्दु से युक्त संहार (क्ष), ना (पुरुष अर्थात् म) अग्नि (र) और मरुत् (य) का, तन्मय होकर, हृदय में स्मरण करे। इसके फलस्वरूप सात दिनों के बाद से लक्ष्य को देखने लगेगा। चिनगारी वाली आग के समान नील, पीत रक्त आदि (अनेक वर्णों) से चित्रित एवं बीजदीप के द्वारा अभिव्यञ्जित (अर्थात् जो बीज है वही प्रकाश की तद्रूपता के कारण दीप है, ऐसे दीपक के द्वारा प्रबुद्ध बनाया गया) लक्ष्य हृत्कमल में प्रज्वलित होता है। (इस प्रकार) दीपक के समान और ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान प्रज्वलित हुआ बिन्दु (ज्ञाता-आत्मा) भासित होता है।[75]

उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति का फलः-

151. जिस प्रकार मोर के द्वारा बींधा हुआ तांबा सोना बन जाता है उसी प्रकार एकाग्रचित्त ज्ञानी स्वयं इस प्रकार शिव के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेता है।

नील, पीत आदि अनेक वर्णों के उदय के द्वारा आत्म-साक्षात्कार कराने की

शक्ति सभी मन्त्रों में होती है :-

152 (अ) यह तो संकेतमात्र (उपलक्षण) है। (वास्तव में स्वात्मसाक्षात्कार की सामर्थ्य) सभी मन्त्रों में होती है।

सभी मन्त्रों का फल सुनिश्चित होता है। अमृतबीज से मृत्यु का और कूरबीज से औषधि का फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एक मन्त्र के फल को दूसरे मन्त्र से कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसका समाधान :-

152-53. संकल्प से उत्पन्न जो भी भौतिक (मायीय) वर्णजाल है वह सब संविद् के आधिक्य के कारण है (अर्थात् उनमें संविद् का ही उद्रेक है। इसलिए भौतिक दीखते हुए भी) अभौतिक की तरह ही है।[76]

सभी मन्त्र उपाधि-रहित संविद् में विश्रान्त होने से तद्रूप हैं :-

153-54. इसलिए (मन्त्र के) उस (संविदात्मक) स्वरूप में स्थित निर्मल बुद्धिवाला (योगी) अनावृत्त स्वरूप वाली एवं उपाधि से शून्य संवित् में आरोहण करता है।

सभी मन्त्रों के स्वरूप में भेद है तब उनके द्वारा एक फल की प्राप्ति कैसे होगी ?

154-55. नील, पीत, सुख और दुख में गुरु (वामनदत्ताचार्य) ने अखण्ड संविद्रूप को बताया है। इसलिए उपायों में विचित्रता है (किन्तु उपेय में नहीं)।[77]

155-56. इन उच्चार, करण, ध्यान व वर्णों से स्पष्ट प्रदर्शित किया गया है कि उपायविधि का यह क्रम अनुत्तर पद की प्राप्ति में परिणत होता है।

156-57. शाम्भव (चिन्तनशून्यता) शाक्त (भावना) का, और शाक्त ध्यान का, तथा वह उच्चार का, और वह (उच्चार) करण का, वह वर्ण का, वह (वर्ण) स्थानकल्पना का वीर्य है। इस प्रकार से बाह्य क्रम को अपनाना चाहिये।

शाम्भव, शाक्त, ध्यान, उच्चार, करण, वर्ण, स्थानकल्पना इन विभिन्न उपायों में पूर्व-पूर्व उपाय उत्तरोत्तर उपाय की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। अतः उन्हें उत्तरोत्तर उपायों का वीर्य कहा गया है।[78]

शाम्भवादि उपायों को वीर्य कहने का कारण:-

158. जिस प्रकार वीर्य के बिना पुरुष नपुंसक होता है अथवा (चेष्टा आदि के आधार पर) उस (नपुंसक पुरुष) में भी वीर्य होता है, किन्तु

(शांभवादि उपायों के बिना) बाह्य एवं आन्तरिक (उपायों की) कल्पना मृतशरीर की तरह (सर्वथा निर्वीर्य) होगी।

आणव (उपाय के प्रसङ्ग) में अनुत्तरता का उपायभूत बाह्य नय (उच्चारादि) का स्पष्ट रूप में प्रतिपादन किया गया है।

-: (ई) सन्दर्भ :-

1. द्रष्टव्य - तंत्रा, 4.ट,

2. द्रष्टव्य -
यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता।। अप्रसि, 20.

3. वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तः स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।।ईप्रका, 1.5.1.

4. 'प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।' विवेक में उद्धृत

5. प्राणनाशक्ति के सम्बन्ध में देखिये तंत्रा, 6.13,14.

6. साक्षं सर्वमिदं देहं यद्यपि व्याप्य संस्थितः।,
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पंकजसमुद्गकम्।। विवेक, 5.20 में उद्धृत.

7. द्रष्टव्य -
न व्रजेन्न विशेच्छक्तिमरुद्रूपा विकासिते।
निर्विकल्पतया मध्ये तथा भैरवरूपधृत्।। विभै, 26 श्लोक.

8. (अ) सोमः प्रमेयम्। तंत्रावि, 4.124,
(ब) स एव .... प्रमाणदशामधिशयानः 'सूर्य' इत्युच्यते। वही,
(स) ..... प्रमाता तावत् भेदेन्धनदाहकत्वादग्निः। वही,
(द) सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते। विवेक 4.124 में उद्धृत.

9. कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः। तंत्रा, 4.160.

10. एक चित्तावृत्ति जिसको यहाँ वृत्तिचक्र कहा गया है, एक विषय का अनुसन्धान करती है जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का और चक्षु इन्द्रिय रूप का। एक चित्तवृत्ति द्वारा अपने विषय का अनुसन्धान करने पर दूसरी चित्तवृत्तियाँ भी सहायता के लिए आ दौड़ती हैं और इस प्रकार एक वृत्तिचक्र सर्वात्मक हो जाता है। जैसे कि सार्वभौम राजा द्वारा किसी विषय (राष्ट्र) पर आक्रमण करने पर दूसरे राजा उसकी सहायता के लिए आ पहुँचते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित उद्धरण द्रष्टव्य है :-
एकैकापि न चिद्वृत्तिर्यत्र प्रसरति क्षणात्।
सर्वास्तत्रैव धावन्ति ताः पुर्यष्टकदेवताः।। विवेक, 5.39 में उद्धृत.

---

11. यहाँ ध्यान की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं। प्रथम प्रशाम्यत् चक्र की है जिसमें विषयों की चेतना समाप्त हो जाती है, किन्तु उनके संस्कार शेष रहते हैं। द्वितीय अवस्था वह है जिसमें संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं, इसे शान्त चक्र कहा गया है। तीसरी अवस्था में शुद्ध संवित् का ही ध्यान होता है, न उसमें विषय रहते हैं और न संस्कार। प्रथम दो अवस्थाएँ सवेद्यसमाधि के समान हैं तो अन्तिम अवस्था अपवेद्य-समाधि के समकक्ष है।

12. विवेककार द्वारा उद्धृत मांगलशास्त्र का पूजा श्लोक इस प्रकार है:-

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयश्च जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः।।

13. अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः।। स्वतं, 4.292-93.

14. षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः। विभै, 156 श्लोक.। विवेककार ने इस उद्धरण में 'दिवारात्रौ' के स्थान पर वरारोहे' पाठ उद्धृत किया है।

15. स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु। ईप्रका, 2.1.7.

16. इस सम्बन्ध में और भी द्रष्टव्य, तंत्रा, 2.13.

17. यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।
सा तथैव विबुद्ध्येत गुरुणा प्रतिबोधिता।। विवेक, 5.54 में उद्धृत.

18. विवेककार ने पाणिनि सूत्र 1.2.67 के अनुसार यहाँ एकशेष द्वन्द्व माना है और 'भैरवयामलाम्' का अर्थ भैरव और भैरवी का समूह किया है। सृष्टि के प्रसङ्ग में यहाँ शक्ति (अर्थात् भैरवी) का प्ररोह माना गया है और संहार के प्रसङ्ग में शक्तिमान् (अर्थात् भैरव का)। इस प्रसङ्ग में और भी द्रष्टव्यः-

स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्। शिसू, 3.30,

त्रितयभोक्ता वीरेशः। वही, 1.11.

19. ऊर्ध्व कुण्डलिनी भूमि को ही विसर्ग कहते हैं। एतदर्थ द्रष्टव्य, तन्त्रा, 5.57-58.

20. अध्वा (शिव के प्रत्यभिज्ञान का आणव मार्ग) दो प्रकार का होता है - शब्द और अर्थ। शब्द के तीन प्रकार होते हैं - वर्ण, मन्त्र और पद तथा अर्थ के भी तीन प्रकार होते हैं- कला, तत्त्व और भुवन। इन दो त्रिकों को ही मिलाकर षडध्वमण्डल बनता है। एतदर्थ द्रष्टव्य तंत्रा, 6.36, कुलार्णवतंत्र, 13.76.

21. कारिका-संख्या 66 के बाद वाली कारिका में दो चरण ऐसे हैं जिन पर कोई संख्या अंकित नहीं है, जबकि इन दो चरणों के आगे 67वीं कारिका पूर्ण है।

22. (अ) विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते। तंत्रा, 3.143,

(ब) अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमाना विमर्शात्मा यासौ विसिसृक्षा, सैव निश्चितं बहिरौन्मुख्यलक्षणात् क्षोभवशात् विसर्गात्मकतामेत्य आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तम् प्रोच्छलन्तीं स्थितिमवभासयति। विवेक, 3.136,

(स) विस्तार के लिए द्रष्टव्य - तंत्रा, 3.136-48.

23. द्रष्टव्य - तंत्रा, 3.133-34, 136-37.

24. शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।। तंत्रा, 3.137.

25. शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते।। विभै, 69 श्लोक.

26. लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात् स्मृतेः।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः।। वही, 70 श्लोक.

27. यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्।। वही, 51 श्लोक.

28. सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत्।। वही, 109 श्लोक.

29. निराधारं भवेज्ज्ञानं निर्निमित्तं भ्रमात्मकम्।
तत्त्वतः कस्यचित्रैतदैवं-भावी शिवः प्रिये।। वही, 99 श्लोक.

30. एतत्रायोगिनीजातो नारुद्रश्चापि विन्दति। परात्री. श्लोक, 10.

31. मा किंचित्त्यज मा गृहाण। अनुत्तराष्टिका, 2.

32. द्रष्टव्य - ईप्रवि, 4.1.12.

33. तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः।
विमर्शः परमाशक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी।। विवेक, 5.77 में उद्धृत,

34. ज्ञान ही विभिन्न रूपों में प्रकाशित होता है। ज्ञान के अतिरिक्त वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं है। इस सम्बन्ध में कालिकाक्रम की उक्ति उल्लेखनीय है:-

तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत्।।
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते।। विवेक, 5.80 में उद्धृत.

35. द्रष्टव्य - अप्रसि, 15.

36. यन्निरावरणं संवित्सतत्त्वं कल्पनोज्झितम्।
तत् परं पुत्रि कथितं सा काष्ठा सा परा गतिः।। विवेक, 5.87 में उद्धृत.

37. सा च प्राणवहा ख्याता तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे। विवेक, 5.88 में उद्धृत.

38. उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम्।
ऊर्ध्वमुष्टित्रयं यावत्तावदन्ते महोदयः।। विभै, 29 श्लोक.

39. ख के दश अर्थों के लिए द्रष्टव्य, तंत्रा, 5.93 तथा उसका विवेक.

40. प्राणापानौ समौ यस्य साम्यावस्थानमागतौ।
निस्तरंगप्रकारेण भावाभावावरोधदृक्।। विवेक, 5.92 में उद्धृत.

41. ऊर्ध्वाधोगमविक्षेपरहितः करणेच्छया।
रूपं यस्य न हीयेत भावस्थो भावभासकः।।
स्वरूपप्रतिपन्नोऽसावन्तःकरणवर्जितः।
भावस्थं तं विजानीयात् ग्राह्यग्राहकविप्लवे।। विवेक, 5.92 में उद्धृत.

42. खमात्मा केवलं विद्यात् खमणुः सर्वदिक्कतः।
कुलमूलं तु खं ज्ञेयं खं शक्तिः परिपठ्यते।।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं च शक्तित्रितयं खं विदुः।।
निष्पन्नपरिणामेन खमभूतत्त्वलक्षणम्।। विवेक, 5.93 में उद्धृत.

43. पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी में से प्रत्येक स्थूल, सूक्ष्म तथा पर होता है। इस प्रकार 3x3=9 भेद हुए। इनका शक्तिभूत एवं विश्रान्तिस्थान परावाक् है जिसे मिलाकर दश भेद हुए।

44. दशावस्थाश्चिनोत्यन्तः शक्तितेजोपबृंहितः।
कम्पो भ्रमस्तथा घूर्णिः प्लवनं स्थिरतापि च।।
चित्प्रकाशस्तथानन्दो दिव्यदृष्टिश्चमत्कृतिः।
अवाच्यो दशमो भावः शिवतत्त्वे प्रवेशनात्।।
संस्पर्शः प्राप्यते यावत्तावन्मुक्तो भवार्णवात्। विवेक, 5.105 में उद्धृत.

45. (अ) अभिमानमात्रसारौ परिमितप्रमात्रपेक्षया बन्धमोक्षौ। पसावि, 60,
(ब) और भी द्रष्टव्य - ईप्रवि, 4.1.3.

46. (अ) स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।। ईप्रका, 3.2.4,
(ब) संकोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्। स्वतंटी, 10.1212.,
(स) द्रष्टव्य - पसावि, 24,
(द) विज्ञानभैरवविवृति (5.135) में पारिमित्य की प्रतीति को ही बन्धन माना गया है।

47. मलः कर्म-निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम्। स्वतं, 3.176.

48. अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः।
लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिक्रमादरात्।।
आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम्।। मावि, 11.34-35.

49. लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम्।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम्।। विवेक, 5.113 में उद्धृत.

50. न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।
पुंस्तत्त्वे जडतामेति परे तत्त्वे तु निष्फलः।।
शक्तौ मन्त्रो नियुक्तस्तु सर्वकर्मफलप्रदः। विवेक, 5.115 में उद्धृत.

51. प्रतिमापूजनाद्भुक्तिर्भुक्तिर्लिंगार्चनात् सदा।
मुखलिंगार्चनात्पुंसां भुक्तिमुक्ती प्रसिद्ध्यतः।। विवेक, 5.117 में उद्धृत.

52. मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्।

यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम्।।
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः। भावि, 18.2-3.

53. आनन्दस्यन्दि यद्गीतं सर्वप्रसवकारणम्।
उपस्थास्यैयमेतत्तु सौषुम्नं रूपमुच्यते।। विवेक, 5.121 में उद्धृत.

54. त्रिकोणमण्डलं पूज्यं शक्तित्रयसमन्वितम्।
तन्मध्ये चेतनं चिन्त्यं लिङ्गं वै पश्चिमामुखम्।।विवेक, 5.121 मे उद्धृत.

55. त्रिकोणे देवताः सर्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। विवेक, 5.122 में उद्धृत.

56. विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात्।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः।।तंत्रा, 3.144.

57. अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते। विवेक, 5.126 में उद्धृत.

58. विचार्यमाणं यत्किंचित्स्वरूपविभवात्मकम्।
संनिवेशं तु तज्ज्ञेयं तद्व्याप्तिरभिधीयते।। विवेक, 5.129 में उद्धृत.

59. स्वरूपं चिन्त्यमानोऽपि ग्राह्यप्राकारधर्मधीः।
त्यजेत्पूर्वपदाद्भेदात् त्यागं तु परिकीर्तितम्।। विवेक, 5.129 में उद्धृत.

60. पदस्थस्त्यागभागी च संवृतात्मपरस्य च।
आक्षेपं तं विजानीयात्सर्वत्रावस्थितं प्रिये।। विवेक, 5.129 में उद्धृत.

61. ग्राह्यं च ग्राहकं चैव संवित्तिं च तृतीयिकाम्।
संनिवेशं तथा व्याप्तिमाक्षेपं त्यागमेव च।। विवेक 5.129 में उद्धृत

62. (अ) करणं सप्तधा ख्यातमभ्यासं बोधपूर्वकम्।
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता।। तन्त्रा, 5.129-30

(आ) तंत्रा, 16.253-53 में ग्राह्य-ग्राह्य का, 1.21 में संवित्ति का, 15.338 में व्याप्ति का, 29.140 में त्याग और आक्षेप का और 32 आह्निक में सन्निवेश का स्वरूपवर्णन किया गया है।

63. नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनामुरसि स्थितः।। स्वतं, 7.59.

64. एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः।। तंत्रा, 6.217.

65. स्मरण की भाँति ही प्रत्यभिज्ञान, स्वप्न आदि हैं:
सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नादपि न तद्बहिः।। सरस्वतीकण्ठाभरण, 3.42.

66. इस सम्बन्ध में कालिदास उल्लेखनीय हैं:-
दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता।। अभिज्ञानशाकुन्तल, 6.21.

67. भ्रियात्सर्वं रचयति सर्वदो व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः।।विभै, 130

68. तत एव सकलसिद्धिवितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्यम्
आगमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते। ईप्रवि, 1.4.1.

69. अधुना श्रोतुमिच्छमि मन्त्रोद्धारस्य लक्षणम्। विवेक, 5.136 में उद्धृत.

70. सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्थास्त्वदात्मसात्कारसुरक्षिताः स्युः।
विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा काचित् 'स्मृतिर्नाम न संभवेत्तत्।। विवेक, 5.137 में उद्धृत.

71. भासयेच्च स्वकालेऽर्थापूर्वाभासितमामृशन्।
स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना।।ईप्रका, 1.4.2.

72. न च युक्तं स्मृतेर्भेदे स्मर्यमाणस्य भासनम्।
तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदितैष सः।। ईप्रका, 1.4.3.

73. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।। ईप्रका, 1.5.14.

74. क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव परमामृतम्।
सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु।। तंत्रा, 3.166-67.

75. आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्। ईप्रका, 1.5.15.

76. एवमेषां स्वरूपांशस्पर्शे शिवमयी स्थितिः।
तदनाच्छुरणं भिन्नसंसारस्थितिवर्तनम्।। विवेक, 5.152 में उद्धृत.

77. संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः। मावि, 2.25.

78. यो हि यस्मादुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते। वही, 2.60.

षष्ठ परिच्छेद

(अ) षष्ठ आह्निक का मूलपाठ

स्थानप्रकल्पाख्यतया स्फुटस्तु बाह्योऽभ्युपायः प्रविविच्यतेऽथ।।1।।
स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा।
प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः।।2।।
मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम्।
लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च।।3।।
इत्येकादशधा बाह्यं पुनस्तद्बहुधा भवेत्।
तत्र प्राणाश्रयं तावद् विधानमुपदिश्यते।।4।।
अध्वा समस्त एवायं षड्विधोऽप्यतिविस्तृतः।
यो वक्ष्यते स एकत्र प्राणे तावत्प्रतिष्ठितः।।5।।
अध्वनः कलनं यत्तत्क्रमाक्रमतया स्थितम्।
क्रमाक्रमौ हि चित्रैककलना भावगोचरे।।6।।
क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते।
काली नाम परा शक्तिः सैव देवस्य गीयते।।7।।
सैव संविद्बहिः स्वात्मगर्भीभूतौ क्रमाक्रमौ।
स्फुटयन्ती प्ररोहेण प्राणवृत्तिरिति स्थिता।।8।।
संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मनः प्रोह्य विविक्तं भासते नभः।।9।।
तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते।
नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परा दशा।।10।।
स एव खात्मा मेयेऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः।
पतन्समुच्छलत्त्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः।।11।।

तेनाहुः किल संवित्प्राक्प्राणे परिणता तथा।
अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।।12।।
इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता।।13।।
सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यै रूपैः पञ्चभिरात्मसात्।
देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते।।14।।
प्राणनावृत्तितादात्म्यसंवित्खचितदेहजाम्।
चेष्टां पश्यन्त्यतो मुग्धां नास्त्यन्यदिति मन्वते।।15।।
तामेव बालमूर्खस्त्रीप्रायवेदितृसंश्रिताम्।
मतिं प्रमाणीकुर्वन्तश्चार्वाकास्तत्त्वदर्शिनः।।16।।
तेषां तथा भावना चेद्दार्ढ्यमेति निरन्तरम्।
तद्देहभङ्गे सुप्ताः स्युरातादृग्वासनाक्षयात्।।17।।
तद्वासनाक्षये त्वेषामक्षीणं वासनान्तरम्।
बुद्धं कुतश्चित्संसूते विचित्रां फलसम्पदम्।।18।।
अदार्ढ्यशङ्कनात्प्राच्यवासनातादवस्थ्यतः।
अन्यकर्तव्यशैथिल्यात्संभाव्यानुशयत्वतः।।19।।
अतदूढान्यजनताकर्तव्यपरिलोपनात्।
नास्तिक्यवासनामाहुः पापात्पापीयसीमिमाम्।।20।।
अलमप्रस्तुतेनाथ प्रकृतं प्रविविच्यते।
यावान्समस्त एवायमध्वा प्राणे प्रतिष्ठितः।।21।।
द्विधा च सोऽध्वा क्रियया मूर्त्या च प्रविभज्यते।
प्राण एवं शिखा श्रीमत्त्रिशिरस्युदिता हि सा।।22।।
बद्धा यागादिकाले तु निष्कलत्वाच्छिवात्मिका।
यतोऽहोरात्रमध्येऽस्याश्चतुर्विंशतिधा गतिः।।23।।
प्राणविक्षेपरन्ध्राख्यशतैश्चित्रफलप्रदा।
क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति।।24।।
जीवादित्यो न चोद्गच्छेत्तुट्यर्धं सान्ध्यमीदृशम्।
ऊर्ध्ववक्त्रो रविश्चन्द्रोऽधोमुखो वह्निरन्तरे।।25।।
माध्याह्निकी मोक्षदा स्याद्व्योममध्यस्थितो रविः।
अनस्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः।।26।।

बिन्दुः प्राणो ह्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति।
महासन्ध्या तृतीया तु सुप्रशान्तात्मिका स्थिता।।27।।
एवं बद्ध्वा शिखा यत्र तत्तत्फलनियोजिका।
अतः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति।।28।।
अमूर्तायाः सर्वगत्वान्निष्क्रियायाश्च संविदः।
मूर्तिक्रियाभासनं यत्स एवाध्वा महेशितुः।।29।।
अध्वा क्रमेण यातव्ये पदे संप्राप्तिकारणम्।
द्वैतिनां भोग्यभावात्तु प्रबुद्धानां यतोऽद्यते।।30।।
इह सर्वत्र शब्दानामन्वर्थं चर्चयेद्यतः।
उक्तं श्रीमन्त्रिशाचारे संज्ञात्र त्रिविधा मता।।31।।
नैमित्तिकी प्रसिद्धा च तथान्या पारिभाषिकी।
पूर्वत्वे वा प्रधानं स्यात्तत्रान्तर्भावयेत्ततः।।32।।
अतोऽध्वशब्दस्योक्तेयं निरुक्तिर्नोदितापि चेत्।
क्वचित्स्वबुद्ध्या साप्यूह्या कियल्लेख्यं हि पुस्तके।।33।।
तत्र क्रियाभासनं यत्सोऽध्वा कालाह्व उच्यते।
वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्तेऽध्वत्रयं स्फुटम्।।34।।
यस्तु मूर्त्यवभासांशः स देशाध्वा निगद्यते।
कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम्।।35।।
त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं वपुः।
यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वा षड्विध उच्यते।।36।।
षड्विधादध्वनः प्राच्यं यदेतत्त्रितयं पुनः।
एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः।।37।।
तत्त्वमध्यस्थितात्कालादन्योऽयं काल उच्यते।
एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी।।38।।
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः।
एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते।।39।।
उद्रिक्ताभोगकार्यात्मविश्वैकात्म्यमिदं यतः।
एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल।।40।।
तत्प्रमातरि मायिये कालतत्त्वं निगद्यते।
शिवादिशुद्धविद्यान्तं यच्छिवस्य स्वकं वपुः।।41।।
तदेव पुंसो मायादिरागान्तं कञ्चुकीभवेत्।
अनाश्रितं यतो माया कलाविद्ये सदाशिवः।।42।।

ईश्वरः कालनियती सद्विद्या राग उच्यते।
अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः।।43।।
ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रामातृता।
अनाश्रयो हि शून्यत्वं ज्ञानमेव हि बुद्धिता।।44।।
विश्वात्मता च प्राणत्वं देहे वेद्यैकतानता।
तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते।।45।।
येन रूपेण तद्वच्मः सद्भिस्तदवधीयताम्।
द्वादशान्तावधावस्मिन्देहे यद्यपि सर्वतः।।46।।
ओतप्रोतात्मकः प्राणस्तथापीत्थं न सुस्फुटः।
यत्नो जीवनमात्रात्मा तत्परश्च द्विधा मतः।।47।।
संवेद्यश्चाप्यसंवेद्यो द्विधेत्थं भिद्यते पुनः।
स्फुटास्फुटत्वाद्द्वैविध्यं प्रत्येकं परिभावयेत्।।48।।
संवेद्यजीवनाभिख्यप्रयत्नस्पन्दसुन्दरः।
प्राणः कन्दात्प्रभृत्येव तथाप्यत्र न सुस्फुटः।।49।।
कन्दाधारात्प्रभृत्येव व्यवस्था तेन कथ्यते।
स्वच्छन्दशास्त्रे नाडीनां वाय्वाधारतया स्फुटम्।।50।।
तत्रापि तु प्रयत्नोऽसौ न संवेद्यतया स्थितः।
वेद्ययत्नात्तु हृदयात्प्राणचारो विभज्यते।।51।।
प्रभोः शिवस्य या शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका।
सतदन्यतमावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ।।52।।
प्रभुशक्तिः क्वचिन्मुख्या यथाङ्गमरुदीरणे।
आत्मशक्तिः क्वचित्कन्दसंकोचस्पन्दने यथा।।53।।
प्राणशक्तिः क्वचित्प्राणचारे हार्दे यथा स्फुटम्।
त्रयं द्वयं वा मुख्यं स्याद्योगिनामवधानिनाम्।।54।।
अवधानाददृष्टांशाद्बलवत्त्वादथेरणात्।
विपर्ययोऽपि प्राणात्मशक्तीनां मुख्यतां प्रति।।55।।
वामा संसारिणामीशा प्रभुशक्तिर्विधायिनी।
ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धानां बुभुत्सूनां च रौद्रिका।।56।।
वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यतः।
द्रावयित्री रुजां रौद्री रोद्धी चाखिलकर्मणाम्।।57।।
सृष्ट्यादितत्त्वमज्ञात्वा न मुक्तो नापि मोचयेत्।
उक्तं च श्रीयोगचारे मोक्षः सर्वप्रकाशनात्।।58।।

उत्पत्तिस्थितिसंहारान् ये न जानन्ति योगिनः।
न मुक्तास्ते तदज्ञानबन्धनैकाधिवासिताः।।59।।
सृष्ट्यादयश्च ते सर्वे कालाधीना न संशयः।
स च प्राणात्मकस्तस्मादुच्चारः कथ्यते स्फुटः।।60।।
हृदयात्प्राणचारश्च नासिक्यद्वादशान्ततः।
षट्त्रिंशदङ्गुलो जन्तोः सर्वस्य स्वाङ्गुलक्रमात्।।61।।
क्षोदिष्ठे वा महिष्ठे वा देहे तादृश एव हि।
वीर्यमोजो बलं स्पन्दः प्राणचारः समं ततः।।62।।
षट्त्रिंशदङ्गुले चारे यद्गमागमयुग्मकम्।
नालिकातिथिमासाब्दतत्सङ्ख्योऽत्र स्फुटं स्थितः।।63।।
तुटिः सपादाङ्गुलयुक्प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन्।
निःश्वसंश्चात्र चषकः सपञ्चांशेऽङ्गुलेऽङ्गुले।।64।।
श्वासप्रश्वासयोर्नाली प्रोक्ताहोरात्र उच्यते।
वाङ्गुलाम्बुधितुटौ प्रहरास्तेऽब्धयो दिनम्।।65।।
निर्गमेऽन्तर्निशेनेन्दू तयोः संध्ये तुटेर्दले।
केतुः सूर्ये विधौ राहुर्भौमादेर्वारभागिनः।।66।।
प्रहरद्वयमन्येषां ग्रहाणामुदयोऽन्तरा।
सिद्धिर्दवीयसी मोक्षोऽभिचारः पारलौकिकी।।67।।
ऐहिकी दूरनैकट्यातिशया प्रहराष्टके।
मध्याह्नमध्यनिशयोरभिजिन्मोक्षभोगदा।।68।।
नक्षत्राणां तदन्येषामुदयो मध्यतः क्रमात्।
नागा लोकेशमूर्तीशा गणेशा जलतत्त्वतः।।69।।
प्रधानान्तं नायकाश्च विद्यातत्त्वाधिनायकाः।
सकलाद्याश्च कण्ठ्योष्ठ्यपर्यन्ता भैरवास्तथा।।70।।
शक्तयः पारमेश्वर्यो वामेशा वीरनायकाः।
अष्टावष्टौ ये य इत्थं व्याप्यव्यापकताजुषः।।71।।
स्थूलसूक्ष्माः क्रमात्तेषामुदयः प्रहराष्टके।
दिने क्रूराणि सौम्यानि रात्रौ कर्माण्यसंशयम्।।72।।
क्रूरता सौम्यता वाभिसन्धेरपि निरूपिता।
दिनरात्रिक्षये मुक्तिः सा व्याप्तिध्यानयोगतः।।73।।
ते चोक्ताः परमेशेन श्रीमद्वीरावलीकुले।
सितासितौ दीर्घह्रस्वौ धर्माधर्मौ दिनक्षपे।।74।।

क्षीयेते यदि तद्दीक्षा व्यास्या ध्यानेन योगतः।
अहोरात्रः प्राणचारे कथितो मास उच्यते।।75।।
दिनं कृष्णो निशा शुक्लः पक्षौ कर्मसु पूर्ववत्।
याः षोडशोक्तास्तिथयस्तासु ये पूर्वपश्चिमे।।76।।
तयोस्तु विश्रमोऽर्धेऽर्धे तिथ्यः पञ्चदशेतराः।
सपादे द्वयङ्गुले तिथ्या अहोरात्रो विभज्यते।।77।।
प्रकाशविश्रमवशात्तावेव हि दिनक्षपे।
संवित्प्रतिक्षणं यस्मात्प्रकाशानन्दयोगिनी।।78।।
तौ क्लृप्तौ यावति तया तावत्येव दिनक्षपे।
यावत्येव हि संवित्तिरुदितोदितसुस्फुटा।।79।।
तावानेव क्षणः कल्पो निमेषो वा तदस्त्वपि।
यावानेवोदयो वित्तेर्वेद्यैकग्रहतत्परः।।80।।
तावदेवास्तमयनं वेदितृस्वात्मचर्वणम्।
वेद्ये च बहिरन्तर्वा द्वये वाथ द्वयोज्झिते।।81।।
सर्वथा तन्मयीभूतिर्दिनं वेत्तृस्थता निशा।
वेदिता वेद्यविश्रान्तो वेत्ता त्वन्तर्मुखस्थितिः।।82।।
पुरा विचारयन्पश्चात्सत्तामात्रस्वरूपकः।
जाग्रद्वेदितृता स्वप्नो वेत्तृभावः पुरातनः।।83।।
परः सुप्तं क्षये रात्रिदिनयोस्तुर्यमद्वयम्।
कदाचिद्वस्तुविश्रान्तिसाम्येनात्मनि चर्वणम्।।84।।
वेद्यवेदकसाम्यं तत् सा रात्रिदिनतुल्यता।
वेद्ये विश्रान्तिरधिका दिनदैर्घ्याय तत्र तु।।85।।
न्यूना स्यात्स्वात्मविश्रान्तिर्विपरीते विपर्ययः।
स्वात्मौत्सुक्ये प्रबुद्धे हि वेद्यविश्रान्तिरल्पिका।।86।।
इत्थमेव दिवारात्रिन्यूनाधिक्यक्रमं वदेत्।
यथा देहेष्वहोरात्रन्यूनाधिक्यादि नो समम्।।87।।
तथा पुरेष्वपीत्येवं तद्विशेषेण नोदितम्।
श्रीत्रैयम्बकसन्तानविततताम्बरभास्करः।।88।।
दिनरात्रिक्रमं मे श्रीशंभुरित्थमपप्रथत्।
श्रीसन्तानगुरुस्त्वाह स्थानं बुद्धाप्रबुद्धयोः।।89।।
हृद आरभ्य यत्तेन रात्रिन्दिवविभाजनम्।
तदसत्सितपक्षेऽन्तः प्रवेशोल्लासभागिनी।।90।।

अबुद्धस्थानमेवैतद्दिनत्वेन कथं भवेत्।
अलं वानेन नेदं वा मम प्राङ्मतमत्सरः।।91।।
हेये तु दर्शिते शिष्याः सत्पथैकान्तदर्शिनः।
व्याख्यातः कृष्णपक्षो यस्तत्र प्राणगतः शशी।।92।।
आप्यायनात्मनैकैकां कलां प्रतितिथिं त्यजेत्।
द्वादशान्तसमीपे तु यासौ पञ्चदशी तुटिः।।93।।
सामावस्यात्र स क्षीणश्चन्द्रः प्राणार्कमाविशेत्।
उक्तं श्रीकामिकायां च नोर्ध्वेऽधः प्रकृतिः परा।
अर्धार्धे क्रमते माया द्विखण्डा शिवरूपिणी।।94।।
चन्द्रसूर्यात्मना देहं पूरयेत्प्रविलापयेत्।
अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः।।95।।
पिवन्ति च सुराः सर्वे दशपञ्च पराः कलाः।
अमा शेषगुहान्तःस्थामावास्या विश्वतर्पिणी।।96।।
एवं कलाः पञ्चदश क्षीयन्ते शशिनः क्रमात्।
आप्यायिन्यमृताब्रूपतादात्म्यात्षोडशी न तु।।97।।
तत्र पञ्चदशी यासौ तुटिः प्रक्षीणचन्द्रमाः।
तदूर्ध्वगं यत्तुट्यर्धं पक्षसंधिः स कीर्तितः।।98।।
तस्माद्विश्रमतुट्यर्धादामावस्यं पुरादलम्।
परं प्रातिपदं चार्धमिति सन्धिः स कल्प्यते।।99।।
तत्र प्रातिपदे तस्मिंस्तुट्यर्धार्धे पुरादलम्।
आमावस्यं तिथिच्छेदात्कुर्यात्सूर्यग्रहं विशत्।।100।।
तत्रार्कमण्डले लीनः शशी स्रवति यन्मधु।
तप्तत्वात्तत्पिबेदिन्दुसहभूः सिंहिकासुतः।।101।।
अर्कः प्रमाणं सोमस्तु मेयं ज्ञनक्रियात्मकौ।
राहुर्मायाप्रमाता स्यात्तदाच्छादनकोविदः।।102।।
तत एव तमोरूपो विलापयितुमक्षमः।
तत्सङ्घट्टद्वयोल्लासो मुख्यो माता विलापकः।।103।।
अर्केन्दुराहुसङ्घट्टात् प्रमाणं वेद्यवेदकौ।
अद्वयेन ततस्तेन पुण्य एष महाग्रहः।।104।।
आमावस्यां विनाप्येष संघट्टश्चेन्महाग्रहः।
यथार्के मेषगे राहावश्विनीस्थेऽश्विनीदिने।।105।।

अमावास्यं यदा त्वर्धं लीनं प्रातिपदे दले।
प्रतिपच्च विशुद्धा स्यात्तन्मोक्षो दूरगे विधौ।।106।।
ग्रासमोक्षान्तरे स्नानध्यानहोमजपादिकम्।
लौकिकालौकिकं भूयः फलं स्यात्पारलौकिकम्।।107।।
ग्रास्यग्रासकताक्षोभप्रक्षये क्षणमाविशन्।
मोक्षभाग्ध्यानपूजादि कुर्वंश्चन्द्रार्कयोर्ग्रहे।।108।।
तिथिच्छेद ऋणं कासो वृद्धिर्निःश्वसनं धनम्।
अयत्नजं यत्नजं तु रेचनादथ रोधनात्।।109।।
एवं प्राणे विशति चित्सूर्य इन्दुं सुधामयम्।
एकैकध्येन बोधांशु कलया परिपूरयेत्।।110।।
क्रमसंपूरणाशालिशशाङ्कामृतसुन्दराः।
तुट्यः पञ्चदशैताः स्युस्तिथयः सितपक्षगाः।।111।।
अन्त्यायां पूर्णमस्तुट्यां पूर्ववत्पक्षसन्धिता।
इन्दुग्रहश्च प्रतिपत्सन्धौ पूर्वप्रवेशतः।।112।।
ऐहिकं ग्रहणे चात्र साधकानां महाफलम्।
प्राग्वदन्यदयं मासः प्राणचारेऽब्द उच्यते।।113।।
षट्सु षट्स्वङ्गुलेष्वर्को हृदयान्मकरादिषु।
तिष्ठन्माघादिकं षट्कं कुर्यात्तच्चोत्तरायणम्।।114।।
संक्रान्तित्रितये वृत्ते भुक्ते चाष्टादशाङ्गुले।
मेषं प्राप्ते रवौ पुण्यं विषुवत्पारलौकिकम्।।115।।
प्रवेशे तु तुलास्थेऽर्के तदेव विषुवद्भवेत्।
इह सिद्धिप्रदं चैतद्दक्षिणायनगं ततः।।116।।
गर्भता प्रोद्भुभूषिष्यद्भावश्चाथोद्बुभूषुता।
उद्भविष्यत्जगद्भूतिप्रारम्भोऽप्युद्भवस्थितिः।।117।।
जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात्।
मकरादीनि तेनात्र क्रिया सूते सदृक्फलम्।।118।।
आमुत्रिके झषः कुम्भो मन्त्रादेः पूर्वसेवने।
चतुष्कं किल मीनाद्यमन्तिकं चोत्तरोत्तरम्।।119।।
प्रवेशे खलु तत्रैव शान्तिपुष्ट्यादिसुन्दरम्।
कर्म स्यादैहिकं तच्च दूरदूरफलं क्रमात्।।120।।

निर्गमे दिनवृद्धिः स्याद्विपरीते विपर्ययः।
वर्षेऽस्मिंस्तिथयः पञ्च प्रत्यङ्गुलमिति क्रमः।।121।।
तत्राप्यहोरात्रविधिरिति सर्वं हि पूर्ववत्।
प्राणीये वर्ष एतस्मिन्कार्तिकादिषु दक्षतः।।122।।
पितामहान्तं रुद्राः स्युर्द्वादशाग्रेऽत्र भाविनः।
प्राणे वर्षोदयः प्रोक्तो द्वादशाब्दोदयोऽधुना।।123।।
खरसास्तिथ्य एकस्मिन्नेकस्मिन्नङ्गुले क्रमात्।
द्वादशाब्दोदये ते च चैत्राद्या द्वादशोदिताः।।124।।
चैत्रे मन्त्रोदितिः सोऽपि तालुन्युक्तोऽधुना पुनः।
हृदि चैत्रोदितिस्तेन तत्र मन्त्रोदयोऽपि हि।।125।।
प्रत्यङ्गुलं तिथीनां तु त्रिशते परिकल्पिते।
सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दः स्यात्प्राणे षष्ट्यब्दता पुनः।।126।।
शतानि षट् सहस्राणि चैकविंशतिरित्ययम्।
विभागः प्राणगः षष्टिवर्षाहोरात्र उच्यते।।127।।
प्रहराहर्निशामासऋत्वब्दरविषष्टिगः।
यश्छेदस्तत्र यः सन्धिः स पुण्यो ध्यानपूजने।।128।।
इति प्राणोदये योऽयं कालः शक्त्येकविग्रहः।
विश्वात्मान्तःस्थितस्तस्य बाह्ये रूपं निरूप्यते।।129।।
षट् प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली च तास्तथा।
तिथिस्तत्त्रिंशता मासस्ते द्वादश तु वत्सरः।।130।।
अब्दं पित्र्यस्त्वहोरात्र उदग्दक्षिणतोऽयनात्।
पित्रृणां यत्स्वमानेन वर्षं तद्दिव्यमुच्यते।।131।।
षष्ट्यधिकञ्च त्रिशतं वर्षाणामत्र मानुषम्।
तच्च द्वादशभिर्हत्वा माससंख्यात्र लभ्यते।।132।।
तां पुनस्त्रिंशता हत्वाहोरात्रकल्पना वदेत्।
ःत्वा तां चैकविंशत्या सहस्रैः षट्शतेन च।।133।।
प्राणसंख्यां वदेत्तत्र षष्ट्याद्यब्दोदयं पुनः।
उक्तं च गुरुभिः श्रीमद्रौरवादिस्ववृत्तिषु।।134।।
देवानां यदहोरात्रं मानुषाणां स हायनः।
शतत्रयेण षष्ट्या च न्ऋणां विबुधवत्सरः।।135।।

श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे च तदेव मतमीक्ष्यते।
पित्रृणां तदहोरात्रमित्युपक्रम्य पृष्ठतः।।136।।
एवं दैवस्त्वहोरात्र इति ह्यैक्योपसंहृतिः।
तेन ये गुरवः श्रीमत्स्वच्छन्दोक्तिद्वयादितः।।137।।
पित्र्यं वर्षं दिव्यदिनमूचुर्भ्रान्ता हि ते मुधा।
दिव्यार्काब्दसहस्राणि युगेषु चतुरादितः।।138।।
एकैकहान्या तावद्भिः शतैस्तेष्वष्ट संधयः।
चतुर्युगैकसप्तत्या मन्वन्तस्ते चतुर्दश।।139।।
ब्रह्मणोऽहस्तत्र चेन्द्राः क्रमाद्यान्ति चतुर्दश।
ब्रह्माहोऽन्ते कालवह्नेर्ज्वाला योजनलक्षिणी।।140।।
दग्ध्वा लोकत्रयं धूमात्त्वन्यत्प्रस्वापयेत्त्रयम्।
निरयेभ्यः पुरा कालवह्नेर्व्यक्तिर्यतस्ततः।।141।।
विभुरधःस्थितोऽपीश इति श्रीरौरवं मतम्।
ब्रह्मनिःश्वासनिर्धूते भस्मनि स्वेदवारिणा।।142।।
तदीयेनाप्लुतं विश्वं तिष्ठेत्तावन्निशागमे।
तस्मिन्निशावधौ सर्वे पुद्गलाः सूक्ष्मदेहगाः।।143।।
अग्निवेगेरिता लोके जने स्युर्लयकेवलाः।
कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु क्रीडन्ति महदालये।।144।।
निशाक्षये पुनः सृष्टिं कुरुते तामसादितः।
स्वकवर्षतान्तेऽस्य क्षयस्तद्वैष्णवं दिनम्।।145।।
रात्रिश्च तावतीत्येवं विष्णुरुद्रशताभिधाः।
क्रमात्स्वशतान्तेषु नश्यन्त्यत्राण्डलोपतः।।146।।
अबाद्यव्यक्तत्त्वान्तेष्वित्थं वर्षशतं क्रमात्।
दिनरात्रिविभागः स्यात् स्वस्वायुःशतमानतः।।147।।
ब्रह्मणः प्रलयोल्लाससहस्रस्तु रसाग्निभिः।
अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनं रात्रिश्च तावती।।148।।
तदा श्रीकण्ठ एव स्यात्साक्षात्संहाकृत्प्रभुः।
सर्वे रूद्रास्तथा मूले मायागर्भाधिकारिणः।।149।।
अव्यक्ताख्ये ह्याविरिञ्चाच्छ्रीकण्ठेन सहासते।
निवृत्ताधःस्थकर्मा हि ब्रह्मा तत्राधरे धियः।।150।।

न भोक्ता ज्ञोऽधिकारे तु वृत्त एव शिवीभवेत्।
स एषोऽवान्तरलयस्तत्क्षये सृष्टिरुच्यते।।151।।
सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छ्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी।।152।।
प्रधाने यदहोरात्रं तज्जं वर्षशतं विभोः।
श्रीकण्ठस्यायुरेतच्च दिनं कञ्चुकवासिनाम्।।153।।
तत्क्रमान्नियतिः कालो रागो विद्या कलेत्यमी।
यान्त्यन्योन्यं लयं तेषामायुर्गाहनिकं दिनम्।।154।।
तद्दिनप्रक्षये विश्वं मायायां प्रविलीयते।
क्षीणायां निशि तावत्यां गहनेशः सृजेत्पुनः।।155।।
एवमव्यक्तकालं तु परार्धैर्दशभिर्जहि।
मायाहस्तावती रात्रिर्भवेत्प्रलय एष सः।।156।।
मायाकालं परार्धानां गुणयित्वा शतेन तु।
ऐश्वरो दिवसो नादः प्राणात्मात्र सृजेज्जगत्।।157।।
तावती चैश्वरी रात्रिर्यत्र प्राणः प्रशाम्यति।
प्राणगर्भस्थमप्यत्र विश्वं सौषुम्नवर्त्मना।।158।।
प्राणे ब्रह्मविले शान्ते संविद्याप्यवशिष्यते।
अंशांशिकातोऽप्येतस्याः सूक्ष्मसूक्ष्मतरो लयः।।159।।
गुणयित्वैश्वरं कालं परार्धानां शतेन तु।
सादाशिवं दिनं रात्रिर्महाप्रलय एव च।।160।।
सदाशिवः स्वकालान्ते विन्द्वर्धेन्दुनिरोधिकाः।
आक्रम्य नादे लीयेत गृहीत्वा सचराचरम्।।161।।
नादो नादान्तवृत्त्या तु भित्त्वा ब्रह्मबिलं हठात्।
शक्तितत्त्वे लयं याति निजकालपरिक्षये।।162।।
एतावच्छक्तितत्त्वे तु विज्ञेयं खल्वहर्निशम्।
शक्तिः स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः।।163।।
व्यापिन्या तद्दिवारात्रं लीयते साप्यनाश्रिते।
परार्धकोट्या हत्वापि शक्तिकालमनाश्रिते।।164।।
दिनं रात्रिश्च तत्काले परार्धगुणितेऽपि च।
सोऽपि याति लयं साम्यसंज्ञे सामनसे पदे।।165।।

स कालः साम्यसंज्ञः स्यान्नित्योऽकल्यः कलात्मकः।
यत्तत्सामनसं रूपं तत्साम्यं ब्रह्म विश्वगम्।।166।।
अतः सामनसात्कालान्निमेषोन्मेषमात्रतः।
तुट्यादिकं परार्धान्तं सूते सैवात्र निष्ठितम्।।167।।
दशशतसहस्रमयुतं लक्षनियुतकोटि सार्बुदं वृन्दम्।
खर्वनिखर्वे शंखाब्जजलधिमध्यान्तमथ परार्धं च।।168।।
इत्येकस्मात्प्रभृति हि दशधा दशधा क्रमेण कलयित्वा।
एकादिपरार्धान्तेष्वष्टादशसु स्थितिं ब्रूयात्।।169।।
चत्वार एते प्रलया मुख्याः सर्गाश्च तत्कलाः।
भूमूलनैशशक्तिस्थास्तदेवाण्डचतुष्टयम्।।170।।
कालाग्निर्भुवि संहर्ता मायान्ते कालतत्त्वराट्।
श्रीकण्ठे मूल एकत्र सृष्टिसंहारकारकः।।171।।
तल्लयो वान्तरस्तस्मादेकः सृष्टिलयेशिता।
श्रीमानघोरः शक्त्यन्ते संहर्ता सृष्टिकृच्च सः।।172।।
तत्सृष्टौ सृष्टिसंहारा निःसंख्या जगतां यतः।
अन्तर्भूतास्ततः शाक्ती महासृष्टिरुदाहृता।।173।।
लये ब्रह्मा हरी रुद्रशतान्यष्टकपञ्चकम्।
इत्यन्योन्यं क्रमाद्यान्ति लयं मायान्तकेऽध्वनि।।174।।
मायातत्त्वलये त्वेते प्रयान्ति परमं पदम्।
मायोर्ध्वे ये सिताध्वस्थास्तेषां परशिवे लयः।।175।।
तत्राप्यौपाधिकाद्भेदाल्लये भेदं परे विदुः।
एवं तात्त्वेश्वरे वर्गे लीने सृष्टौ पुनः परे।।176।।
तत्साधकाः शिवेष्टा वा तत्स्थानमधिशेरते।
ब्राह्मी नाम परस्यैव शक्तिस्तां यत्र पातयेत्।।177।।
स ब्रह्मा विष्णुरुद्राद्या वैष्णव्यादेरतः क्रमात्।
शक्तिमन्तं विहायान्यं शक्तिः किं याति नेदृशम्।।178।।
छादितप्रथिताशेषशक्तिरेकः शिवस्तथा।
एवं विसृष्टिप्रलयाः प्राण एकत्र निष्ठिताः।।179।।
सोऽपि संविदि संविच्च चिन्मात्रे ज्ञेयवर्जिते।
चिन्मात्रमेव देवी च सा परा परमेश्वरी।।180।।

अष्टात्रिंशं च तत्तत्त्वं हृदयं तत्परापरम्।
तेन संवित्त्वमेवैतत्स्पन्दमानं स्वभावतः।।181।।
लयोदया इति प्राणे षष्ट्यब्दोदयकीर्तनम्।
इच्छामात्रप्रतिष्ठेयं क्रियावैचित्र्यचर्चना।।182।।
कालशक्तिस्ततो बाह्ये नैतस्या नियतं वपुः।
स्वप्नस्वप्ने तथा स्वप्ने सुप्ते सङ्कल्पगोचरे।।183।।
समाधौ विश्वसंहारसृष्टिक्रमविवेचने।
मितोऽपि किल कालांशो विततत्वेन भासते।।184।।
प्रमात्रभेदे भेदेऽथ चित्रो विततिमाप्यसौ।
एवं प्राणे यथा कालः क्रियावैचित्र्यशक्तिजः।।185।।
तथापानेऽपि हृदयान्मूलपीठविसर्पिणी।
मूलाभिधमहापीठसङ्कोचप्रविकासयोः।।186।।
ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां चिनुते सृष्टिसंहृती।
शश्वद्यद्यप्यपानोऽयमित्थं वहति किंत्वसौ।।187।।
अवेद्ययत्नो यत्नेन योगिभिः समुपास्यते।
हृत्कन्दानन्दसङ्कोचविकासद्वादशान्तगाः।।188।।
ब्रह्मादयोऽनाश्रितान्ताः सेव्यन्तेऽत्र सुयोगिभिः।
एते च परमेशानशक्तित्वाद्विश्ववर्तिनः।।189।।
देहमप्यश्नुवानास्तत्कारणानीति कामिके।
बाल्ययौवनवृद्धत्वनिधनेषु पुनर्भवे।।190।।
मुक्तौ च देहे ब्रह्माद्याः षडधिष्ठानकारिणः।
तस्यान्ते तु परा देवी यत्र युक्तो न जायते।।191।।
अनेन ज्ञातमात्रेण दीक्षानुग्रहकृद्भवेत्।
समस्तकारणोल्लासपदे सुविदिते यतः।।192।।
अकारणं शिवं विन्देद्यत्तद्विश्वस्य कारणम्।
अधोवक्त्रं त्विदं द्वैतकलङ्कैकान्तशातनम्।।193।।
क्षीयते तदुपासायां येनोर्ध्वाधरडम्बरः।
अत्रापानोदये प्राग्वत्षष्ट्यब्दोदययोजनाम्।।194।।
यावत्कुर्वीत तुट्यादेर्युक्ताङ्गुलविभागतः।
एवं समानेऽपि विधिः स हि हार्दीषु नाडिषु।।195।।

संचरन्सर्वतोदिक्कं दशधैव विभाव्यते।
दश मुख्या महानाडीः पूरयन्नेष तद्गताः।।196।।
नाड्यन्तराश्रिता नाडीः क्रामन्देहे समस्थितिः।
अष्टासु दिग्दलेष्वेष क्रामंस्तद्दिक्पतेः क्रमात्।।197।।
चेष्टितान्यनुकुर्वाणो रौद्रः सौम्यश्च भासते।
स एव नाडीत्रितये वामदक्षिणमध्यगे।।198।।
इन्द्वर्काग्निमये मुख्ये चरंस्तिष्ठत्यहर्निशम्।
सार्धनालीद्वयं प्राणशतानि नव यत्स्थितम्।।199।।
तावद्वहन्नहोरात्रं चतुर्विंशतिधा चरेत्।
विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः।।200।।
वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यावत्संक्रान्तिपञ्चकम्।
एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु।।201।।
मध्याह्ने दक्षविषुवन्नवप्राणशतीं वहेत्।
दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम्।।202।।
नवासुशतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम्।
पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद्बहिः।।203।।
यद्वत्तथान्तः सङ्क्रान्तिर्नवप्राणशतानि सा।
एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात्समात्।।204।।
आरभ्याहर्निशावृद्धिह्रससङ्क्रान्तिगोऽप्यसौ।
रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्ने दिवसक्षयः।।205।।
स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशी।
व्याप्तौ विषेर्यतो वृत्तिः साम्यं च व्याप्तिरुच्यते।।206।।
तदर्हति च यः कालो विषुवत्तदिहोदितः।
विषुवत्प्रभृति ह्रसवृद्धी ये दिनरात्रिगे।।207।।
तत्क्रमेणैव संक्रान्तिह्रसवृद्धी दिवानिशोः।
इत्थं समानमरुतो वर्षद्वयविकल्पनम्।।208।।
चार एकत्र नह्यत्र श्वासप्रश्वासचर्चनम्।
समानेऽपि तुटेः पूर्वं यावत्षष्ट्यब्दगोचरम्।।209।।
कालसंख्या सुसूक्ष्मैकचारगा गण्यते बुधैः।
संध्यापूर्वाह्नमध्याह्नध्यरात्रादि यत्किल।।210।।

अन्तःसंक्रान्तिगं ग्राह्यं तन्मुख्यं तत्फलोदितेः।
उक्तः समानगः काल उदाने तु निरूप्यते।।211।।
प्राणव्याप्तौ यदुक्तं तदुदानेऽप्यत्र केवलम्।
नासाशक्त्यन्तयोः स्थाने ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वधामनी।।212।।
तेनोदानेऽत्र हृदयान्मूर्धन्यद्वादशान्तगम्।
तुट्यादिषष्टिवर्षान्तं विश्वं कालं विचारयेत्।।213।।
व्याने तु विश्वात्ममये व्यापके क्रमवर्जिते।
सूक्ष्मसूक्ष्मोच्छलद्रूपमात्रः कालो व्यवस्थितः।।214।।
सृष्टिः प्रविलयः स्थेमा संहारोऽनुग्रहो यतः।
क्रमात्प्राणादिके काले तं तं तत्राश्रयेत्ततः।।215।।
प्राणचारेऽत्र यो वर्णपदमन्त्रोदयः स्थितः।
यत्नजोऽयत्नजः सूक्ष्मः परः स्थूलः स कथ्यते।।216।।
एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः।।217।।
स तु भैरवसत्रवो मातृसत्रव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्।।218।।
ह्रस्वार्णत्रयमेकैकं रव्यङ्गुलमथेतरत्।
प्रवेश इति षड्वर्णाः सूर्येन्दुपथगाः क्रमात्।।219।।
इकारोकारयोरादिसन्धौ संध्यक्षरद्वयम्।
एओ इति प्रवेशे तु ऐऔ इति द्वयं विदुः।।220।।
षण्ठार्णानि प्रवेशे तु द्वादशान्तललाटयोः।
गले हृदि च बिन्द्वर्णविसर्गौ परितः स्थितौ।।221।।
कादिपञ्चकमाद्यस्य वर्णस्यान्तः सदोदितम्।
एवं सस्थानवर्णानामन्तः सा सार्णसन्ततिः।।222।।
हृद्येष प्राणरूपस्तु सकारो जीवनात्मकः।
विन्दुः प्रकाशो हार्णश्च पूरणात्मतया स्थितः।।223।।
उक्तः परोऽयमुदयो वर्णानां सूक्ष्म उच्यते।
प्रवेशे षोडशौन्मुख्ये रवयः षष्ठवर्जिताः।।224।।
तदेवेन्द्वर्कमत्रान्ये वर्णाः सूक्ष्मोदयस्त्वयम्।
कालोऽर्धमात्रः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते।।225।।

मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिःप्लुतं तु लृ।
एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरु।।226।।
यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात्।
एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका।।227।।
श्रीमातङ्गे तथा धर्मसङ्घातात्मा शिवो यतः।
तथा तथा परामर्शशक्तिचक्रेश्वरः प्रभुः।।228।।
स्थूलैकाशीतिपदजपरामर्शैर्विभाव्यते।
तत एव परामर्शो यावत्येकः समाप्यते।।229।।
तावत्तत्पदमुक्तं नो सुप्तिङ्नियमयन्त्रितम्।
एकाशीतिपदोदारविमर्शक्रमबृंहितः।।230।।
स्थूलोपायः परोपायस्त्वेष मात्राकृतो लयः।
अर्धमात्रा नव नव स्युश्चतुर्षु चतुर्षु यत्।।231।।
अङ्गुलेष्विति षट्त्रिंशत्येकाशीतिपदोदयः।
अङ्गुले नवभागेन विभक्ते नवमांशकाः।।232।।
वेदा मात्रार्धमन्यत्तु द्विचतुःषड्गुणं त्रयम्।
एवमङ्गुलरन्ध्रांशचतुष्कद्वयगं लघु।।233।।
दीर्घं प्लुतं क्रमाद् द्वित्रिगुणमर्धं ततोऽपि हल्।
क्षकारस्त्र्यर्धमात्रात्मा मात्रिकः स तथान्तरा।।234।।
विश्रान्तावर्धमात्रास्य तस्मिंस्तु कलिते सति।
अङ्गुलार्धेऽद्रिभागेन त्वर्धमात्रा पुरा पुनः।।235।।
क्षकारः सर्वसंयोगग्रहणात्मा तु सर्वगः।
सर्ववर्णोदयाद्यन्तसन्धिषूदयभाग्विभुः।।236।।
इत्थं षट्त्रिंशके चारे वर्णानामुदयः फले।
क्रूरे सौम्ये विलोमेन हादि यावदपश्चिमम्।।237।।
हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः।
अहमात्मकमद्वैतं यः प्रकाशात्मविश्रमः।।238।।
शिवशक्त्यविभागेन मात्रैकाशीतिका त्वियम्।
द्वासप्ततावङ्गुलेषु द्विगुणत्वेन संसरेत्।।239।।
उक्तः सूक्ष्मोदयस्त्रैधं द्विधोक्तस्तु परोदयः।
अथ स्थूलोदयोऽर्णानां भण्यते गुरुणोदितः।।240।।

एकैकमर्धप्रहरं दिने वर्गाष्टकोदयः।
रात्रौ च ह्रासवृद्ध्यत्र केचिदाहुर्न केऽपि तु।।241।।
एष वर्गोदयो रात्रौ दिवा चाप्यर्धयामगः।
प्राणत्रयोदशशती पञ्चाशदधिका च सा।।242।।
अध्यर्धा किल संक्रान्तिर्वर्गे वर्गे दिवानिशोः।
तदैक्ये तूदयश्चारशतानां सप्तविंशतिः।।243।।
नव वर्गांस्तु ये प्राहुस्तेषां प्राणशती रवीन् (विः)।
सत्रिभागैव संक्रान्तिर्वर्गे प्रत्येकमुच्यते।।244।।
अहर्निशं तदैक्ये तु शतानां श्रुतिचक्षुषी।
स्थूलो वर्गोदयः सोऽयमथार्णोदय उच्यते।।245।।
एकैकवर्णे प्राणानां द्विशतं षोडशाधिकम्।
बहिश्चषकषट्त्रिंशद्दिन इत्थं तथा निशि।।246।।
शतमष्टोत्तरं तत्र रौद्रं शाक्तमथोत्तरम्।
यामलस्थितियोगे तु रुद्रशक्त्यविभागिता।।247।।
दिनरात्र्यविभागे तु दृग्वह्न्यब्ध्यसुचारणाः।
सपञ्चमांशा नाडी च बहिर्वर्णोदयः स्मृतः।।248।।
इति पञ्चाशिका सेयं वर्णानां परिचर्चिता।
एकोनां ये तु तामाहुस्तन्मतं संप्रचक्ष्महे।।249।।
वेदाश्चाराः पञ्चमांशन्यूनं चारार्धमेकशः।
वर्णेऽधिकं तद्द्विगुणमविभागे दिवानिशोः।।250।।
स्थूलो वर्णोदयः सोऽयं पुरा सूक्ष्मो निगद्यते।
इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रामुखागमनिजानुभवसिद्धम्।।

(आ) षष्ठ आह्निक की कारिकानुसार विषय सूची

विषय	कारिका संख्या
'स्थानकल्पना' नामक बाह्य उपाय का विवेचन	1 (ब)
प्राण, देह तथा बाह्य के अनुसार स्थान के तीन तथा बाह्य, आन्तर के रूप में पञ्चधा प्राण के दो भेद	2
मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिङ्ग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा, मूर्ति के रूप में बाह्य (स्थानभेद) के ग्यारह भेद तथा अनेक उपभेद	3-4
स्थानभेद की विधि का निरूपण, षड्विध अध्वा की प्राणाश्रयता	4-5
अध्वा की कलना (भावों का अवभासन) क्रमाक्रमतया दो रूपों में, कार्यकारण-भाव तथा चित्रज्ञान का उदाहरण, वस्तुओं का क्रमाक्रम प्रकाशन ही काल है	6
क्रम और अक्रम-स्वरूप काल संविद् में वर्तमान है, जो उसकी 'काली' नामक शक्ति है	7
वही कालशक्ति से युक्त संविद् क्रमाक्रम का प्रकाशन करने से प्राणवृत्ति बन जाती है	8
शुद्धसंवित्तत्त्व प्रमेय को अलग कर शून्यरूप में आभासित होता है	9
यही संविद् की शून्यरूपता तथा 'नेति-नेति' विमर्शात्मक परम दशा है	10
शून्यप्रमाता बहिर्मुख होने पर, प्रमाता से प्रमेय के पृथक् हो जाने पर, प्राणप्रमाता कहलाता है जिसे 'स्पन्द' तथा 'ऊर्मि' भी कहा गया है	11
इसी अभिप्राय से भट्टश्रीकल्लट आदि ने कहा है कि संवित् पहले प्राणप्रमाता फिर बुद्धिप्रमाता के रूप में परिणत होती है	12
प्राणनाशक्ति संवित् का प्रथम स्पन्दन है जिसे 'स्पन्द; 'स्फुरत्ता; 'विश्रान्ति; 'हृत्' तथा 'प्रतिभा' कहा जाता है	13
इस प्राणनाशक्ति के पाँच रूपों से पूर्ण शरीर चैतन्यपूर्ण लगता है	14
मूढ़जन प्राणनाशक्ति से एकात्म चैतन्य से युक्त देह के अतिरिक्त आत्मा को नहीं मानते	15
तत्त्वदर्शी चार्वाक भी इसी मूढ़मति को प्रमाण मान लेते हैं	16

इस मूढ़भावना के अनुसार देहमुक्ति होने पर जीव 'सुप्त' बने रहेंगे। 17
एक वासना के विनष्ट होने पर दूसरी अविनष्ट वासना उद्बुद्ध होकर विभिन्न प्रकार की फल-सम्पदा पैदा कर देगी; इस प्रकार सांख्यादिकों को आत्यन्तिक मोक्ष सम्भव नहीं 18
चार्वाकादि की नास्तिकता के महापाप होने के पाँच कारण 19-20
प्राण में प्रतिष्ठित अध्वा, क्रिया तथा मूर्ति के आधार से दो प्रकार का है 21-22
'श्रीत्रिशिरस्' शास्त्र में प्राण को 'शिखा' (भैरव की परिमित शक्ति) कहा गया है जो यागकाल (अद्वयसाधना) में बंधी रहने के कारण शिवात्मिका है 22-23
दिन और रात में प्राण की गति (प्राणचार) चौबीस प्रकार (संक्रान्ति) से होती है 23-24
बाह्य अहोरात्र की भाँति आध्यात्मिक अहोरात्र में त्रिविध संध्या 24-27
प्राणशक्तिरूपा शिखा के बंधने पर (मध्यधाम में विश्रान्ति होने पर) विभिन्न फलों की प्राप्ति, अस्तु, द्विविध अध्वा की संवित् में विश्रान्ति 28
अमूर्त एवं निष्क्रिय संवित् का मूर्ति एवं क्रिया के रूप में प्रकाशन ही अध्वा है 29
अध्वा शब्द के दो अर्थ 30
शब्दों की चर्चा अर्थानुसार करनी चाहिये। 'निशाचार' में संज्ञा तीन प्रकार की बताई गई है: नैमित्तिकी (यौगिकी), प्रसिद्धा (रूढ़ा) तथा पारिभाषिकी (योगरूढ़ा) इनमें प्रथम की प्रधानता 31-32
अध्वा शब्द की भाँति अन्य शब्दों की व्युत्पत्ति की विद्वानों को स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये 33
क्रिया का प्रकाशन कालाध्वा है जो वर्ण, मन्त्र तथा पद के रूप में तीन प्रकार का है 34
मूर्ति का प्रकाशन देशाध्वा है जो कला, तत्त्व तथा पुर के रूप में तीन प्रकार का है 35
स्थूल, सूक्ष्म तथा पर के भेद से प्रत्येक अध्वा (पदवर्णमन्त्रात्म कालाध्वा तथा कला-तत्त्व-पुरात्म देशाध्वा) षड्विध है 36
कालाध्वा प्राण में प्रतिष्ठित है 37
काल नामक तत्त्व से भिन्न यह काल शिव की विश्व को प्रकाशित करने

की समर्थ क्रियाशक्ति है जो ईश्वरतत्त्व तथा शिव का बहिर्मुख रूप है जिससे विश्व की एकात्मता है 38-40

परमात्मा की ईश्वररूपता मायीय प्रमाता में कालतत्त्व कहलाती है तथा शिव का शरीर (शुद्ध विद्या तक के तत्त्व) पुरुष का कञ्चुक माया से राग तत्त्व तक है 40-42

उपर्युक्त शरीर-कञ्चुकरूप तत्त्वों का परिगणनः शक्ति, माया, कला, विद्या, काल, नियति, सदाशिव, ईश्वर विद्या तथा राग 42-43

शिव (अनाश्रय) शून्यप्रमाता, सदाशिव बुद्धिप्रमाता ईश्वर प्राणप्रमाता तथा शुद्धविद्या देहप्रमाता है 43-44

अनाश्रय शून्यता है, ज्ञानबुद्धिता, विश्वात्मा प्राणता, प्रमेयाभिमान देहता है (इसी कारण शून्यप्रमाता आदि संज्ञाओं की अन्वर्थता है) 44-45

प्राण में विश्वात्मा का प्रतिपादन 45-46

द्वादशान्त तक प्राण के व्याप्त होने पर भी वह सर्वत्र स्फुट नहीं होता, प्राण-स्पन्द के आठ भेदः स्वाभाविक, प्रयत्नपूर्वक, संवेद्य, असंवेद्य के रूप में चतुर्विध प्राणस्पन्दन स्फुट तथा अस्फुट के भेद से आठ प्रकार का 46-48

स्वाभाविक प्राणस्पन्दन की कन्द से प्रारम्भ कर अस्फुट संवेद्यता 49

'स्वच्छन्दशास्त्र' में इसी आधार पर नाड़ियों की व्यवस्था कन्दमूल से बताई गई है, वहाँ इच्छापूर्वक प्राणस्पन्दन भी स्फुट संवेद्य नहीं होता; अतः संवेद्य प्राणस्पन्दन का प्रारम्भ हृदय से बताया गया है 50-51

शिव की वामा, ज्येष्ठा और रौद्रिका शक्ति में से एक प्रभु-शक्ति, आत्मा तथा प्राण मिलकर स्पन्दन पैदा करते हैं (यही स्फुट या अस्फुट संवेदन का कारण है) 52

अङ्ग के फड़कने से प्रभुशक्ति, लिङ्ग के संकोचविकास में आत्मशक्ति तथा हृदय के प्राणचार में प्राणशक्ति की प्रधानता, ध्यानशील योगी मे तीन अथवा दो की प्रधानता 53-54

प्राण तथा आत्मशक्ति का विपर्यय भी एकाग्रता आदि से सम्भव है 55

वामा संसारी में, ज्येष्ठा सुप्रबुद्धों में तथा रौद्री आर्त में प्रवृत्त होती है; अतः प्रभुशक्ति का त्रैविध्य 56

उपर्युक्त त्रिविध शक्तियों का स्वरूप 57

सभी तत्त्वों को समझने से मोक्ष होता है, 'श्रीयोगचार' का प्रमाण (इसीलिये प्रभुशक्तियों का निरूपण आवश्यक था) 58
सृष्ट्यादि के रहस्य को न जानने वालों की मुक्ति सम्भव नहीं क्योंकि वे सृष्टि-सम्बन्धी अज्ञान से बंधे रहते हैं 59
सृष्टि आदि की प्राणात्मक काल के प्रति अधीनता तथा काल की प्राण रूपता अत एव प्राणचार-साधना का महत्त्व 60
हृदय से द्वादशान्त तक छत्तीस अङ्गुल का प्राणचार 61
तत्त्वतः वीर्य, ओज, बल, स्पन्द प्रत्येक शरीर में समान है, अतः प्राणचार की समानता 62
प्राणापान के आरोह एवं अवरोह में नालिका, तिथि, मास, वर्ष आदि की स्थिति 63
सवा दो अङ्गुल का प्राणचार तुटि है उसका सोलह से गुणन करने पर 36 अङ्गुल का प्राणचार होता है, चषक सवा-एक अङ्गुल का होता है 64
नाडी, प्रहर, दिन, रात एवं संध्या का स्वरूप तथा भौमादि ग्रहों का उदय 65-67
आठ प्रहरों के विभिन्न फल, अभिजित् नक्षत्र द्वारा भोग-मोक्ष की प्राप्ति 67-68
आठ प्रहरों में नक्षत्र, राशि, तारा आदि तथा नाग, लोकेश्वर आदि का उदय 69-71
उद्देश्य के आधार पर कर्मभेद, व्याप्ति, ध्यान तथा योग से अहोरात्र का क्षय मुक्ति है तथा प्राणापानरूप शुभाशुभ पक्ष की निर्विकल्पता ही ज्ञानयोगक्रियात्मिका दीक्षा है 'श्रीवीरावली' में व्याप्तिध्यानादि का निरूपण 72-75
आध्यात्मिक अहोरात्र के बाद मास का निरूपण 76-80
तन्मयीभाव दिन है तथा स्वात्मविश्रान्ति निशा है 81-82
ज्ञान, विचार (विमर्श) एवं सत्ता के आधार पर ज्ञाता की त्रिविधता 82-83
प्रमातृभेदानुसार जाग्रदादि का स्वरूप तथा विषुवत् काल 83-85
वेद्य में विश्रान्ति तथा आत्मविश्रान्ति के आधार पर अहोरात्र की दीर्घता एवं ह्रस्वता 85-88
रात एवं दिन का उपर्युक्त विभाजन अभिनवगुप्त को 'श्रीत्रैयम्बकमठिका' के गुरु श्रीशम्भु से मिला था, श्रीसन्तानगुरु के अहोरात्रसम्बन्धी मत का खण्डन 88-92
कृष्णपक्ष में प्राणस्थ चन्द्रमा द्वारा प्रति तिथि में एक-एक कला का त्याग एवं पन्द्रहवीं तुटि में चन्द्रमा का प्राणसूर्य में लय 92-93

उपर्युक्त कथन में 'श्रीकामिका' का प्रमाण	94-95
चान्द्र कलाओं का विभाजन एवं उनके क्षय का कारण	95-96
अमा नामक सोलहवीं कला की अक्षीणता	97
कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष की सन्धि	98
प्राण में पक्षसन्धि का प्रतिपादन	99
प्राण में सूर्यग्रहण	100
इस स्थिति में राहु द्वारा अमृत-पान	101
राहुरूपी मायाप्रमाता द्वारा सूर्यचन्द्ररूप प्रमाणप्रमेय का आच्छादन तथा तीनों के सामरस्य से अद्वयोल्लास	102-3
महाग्रहण का स्वरूप	104
उसी का अवान्तर भेद	105
ग्रहण का मोक्ष	106
मोक्ष के अनन्तर स्नानादि का विधान तथा फल	107
पारलौकिक फल का कारण	108
तिथिच्छेद तथा वृद्धि का निरूपण	109
चैतन्यसूर्य द्वारा चन्द्र का आपूरण	110
आपूर्ण चन्द्र की तुटियाँ ही तिथिरूप	111
अपान में पक्षसन्धि तथा चन्द्रग्रहण	112
इस ग्रहण में साधना का ऐहिक महाफल	113
वर्ण का निरूपणः उत्तरायण	114
उत्तरायण में विषुवत् संक्रान्ति का निरूपण	115
दक्षिणायन-विषुवत् का निरूपण	116
द्वादश राशियों की विशेषता	117-18
इन्हीं की अवान्तर विशेषताएँ	119
अपानवाह में फल	120
प्रत्येक अङ्गुल में पाँच तिथियों के अनुसार मासगणना	121-22
बारह मासों के दक्षादि अधिष्ठातृ-देवता	122-23
वर्ष के बाद द्वादशान्त के उदय का प्रतिपादन	124

हृदय में चैत्र तथा मन्त्र का उदय 125
षष्ट्यब्द का उदय 126
इसके अन्तर्गत अहोरात्र की गणना 127
प्रहरादि-सन्धि की पुण्यशालिता 128
आध्यात्मिक काल के अनन्तर बाह्यकाल के निरूपण का प्रारम्भ 129
चषक, नाली, तिथि, मास एवं वत्सर का निरूपण 130
पित्र्य अहोरात्र तथा वर्ष 131
तीन सौ साठ मानुष वर्षों का एक पित्र्य मास 132
पित्र्य अहोरात्र तथा षष्ट्यब्द का उदय 133-34
दिव्य एवं पित्र्य वर्ष की समानता के सम्बन्ध में 'श्रीरौरवागम' का प्रमाण तथा उद्धरण 134-35
'स्वच्छन्दशास्त्र' द्वारा इसी मत का समर्थनः अर्थान्तर करने वाले आचार्यों की भ्रान्ति का निराकरण 136-38
चार युगों की वर्ष-गणना एवं उनकी सन्धियाँ 138-39
मन्वन्तर तथा ब्रह्मा का दिन 139-40
ब्राह्म दिनान्त में कालवह्नि द्वारा लोक-दाह 140-41
कालवह्नि की व्यापकता के सम्बन्ध में 'श्रीरौरव' का मत 141-42
निशा पर्यन्त सभी पुद्गलों की सूक्ष्मदेह में अवस्थिति 142-43
अग्निवेग से प्रेरित जीवों की लय अवस्था 144
ब्राह्म अहोरात्र का क्षय ही विष्णु का दिन 145
ब्रह्माण्ड के लोप हो जाने पर विष्णु तथा रुद्र का क्षय 146
जल से अव्यक्त तत्त्व पर्यन्त अहोरात्र का सौ-सौ वर्षों के अनुसार विभाजन 147
अव्यक्त में अवस्थित रुद्र का दिन तथा रात 148
सृष्टि तथा संहार के अधिकारी देवता 149-50
ब्रह्मा का अवान्तर लय तथा उसके क्षय हो जाने पर सृष्टि 150-51
ब्राह्म दिन के आरम्भ में वेदादि सिद्ध पुरुषों की सृष्टि 152
प्रकृति का अहोरात्र ही 'श्रीकण्ठ' की आयु तथा यही 'वामदेव' आदि का दिन 153
पाँच कञ्चुकों का परस्पर लय तथा मायीय दिन 154

मायीय दिन एवं रात के क्षय होने पर 'गहनेश' द्वारा सृष्टि 155
सृष्टि अव्यक्त काल का दश परार्ध से गुणन करने पर मायीय दिन एवं उतनी ही रात, मायीय अहोरात्र प्रलय 156
मायीय काल का सौ परार्ध से गुणन करने पर ईश्वरीय दिन 157
ईश्वर की दिन के बराबर रात्रि 158
बिन्दु-संविद् का क्रमशः लय 159
ईश्वरीय काल का सौ परार्थ से गुणन करने पर सदाशिव का बराबर अहोरात्र एवं महाप्रलय 160
सदाशिव का चराचर सहित नाद में लय 161
नाद का शक्तितत्त्व में लय 162
शक्तितत्त्व का सदाशिव के बराबर अहोरात्र एवं उसका व्यापिनी में लय 163
व्यापिनी का अहोरात्र शक्ति के लयकाल के बराबर, उसका अनाश्रित (शिव) में लय तथा अनाश्रित का समना (साम्य नामक काल) में लय 164-65
'साम्य' नामक काल नित्य, अचिन्त्य, शक्त्यात्मक तथा अद्वय ब्रह्मरूप है 166
'साम्य' काल में भी तुटि से परार्थ तक की सृष्टि 167
दश से लेकर परार्ध तक की संख्याओं का परिगणन 168
गणित के अठारह स्थान 169
चार प्रकार के प्रलय एवं सर्ग की प्रमुखता तथा उनकी पृथ्वी, प्रकृति, माया तथा शक्ति के अण्डचतुष्टय में अवस्थिति 170
कालाग्नि आदि अथवा केवल श्रीकण्ठ द्वारा पृथ्वी, काल, माया तथा अव्यक्त की सृष्टि तथा संहार 171
श्रीकण्ठ अशुद्ध अध्वा का तथा अघोर शुद्ध अध्वा का सृष्टि-संहार कर्ता है 172
शाक्त सृष्टि महासृष्टि है 173
ब्रह्मा आदि का माया में क्रमिक लय 174
शुद्धाध्वा में स्थित का परमेश में लय तथा उसमें अन्य आचार्य द्वारा औपाधिक भेद की कल्पना 175-76
ईश्वरादि के लय हो जाने पर पुनः सृष्टि होने पर अन्य ईश्वरवर्ग का उदय 176-77
शिव की ब्राह्मी आदि शक्तियाँ ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि की सृष्टि करती हैं 177-78

शिव की अपनी शक्तियों के विकास-संकोच से अनन्तरूपता,
सृष्टिप्रलय के प्राण में प्रतिष्ठित होने का निष्कर्ष 179
प्राण की संविद् में तथा संविद् की परादेवी में प्रतिष्ठा 180
अड़तीस तत्त्वों के रूप में सहज स्पन्दमान संविद् में प्राणात्मा कालशक्ति
के षष्ट्यब्द का उदय, काल का आन्तर स्वरूप इच्छात्मक है किन्तु बाह्य अनियत 181-83
सीमित कालखण्ड का स्वप्नस्वप्न, स्वप्न, सुषुप्ति, संकल्प,
समाधि तथा कालगणना में विस्तार हो जाता है 183-84
प्राण की भाँति अपान में भी हृदय से मूलाधार तक काल की व्याप्ति 185-86
अपानात्मा काल में ब्रह्मा से अनाश्रित पर्यन्त सृष्टि-संहार का समावेश 186-87
अपानात्मा काल का स्पन्दन दुर्ज्ञेय है तथा साधना भी कठिन है 187-88
हृदयादि में स्थित ब्रह्म से अनाश्रित तक की उपासना 188-89
परमेश्वर के शक्तिभूत ब्रह्मादि की देहादि की कारणता में
'कामिक' आगम का प्रमाण 189-90
बाल्यादि अवस्थाओं के अधिष्ठाता ब्रह्मादि हैं, इस सम्बन्ध में
'कामिक' आगम का उद्धरण, त्रिकदर्शन के अनुसार मुक्ति परादेवी के आश्रित 190-91
स्वयं अकारण किन्तु विश्व के कारणभूत शिव को जान लेने से मुक्ति 192-93
अपान के विश्रान्तिस्थान अधोवक्त्र का स्वरूप,
उसकी उपासना से द्वैत का विनाश 193-94
अपानोदय में भी तुटि आदि का विभाग कर षष्ट्यब्द के उदय की योजना
प्राणोदय की भाँति कर लेनी चाहिये 194-95
हृदय की नाड़ियों में अभिव्यक्त होने वाले 'समान' के नाभि से उदित दश भेद 195-96
समान नामक प्राण की दश महानाडियों में व्याप्ति 196-97
समान की अष्टदल हृदयकमल में क्रान्ति से रौद्र तथा सौम्यरूपता 197-98
समान का मुख्यतः वाम-दक्षिण-मध्य में स्थित चन्द्र-सूर्याग्निमय
इडा-पिङ्गला-सुषुम्ना नामक नाडीत्रय में विचरण 198-99
समान का अहोरात्र में 21600 बार संचरण 199-200
(इस अहोरात्र संचरण का विभागः-) 200(ब)
विषुवत् में समान की सुषुम्ना में स्थिति 201
वृष से कन्या तक की पाँच संक्रान्तियाँ

मध्याह्न एवं सान्ध्य विषुवत् 202-4
समान की विषुवत् में स्थिति, विषुवत् की व्युत्पत्ति 204-7
अहोरात्र की ही तरह संक्रान्तियों का भी ह्रास एवं वृद्धि समानात्मा प्राण के वर्षद्वय, प्राणापान की भाँति समान में भी तुटि से षष्ट्यब्द तक का उदय 107-10
आन्तरिक संक्रान्ति की प्रमुखता, उदान के कालनिरूपण का प्रारम्भ 210-11
उदान का शक्तिद्वादशान्त उदयस्थान है 212
उदान में भी तुटि से षष्ट्यब्द तक का हृदय से शक्तिद्वादशान्त तक उदय 213
व्यान में अत्यन्त सूक्ष्म काल की स्थिति 214
पञ्चात्मक प्राण की पञ्चकृत्यकारिता 215
व्यान के प्राणचार में वर्ण, पद तथा मन्त्र के उदय की स्थिति 216
वर्णोदय का परतम स्वरूप, अनाहत नाद 217
उसकी शिवशक्तिरूपता 218
वर्णोदय का परतर स्वरूप (ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ) 219
ए, ओ, ऐ, औ संध्यक्षरों का निरूपण 220
प्रवेश में छह वर्ण, बिन्दु की द्वादशान्त, ललाट, कण्ठ तथा हृदय में स्थिति, विसर्ग की सर्वत्र स्थिति 221
कवर्ग अकार में अन्तःस्थित 222
सकार, बिन्दु एवं हकार की स्थिति 223
परतर उदय के अनन्तर सूक्ष्म वर्णोदय का आरम्भ, प्रवेश में सोलह तथा निर्गम में बारह ध्वनियाँ 224-25
सूक्ष्म-स्थूल वर्णोदय का विवेचन 225-26
'श्रीमातंगतन्त्र' के प्रमाण द्वारा इक्यासी पदों वाली शिवात्मिका शक्ति का निरूपण 227-28
शिवात्मिका शक्ति के इक्यासी पदों की समर्थक युक्तिः इक्यासी पदों से सम्पन्न परामर्श से ही शिव की भावना 228-29
व्याकरण-सम्मत नियम (सुप्तिङन्तं पदम्) के निषेधपूर्वक स्वमतानुसार पद की परिभाषाः एक परामर्श जहाँ समाप्त हो वही पद 229-30
इक्यासी पदों का उदार परामर्श स्थूल तथा मात्राविश्रान्तिपरक उपाय सूक्ष्म हैं 230-31

छत्तीस अङ्गुलों में इक्यासी अर्धमात्राओं का उदय तथा तदनुसार प्राणचार 231-32
इक्यासी अर्धमात्राओं का प्रकारान्तर से विभाजन 232-33
लघु, दीर्घ, प्लुत तथा हल् की अंगुल के अनुसार गणना 233-34
क्षकार में तीन अर्धमात्राएँ 234-35
क्षकार का स्वरूप 236
अकारादि वर्णों का अपान में विलोम से उदय 237
हृदय में अकार तथा द्वादशान्त में हकार की स्थिति ही अहंरूप अद्वैत है 238
इक्यासी अर्धमात्राओं का बहत्तर अङ्गुलियों में संसरण 239
वर्णों का स्थूलोदय 240
वर्गाष्टक का अर्धप्रहर में उदय 241
अहोरात्र में वर्गोदय 242
अहोरात्र में संक्रान्ति एवं प्राणचार 243
संक्रान्ति एवं प्राणचार के सम्बन्ध में अन्य मत 244
अहोरात्र में 2400 प्राणचार, स्थूल वर्गोदय के निरूपण की समाप्ति 245
प्रत्येक वर्ण में 216 प्राणचार (पचास वर्णों में दस हजार आठ सौ प्राणचार),
अहोरात्र में 36-36 चषक तथा प्रत्येक चषक में 6 प्राणचार 246
रौद्र, शाक्त तथा यामल की संख्या का निरूपण 247
बाह्य वर्णोदय की संकलना 248
वर्णों की संख्या 50 है, कुछ एक कम मानते हैं 249
तदनुसार प्राणचार की गणना 250
कालतत्त्व के निरूपण की समाप्ति की सूचना 251

(इ) षष्ठ आह्निक का सटिप्पण अनुवाद

आणव उपाय के अङ्गभूत 'स्थानकल्पना' नामक प्रमेय का निरूपण प्रारम्भ करते हैं:-

1. (ब) **इसके बाद स्पष्ट बाह्य उपाय का स्थानकल्पना के नाम से विवेचन किया जा रहा है।**

षष्ठ आह्निक से लेकर बारहवें आह्निक तक और पन्द्रहवें से लेकर ग्रन्थ की समाप्ति तक स्थानकल्पना का विवेचन होने के कारण 'अथ' (इसके बाद) शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः 'अथ' शब्द अधिकारार्थक है।

2. **स्थानभेद तीन प्रकार का बताया गया है-प्राण में, देह में तथा बाहर। देह में प्राण पाँच प्रकार का होता है।[1] बाह्य आन्तर भेद से (प्राण) दो प्रकार का होता है।**

3-4. **मण्डल, वेदी, पात्र, रुद्राक्षमाला, पुस्तक, लिङ्ग, तुरही (तूरी), वस्त्र, चित्रकारी, प्रतिमा और (गुरु आदि से सम्बन्धित) मूर्ति ये बाह्य (स्थान) के ग्यारह भेद हैं। फिर उनके बहुत से (अवान्तर) भेद हैं।**

स्थानभेद के स्वरूप को बताकर आगे उसकी विधि का वर्णन करते हैं:-

4-5. **उनमें से अब प्राणसम्बन्धी विधान को बताया जा रहा है। छः प्रकार का होने पर भी अत्यन्त विस्तृत यह समस्त मार्ग (अध्वा) जिसका विवेचन आगे होगा, वह एक स्थान प्राण में प्रतिष्ठित है।**

प्राणसामान्य में षड्विध अध्वा प्रतिष्ठित है जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र (4.232) में उल्लेख है। प्राणविशेष में पद, मन्त्र और वर्ण के भेद से तीन प्रकार का कालाध्वा प्रतिष्ठित है (तन्त्रा., 6.37)।

6. **यह जो अध्वा की कलना (परिच्छेद) है वह क्रम और अक्रम से स्थित है (अर्थात् समस्त दृश्यमान जगत् क्रम अथवा अक्रम से प्रकाशित होता है)। भावों के प्रकाशन होने में चित्ररूप में (क्रमशः) अथवा एक रूप में (अक्रमेण) उनका परिच्छेद ही क्रम और अक्रम है।**

भावों का प्रकाशन दो ही प्रकारों से सम्भव है-क्रम से अथवा अक्रम से। क्रमिक प्रकाशन कार्यकारणभाव की स्थिति में होता है और अक्रम से प्रकाशन

का उदाहरण चित्रज्ञान आदि है। एक ही वस्तु चित्र में अतीत और अनागत वस्तु के साथ एक ही समय में चित्रित पाई जाती है। अतीत वस्तु की दृष्टि से उसमें क्रम है किन्तु अनागत वस्तु की दृष्टि से उसमें क्रम नहीं है। भावों का क्रम और अक्रम रूप में प्रकाशन-कलना अर्थात् परिच्छित्ति ही काल है।

संसार संवित् से भिन्न नहीं है। नित्य होने के कारण संवित् का काल से सम्बन्ध नहीं माना जा सकता तो फिर उससे अभिन्न संसार (भावजगत्) का काल से सम्बन्ध किस प्रकार माना जा सकता है? इस शङ्का का उत्तर है:-

7. **क्रम और अक्रम स्वरूप सूक्ष्म काल[2] संवित् में वर्तमान है। उसी को शिव की काली नामक पराशक्ति कहा जाता है।**

संवित् तत्त्व वस्तुतः क्रम और अक्रम से परे है। परम प्रकाश शिव का काल के साथ सम्बन्ध होने पर उसके स्वातन्त्र्य से जगत् का क्रमाक्रमतया प्रकाशन (कलन) होता है। जिस प्रकार अग्नि में अपनी दाहशक्ति से सम्बन्ध होने पर भी स्फोट आदि विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कलना शक्ति (काली) से सम्बन्ध होने पर भी संवित्तत्त्व क्रमाक्रम से अकलित बना रहता है।

8. **वही संवित् अपने में स्थित क्रम और अक्रम को बाहर विकसित रूप में स्फुट करती हुई 'प्राणवृत्ति' बन जाती है।**

9. **प्रकाशस्वरूप यह जो शुद्ध संवित्तत्त्व है वह अपने से प्रमेय को अलग कर शून्य रूप में पृथक् आभासित होता है।**

10. **इसी को संवित् की शून्यरूपता कहा गया है। 'नेति नेति' के परामर्श द्वारा योगियों की यह परम दशा है।**

शून्यरूपता संवित्तत्त्व की निरावरण स्थिति है जिसमें वह प्रमेय से सर्वथा पृथक् रहता है। यही उसका प्राणवृत्ति के रूप में स्फुरण है और यही शून्यप्रमाता का स्वरूप है। शून्यता समग्र प्रमेय के क्षय की स्थिति है, संवित् के विनाश की नहीं। स्वच्छन्दतन्त्र (4.291) में भावों की क्षय की स्थिति को अभाव कहा गया है और अभाव ही शून्यता है। इसी को अन्यत्र इस रूप में व्यक्त किया गया है कि सभी प्रकार के आलम्बनधर्मों, सत्त्वों, क्लेशों और आशयों से शून्य होना ही शून्य है। परमार्थतः शून्यता नहीं होती। इसीलिए अशून्य को शून्य कहा गया है। अर्थात् परमार्थतः अशून्य किन्तु भावों से शून्य।

योगिजन मध्यमा प्रतिपत् का सहारा लेकर भाव का भी निषेध करते हैं और अभाव का भी। यही उनकी निर्वाण-स्वरूपा परमदशा है जो संवेदनशून्य तथा निरुपाख्य है।

यही शून्यप्रमाता बहिर्मुख होकर प्राणप्रमाता बन जाता है:-

11. **वही शून्यप्रमाता इस अलग किये हुए प्रमेय को स्वीकार करने के लिए उन्मुख होकर जब उच्छलित हो आगे बढ़ता है (अर्थात् बहिर्मुख होता है) तो वह प्राण के स्पन्दन से तरङ्गित हो जाता है।**

शून्यप्रमाता का आणवमल से संयोग होने पर उसमें प्रमेय को स्वीकार करने की अभिलाषा जगती है। अभिलाषा को ही स्वच्छन्दतन्त्र (4.104) में मल कहा गया है। आणवमल का स्वरूप है पूर्ण होने पर भी अपने को अपूर्ण मानना। निस्तब्ध समुद्र में जिस प्रकार प्रथम तरङ्ग हल्की हलचल पैदा करती है उसी प्रकार शून्यप्रमाता में प्रमेय को स्वीकार करने की अभिलाषा का जब प्रथम अङ्कुर जगता है तो वह इस स्पन्दन के कारण ही प्राणप्रमाता कहलाता है। प्राणादिप्रमाता में प्राण का प्रयोग औपचारिक है, क्योंकि स्पन्दन का प्राण के साथ सादृश्य है अन्यथा प्राणरूप प्रमाता तो शून्यप्रमाता से भी ऊपर है।

इसी को भट्ट कल्लट ने इस प्रकार कहा है:-

12. **अत एव कहा है कि संवित् (अविकृत रहकर) पहले प्राणरूप में परिणत होती है। (उसके बाद) प्राण बुद्धि का आश्रय ग्रहण करता है।**

संवित् शून्यता के पूर्व प्राणरूप में परिस्फुरित होती है। किन्तु शून्यता की स्थिति में उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता। इसीलिए प्राण रूप में परिस्फुरण के अनन्तर बुद्धि प्रमाता का उल्लेख किया गया है।

प्राण का उल्लास संवित् का प्रथम स्पन्दन है। इसीलिए प्राण का उसके साथ अभेद-व्यवहार होता है:-

13. **आन्तरिक (आद्य) उद्योग (परिस्पन्दन) की अभिलाषा वाली यह वह प्राणना शक्ति है जिसे स्पन्द[3], स्फुरत्ता[4], विश्रान्ति, जीव, हृदय (तथा) प्रतिभा[5] माना गया है।**

इस प्राणना शक्ति के उल्लास का प्रयोजन है:-

14. **वह प्राणशक्ति प्राण आदि पाँच रूपों से चूँकि शरीर को अपना लेती है, अतः यह (शरीर) चैतन्य से पूर्ण लगता है।**

'चैतन्य से युक्त शरीर से भिन्न आत्मा नहीं' लोकायत का यह भ्रान्त मत इसीलिए प्रचलित है क्योंकि प्राणात्मिका संवित् घटादि की भाँति संवेद्य देह को संवेदक बना देती है।

15. इसलिए मूढ़ प्राणशक्ति से एकाकार चैतन्य से युक्त देह में उत्पन्न चेष्टा को (आत्मा के रूप में) देखते हैं और उससे भिन्न (आत्मा) नहीं है, यह मानते हैं।

देह और आत्मा का भेद न जानने वाले मूढ़ या मूर्ख हैं। उनके अनुसार अचेतनभूत शरीर का आकार ग्रहण करने पर चेतन हो जाते हैं जैसे कि गुड़ शराब बनकर मादक हो जाती है। शरीर को चेतन-स्थिति में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि होती रहती है। इस अवस्था के बदलने पर चेतन शरीर पुनः मिट्टी बनकर अचेतन अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[6]

16. तत्त्वदर्शी चार्वाक बालक, मूर्ख, स्त्री जैसे प्रमाताओं द्वारा अपनाये गये उसी मत (अर्थात् चैतन्यविशिष्ट आत्म देह ही आत्मा है) को प्रमाणित करते रहते हैं।

यदि देह से अभिन्न आत्मा हो तो पूर्व जन्म आत्मा को उसी प्रकार स्मरण रहना चाहिये जैसे कि शरीर को अपनी शैशवादि अवस्थाओं का रहता है। चार्वाक मत के समर्थन में जयरथ ने बृ.आ.उ. (4.5.13) को उद्धृत किया है। एवं उस प्रसिद्ध सूक्ति को भी जिसके अनुसार सुखपूर्वक जीना चाहिये, कोई भी मौत से बच नहीं सकता, भस्मीभूत देह का पुनर्जन्म असम्भव है।[7]

17. यदि उन (चार्वाकों) की ऐसी भावना निरन्तर पुष्ट होती रहे तो वे शरीर के समाप्त होने पर, उस प्रकार की वासना (संस्कार) के नष्ट न होने तक, 'सुप्त' बने रहते हैं।

चार्वाक की 'सुप्त' अवस्था उस प्रलयाकल के समान है जिसे विषय का कोई भान नहीं हो पाता।

18. किन्तु उनकी उस (एक) वासना के नष्ट होने पर दूसरी अविनष्ट वासना कहीं से उद्बुद्ध होकर विभिन्न प्रकार की फलसम्पदा पैदा कर देती है।

चार्वाक और सांख्यादि का मोक्ष-सिद्धान्त एक जैसा है। दोनों वासना के अनुसार फल का पुनः उदय मानते हैं। आगे चलकर तंत्रालोक (6.152) में इनके मुक्ति-सिद्धान्त को ठीक नहीं माना है।

चार्वाक-मत के क्षुद्र होने का कारण बताते हैं:-

19-20. (चार्वाक-मत के) दृढ़ न होने के सन्देह के कारण, प्राचीन (आस्तिक) भावना के सुस्थित रहने के कारण, दूसरे (दर्शनों द्वारा

बताये हुए) कर्त्तव्यों के प्रति शिथिलता होने से, सम्भावित पश्चात्ता के कारण, उसमें विश्वास न रखने वाले दूसरे लोगों द्वारा की जा वाली उपेक्षा के कारण इस नास्तिकता की भावना को सबसे बड़ 'पाप' कहा गया है।

शैव दर्शन की दृष्टि से दूसरे सभी दर्शन हेय हैं किन्तु उन सबकी अपेक्ष नास्तिक मत अत्यन्त हेय है। इस मत के खण्डन में पाँच कारण प्रस्तुत कि गये हैं। निर्मूल होने के कारण नास्तिक-मत के दृढ न होने की सदा शंका बन रहती है। आस्तिक मत का मूल सुप्रतिष्ठित है। अग्निहोत्र आदि के विधान ए हिंसा के निषेध के रूप में जो विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्य निर्धारित हैं उनक आचरण करने में, परलोक आदि को न मानने के कारण, नास्तिक-मतावलम्ब शिथिल हो जाता है। परलोक में सन्देह होने पर भी अशुभ का त्याग करन चाहिये क्योंकि परलोक न भी हो तो कोई हानि न होगी किन्तु यदि हुआ त नास्तिक ही मारा जायेगा। आस्तिक जन नास्तिक-मत को सदा ठुकराते रहे हैं इन कारणों से आत्मा एवं परलोक को न मानने वाला अप्रामाणिक नास्तिक मत सर्वथा हेय है।

21-22. **अब अप्रस्तुत को छोड़ प्रस्तुत का विवेचन किया जा रहा है।**

यह जितना है सारा ही अध्वा प्राण में प्रतिष्ठित है। इस अध्वा के क्रिय और मूर्ति के कारण दो प्रकार से भेद किये जाते हैं।

देश और काल के भेद से अध्वा दो प्रकार का है-क्रिया के आधार पर कालाध्व और मूर्तिभेद के आधार पर देशाध्वा। यही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (2.1.5) प्रतिपादित है। अध्वा वस्तुतः संविद् में प्रतिष्ठित है (द्रष्टव्य - तन्त्रा., 8.3) इसे यहाँ प्राण में प्रतिष्ठित क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर है :-

22-23. **'श्रीत्रिशिरस्' (शास्त्र) में प्राण को ही 'शिखा' कहा गया है। वह पूर्ण होने के कारण शिवात्मिका है किन्तु यागादि के समय बद्ध रहती है।**

भैरव की परिमित शक्ति को 'शिखा' कहा जाता है। इसी को क्रिया शक्ति भी कहते हैं। इसका बन्ध किस प्रकार का है ? -

23-24. **इस (प्राणशक्ति) की दिन और रात के बीच चौबीस प्रकार से गति होती है। प्राण के संचरण के (नौ) सौ द्वारों के कारण (यह प्राण गति) विभिन्न फल प्रदान करती है।**

अहोरात्र (रात-दिन) दो प्रकार का माना गया है-आध्यात्मिक तथा बाह्य)

इसमें प्राण का संचार निरन्तर होता रहता है। बाह्य अहोरात्र 60 घटिका का होता है जिसे 2।। घटिका की इकाई (जिसमें प्राण की एक बार ऊर्ध्वाधोगति होती है) से विभाजित करने पर 24 संक्रान्तियाँ बनती हैं। इन्हीं चौबीस गतियों का ऊपर उल्लेख है। इसी प्रकार 360 अहोरात्र (अर्थात् वर्ष) को 2।। से गुणा करें तो 900 की संख्या आती है। एक वर्ष में इस प्रकार प्राण की 900 गतियाँ होती हैं। आध्यात्मिक प्राण का संचरण 21600 बार माना गया है। स्वच्छन्दतन्त्र 7.52-57 तथा 7.167-70 में तथा विज्ञानभैरव, 156 में उपर्युक्त विषय का विवेचन है।

24-27. **अपान एवं नादरूप रात्रि का चन्द्रमा जब एकत्र (हृदय के वाम पार्श्व में) स्थित होता है और प्राणरूपी सूर्य निष्क्रमण नहीं करता है तो आधी तुटि[6] की प्रभात-संध्या होती है। सूर्य ऊर्ध्वमुख होता है, चन्द्र (ताल्वादि के) बीच में अधोमुख और वह्नि का उदय होता है तो मोक्ष देने वाली मध्याह्न-संध्या होती है क्योंकि जिसका सार (प्रमातृरूप) समाप्त नहीं हुआ है तथा जो प्राणिवर्ग को प्रबुद्ध करता है ऐसा (प्राणात्मा) सूर्य आकाश (सुषिर) के मध्य (अर्थात् तालुस्थान) में स्थित रहता है। बिन्दु, प्राण तथा दिनरूप रवि (जब) एकत्र (अर्थात् द्वादशान्त में) स्थित हो जाता है (तब) तीसरी महासंध्या विद्यमान रहती है जो कि प्रशान्त स्वभाव की है।**

बाह्य अहोरात्र की भाँति आध्यात्मिक अहोरात्र में तीन काल की संध्या का यहाँ सम्भवतः 'त्रिशिरस्शास्त्र' के अनुसार वर्णन है। अपान एवं नाद को चन्द्र तथा बिन्दु एवं प्राण को सूर्य कहा जाता है। जब द्वादशान्त से हृदय तक चलने वाला अपानात्मा चन्द्र हृदय में जाकर विश्रान्त हो जाता है और प्राणरूप सूर्य का उदय नहीं होता तो प्रभात की संध्या होती है जिसमें 2। अङ्गुल प्राण का संचरण होता है।

प्राणात्मा रवि ऊर्ध्वमुख होकर चलता हुआ ताल्वादि के मध्य में स्थित हो जाता है और अपानात्मा चन्द्र अधोमुख बना रहता है तो प्रमाणात्मा सूर्य तथा प्रमेयात्मा चन्द्र के सम्मेलन से प्रमातृरूप वह्नि का उदय होता है। यही मध्याह्न की संध्या है। मध्य नाडी से सम्बन्धित सुषिर (छिद्र) के तालुस्थान में स्थित सूर्य प्रमातृरूप का प्राणिवर्ग को बोध कराता है। अतः इस संध्या को मोक्षदायिनी माना गया है।

बिन्दु, प्राण एवं दिनस्वरूप सूर्य जब द्वादशान्त में प्रतिष्ठित हो जाता है और अपानात्मा चन्द्र का उदय नहीं होता तो समग्र विश्व के शान्त हो जाने से यह महासंध्या कहलाती है। इस त्रिविध संध्या के सम्बन्ध में जयरथ ने मूलग्रन्थ के भी उद्धरण दिये हैं जो द्रष्टव्य हैं।[9]

28. **वहाँ (यागादि में प्राणशक्तिरूपा) शिखा इस प्रकार बांधी जाती है तो वह विभिन्न प्रकार के (यन्त्रसन्निधि आदि) फलों को देने वाली होती है। अतः यह समस्त अध्वा संविद् में विश्रान्त होकर वर्तमान है।**

अमूर्त एवं निष्क्रिय संविद् में मूर्त एवं क्रमरूप अध्वा किस प्रकार स्थित है? इस आशंका का उत्तर है :-

29. **व्यापक होने के कारण अमूर्त तथा निष्क्रिय शिव संविद् द्वारा मूर्ति एवं क्रिया के रूप में जो प्रकाशन है वही (भुवनादि रूप अथवा मन्त्रादिरूप) अध्वा है।**

अध्वा शब्द के प्रयोग का कारण निम्नलिखित है:-

30. **अध्वा भेद में स्थित लोगों के लिए (द्वैतिना) क्रमशः गन्तव्य पद (शिवतत्त्व) की प्राप्ति का हेतु है तथा तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने वालों (प्रबुद्धानां) के द्वारा भोग्य है। अतः 'अद्यते' के कारण भी (मुक्त किया जाता है अर्थात् स्वात्मरूप बनाया जाता है, इस व्युत्पत्ति से भी) अध्वा है।**

अध्वा की दो व्युत्पित्तियाँ यहाँ दी गई हैं। मार्ग की भाँति द्वैतियों को क्रमशः शिवतत्त्व तक पहुँचाने के कारण इसे अध्वा कहा गया है। तथा अ 'अद्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी इसे अध्वा कहा गया है।[10] प्रबुद्ध व्यक्ति इस मार्गभूत अध्वा को अपने स्वरूप में समाविष्ट कर लेते हैं (अद्यते)। अतः यह अध्वा है।[11]

अध्वा शब्द की यौगिक व्युत्पत्ति देने का कारण निम्नलिखित है:-

31. (अ) **कारण यह है कि यहाँ सर्वत्र शब्दों की चर्चा अर्थानुसार करनी चाहिये।**

शब्द तीन प्रकार के होते हैं यौगिक, रूढ, तथा योगरूढ। इनमें यौगिक को ही प्रधान मानना चाहिये क्योंकि उसका प्रयोग सहेतुक होता है। जहाँ तक हो सके शेष दो भेदों को यौगिक शब्द के अन्तर्गत ही सम्मिलित करना चाहिये।

31-32. 'श्रीनिशाचार' (शास्त्र) में यह कहा गया है। इसमें संज्ञा को तीन प्रकार का माना गया है-नैमित्तिकी (यौगिकी), तथा प्रसिद्धा (रूढा) एवं पारिभाषिकी (योगरूढा)। इनमें पहली (नैमित्तिकी) प्रधान है। अतः उसी में (दूसरी संज्ञाओं का) अन्तर्भाव करना चाहिये।

33. इसीलिए अध्वा शब्द की यह व्युत्पत्ति बताई गई है। यदि (किसी शब्द की व्युत्पत्ति) न भी बताई जाय तो अपनी बुद्धि से उसकी कल्पना कर लेना चाहिये, क्योंकि पुस्तक में कितना लिखेंगे।

जयरथ ने सम्भवतः 'निशाचार' से मूल उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जो द्रष्टव्य हैं।[12]

34. इनमें से (संवित् द्वारा) जो क्रिया का अवभासन है वह 'काल' नामक अध्वा कहलाता है। वर्ण, मन्त्र तथा पद के नाम से इसमें स्पष्टतः त्रिविध मार्ग (भेद) होता है।

35. यह जो मूर्ति के अवभासन का अंश है, वह देशाध्वा कहलाता है। कला, तत्त्व तथा पुर (भुवन) नामक तीन (भेद) इसमें अन्तर्भूत हैं।

देश एवं काल के भेद से द्विविध अध्वा में से प्रत्येक के त्रिविध भेद का कारण निम्नाङ्कित है:-

36. चूँकि इस त्रिकद्वय (तीन भेद वाले द्विविध अध्वा) में प्रत्येक का स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा पर होता है अतः इस सारे अध्वा को छः प्रकार का कहा गया है।

कालाध्वा के तीन भेद बताये गये हैं-पद, मन्त्र तथा वर्ण। इनमें पद स्थूल है, मन्त्र सूक्ष्म है तथा वर्ण पर। इसी प्रकार देशाध्वा के त्रिविध भेदों में भुवन स्थूल है, तत्त्व सूक्ष्म है तथा कला पर है। इस प्रकार अध्वा छः प्रकार का है। उपर्युक्त विवेचन के लिए स्वच्छन्दतन्त्र (4.95-97) द्रष्टव्य है।[13]

37. छः प्रकार के अध्वा में यह जो पहला (पद, मन्त्र, वर्णरूप) तीन का समूह है वही कालाध्वा है जो स्पष्टतः प्राण में प्रतिष्ठित है।

38-40. तत्त्वों में परिगणित काल से यह काल भिन्न है। यह काल शिव की विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ क्रिया शक्ति है तथा समस्त तत्त्वों का उत्पत्तिस्थान है। यह ईश्वरतत्त्व है जिसे शिव का शरीर (बहिर्मुखरूप) कहा गया है क्योंकि यह विस्तारशील होने से कार्यात्मक विश्व के साथ एकाकार है।

बिन्दु, प्राण एवं दिनस्वरूप सूर्य जब द्वादशान्त में प्रतिष्ठित हो जाता है और अपानात्मा चन्द्र का उदय नहीं होता तो समग्र विश्व के शान्त हो जाने से यह महासंध्या कहलाती है। इस त्रिविध संध्या के सम्बन्ध में जयरथ ने मूलग्रन्थ के भी उद्धरण दिये हैं जो द्रष्टव्य हैं।[9]

28. **वहाँ (यागादि में प्राणशक्तिरूपा) शिखा इस प्रकार बांधी जाती है तो वह विभिन्न प्रकार के (यन्त्रसन्निधि आदि) फलों को देने वाली होती है। अतः यह समस्त अध्वा संविद् में विश्रान्त होकर वर्तमान है।**

अमूर्त एवं निष्क्रिय संविद् में मूर्त एवं क्रमरूप अध्वा किस प्रकार स्थित है? इस आशंका का उत्तर है :-

29. **व्यापक होने के कारण अमूर्त तथा निष्क्रिय शिव संविद् द्वारा मूर्ति एवं क्रिया के रूप में जो प्रकाशन है वही (भुवनादि रूप अथवा मन्त्रादिरूप) अध्वा है।**

अध्वा शब्द के प्रयोग का कारण निम्नलिखित है:-

30. **अध्वा भेद में स्थित लोगों के लिए (द्वैतिना) क्रमशः गन्तव्य पद (शिवतत्त्व) की प्राप्ति का हेतु है तथा तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने वालों (प्रबुद्धानां) के द्वारा भोग्य है। अतः 'अद्यते' के कारण भी (मुक्त किया जाता है अर्थात् स्वात्मरूप बनाया जाता है, इस व्युत्पत्ति से भी) अध्वा है।**

अध्वा की दो व्युत्पित्तियाँ यहाँ दी गई हैं। मार्ग की भाँति द्वैतियों को क्रमशः शिवतत्त्व तक पहुँचाने के कारण इसे अध्वा कहा गया है। तथा अ 'अद्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी इसे अध्वा कहा गया है।[10] प्रबुद्ध व्यक्ति इस मार्गभूत अध्वा को अपने स्वरूप में समाविष्ट कर लेते हैं (अद्यते)। अतः यह अध्वा है।[11]

अध्वा शब्द की यौगिक व्युत्पत्ति देने का कारण निम्नलिखित है:-

31. (अ) **कारण यह है कि यहाँ सर्वत्र शब्दों की चर्चा अर्थानुसार करनी चाहिये।**

शब्द तीन प्रकार के होते हैं यौगिक, रूढ, तथा योगरूढ। इनमें यौगिक को ही प्रधान मानना चाहिये क्योंकि उसका प्रयोग सहेतुक होता है। जहाँ तक हो सके शेष दो भेदों को यौगिक शब्द के अन्तर्गत ही सम्मिलित करना चाहिये।

31-32. 'श्रीनिशाचार' (शास्त्र) में यह कहा गया है। इसमें संज्ञा को तीन प्रकार का माना गया है-नैमित्तिकी (यौगिकी), तथा प्रसिद्धा (रूढा) एवं पारिभाषिकी (योगरूढा)। इनमें पहली (नैमित्तिकी) प्रधान है। अतः उसी में (दूसरी संज्ञाओं का) अन्तर्भाव करना चाहिये।

33. इसीलिए अध्वा शब्द की यह व्युत्पत्ति बताई गई है। यदि (किसी शब्द की व्युत्पत्ति) न भी बताई जाय तो अपनी बुद्धि से उसकी कल्पना कर लेना चाहिये, क्योंकि पुस्तक में कितना लिखेंगे।

जयरथ ने सम्भवतः 'निशाचार' से मूल उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जो द्रष्टव्य हैं।[12]

34. इनमें से (संवित् द्वारा) जो क्रिया का अवभासन है वह 'काल' नामक अध्वा कहलाता है। वर्ण, मन्त्र तथा पद के नाम से इसमें स्पष्टतः त्रिविध मार्ग (भेद) होता है।

35. यह जो मूर्ति के अवभासन का अंश है, वह देशाध्वा कहलाता है। कला, तत्त्व तथा पुर (भुवन) नामक तीन (भेद) इसमें अन्तर्भूत हैं।

देश एवं काल के भेद से द्विविध अध्वा में से प्रत्येक के त्रिविध भेद का कारण निम्नाङ्कित है:-

36. चूँकि इस त्रिकद्वय (तीन भेद वाले द्विविध अध्वा) में प्रत्येक का स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा पर होता है अतः इस सारे अध्वा को छः प्रकार का कहा गया है।

कालाध्वा के तीन भेद बताये गये हैं-पद, मन्त्र तथा वर्ण। इनमें पद स्थूल है, मन्त्र सूक्ष्म है तथा वर्ण पर। इसी प्रकार देशाध्वा के त्रिविध भेदों में भुवन स्थूल है, तत्त्व सूक्ष्म है तथा कला पर है। इस प्रकार अध्वा छः प्रकार का है। उपर्युक्त विवेचन के लिए स्वच्छन्दतन्त्र (4.95-97) द्रष्टव्य है।[13]

37. छः प्रकार के अध्वा में यह जो पहला (पद, मन्त्र, वर्णरूप) तीन का समूह है वही कालाध्वा है जो स्पष्टतः प्राण में प्रतिष्ठित है।

38-40. तत्त्वों में परिगणित काल से यह काल भिन्न है। यह काल शिव की विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ क्रिया शक्ति है तथा समस्त तत्त्वों का उत्पत्तिस्थान है। यह ईश्वरतत्त्व है जिसे शिव का शरीर (बहिर्मुखरूप) कहा गया है क्योंकि यह विस्तारशील होने से कार्यात्मक विश्व के साथ एकाकार है।

विश्व का अवभासन करना ही बाह्य उन्मेष है जिसे ईश्वर[14] कहा जाता है। उपर्युक्त काल का स्वरूप इससे अभिन्न है। इसलिए यह कालतत्त्व (अर्थात् कालात्मिका क्रियाशक्ति) ईश्वरतत्त्व से अभिन्न है। विश्व की कलना करने के नाते ही इसे काल तथा शिव का बहिर्मुख रूप माना गया है। काल की स्थिति में विश्व के साथ एकात्मता होने के कारण काल को भेदाभेददशा माना गया है। इस दशा में इदन्ता (भेद) की प्रतीति अहन्ता (अभेद) के साथ होती है।

विश्व की कलना ईश्वरतत्त्व से होती है। अतः कालतत्त्व का पृथक् परिगणन अनुचित है। इसका समाधान है:-

40-42. **परमात्मा की जो ईश्वररूपता है वही मायाप्रमाता में कालतत्त्व कहलाता है। शिव से लेकर शुद्धविद्या तक शिव का जो (आनन्दादि शक्तिरूप) अपना स्वरूप है वही माया से लेकर राग तक पुरुष का कञ्चुक बन जाता है।**

42-43. **अनाश्रित[15], माया, कला, विद्या[16], सदाशिव, ईश्वर, काल, नियति, सद्विद्या एवं राग कहा जाता है।**

43-46. **शिव (अनाश्रित) शून्यप्रमाता है। सदाशिव बुद्धिप्रमाता है। ईश्वर प्राणप्रमाता है तथा विद्या देहप्रमाता है। क्योंकि अनाश्रय शून्यता है, ज्ञान की बुद्धिता है, विश्वात्मता ही प्राणता है तथा देह में वेद्य की एकाग्रता होती है। अत एव प्राणपथ में विश्व की यह आकलना अवस्थित है (अर्थात् प्राण विश्वात्मक है)। जिस (कलात्मक) स्वरूप से (विश्व प्राण में अवस्थित है) उसे बताने जा रहे हैं - इस पर सज्जन ध्यान दें।**

प्राण समग्र शरीर में व्याप्त है, अन्यथा कुछ अङ्ग स्तम्भ के समान निष्प्राण रहते तो फिर प्राण का संचरण 'श्रीस्वच्छन्दशास्त्र' आदि में हृदय से प्रारम्भ कर क्यों बताया गया है? इस शङ्का का समाधान इस प्रकार है:-

46-48. **यद्यपि द्वादशान्त अवधि वाले प्राण इस शरीर में सर्वत्र ओतप्रोत हैं किन्तु इस रूप में यह स्पष्ट नहीं है (अर्थात् शरीर में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी कहीं प्राण स्फुट होता है और कहीं अस्फुट)**

(प्राण का) स्पन्दन दो प्रकार का माना गया है : जीवनमात्रारूप (स्वाभाविक) तथा इच्छापूर्वक।

संवेद्य और असंवेद्य के रूप में इसके पुनः दो भेद हो जाते हैं। (इन चार भेदों में से) प्रत्येक को स्फुट और अस्फुट होने के कारण दो प्रकार का समझना चाहिये।[17]

स्वारसिक प्राणस्पन्दन का कन्द से संवेदन प्रारम्भ होता है किन्तु वह स्फुट नहीं होता। इसका उल्लेख करते हैं:-

49. **कन्द (लिङ्गमूल) के प्रारम्भ से ही संवेद्य जीवन नामक प्रयत्न के स्पन्दन से प्राण सुन्दर होता है तथापि इस अवस्था में वह अत्यन्त स्फुट नहीं होता है।**

50. **अत एव मूलाधार से प्रारम्भ कर, वायु के आधार पर, नाडियों की व्यवस्था स्फुट तथा स्वच्छन्दशास्त्र में बताई गई है।**

51. **किन्तु यहाँ (मूलाधार में) भी (प्राण का) यह स्पन्दन संवेद्य नहीं रहता। अतः हृदय से प्रारम्भ कर इच्छापूर्वक स्पन्दन के आधार से प्राण के संचरण का विभाग बताया जा रहा है।**

जयरथ ने कन्द से प्राण-स्पन्दन के प्रारम्भ के सम्बन्ध में तथा हृदय से प्रारम्भ होने वाले प्राणचार की उपयोगिता के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतन्त्र (7.7-8 तथा 7.20-21) का उल्लेख किया है।[18]

प्राण के कहीं स्फुट और कहीं अस्फुट संवेदन का कारण निम्नाङ्कित है:-

52. **प्रभु शिव की जो वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्रिका शक्ति है उनमें से एक के साथ आत्मा और प्राण स्पन्दन को पैदा करते हैं।**

प्रभु-शक्ति, आत्मा तथा प्राण तीनों मिलकर प्राण-स्पन्दन को पैदा करते हैं।[19]

इन त्रिविध शक्तियों में कहीं कोई और कहीं कोई मुख्य होती है :-

53-54. **कहीं प्रभुशक्ति मुख्य होती है जैसे कि अङ्ग (आँख आदि) के फड़कने में, कहीं आत्मशक्ति जैसे कि लिङ्ग के संकोच-विकास में, कहीं प्राणशक्ति जैसे कि स्पष्टतः हृदय की प्राणगति में। ध्यानशील योगियों में तीन अथवा दो शक्तियाँ मुख्य होती हैं।**

इन शक्तियों में गौणमुख्यभाव के अतिरिक्त परस्पर विपर्यास भी सम्भव है :-

55. **एकाग्रता, अदृष्ट (जन्मान्तरीयसंस्कार), बलिष्ठता तथा संक्षोभ के कारण प्राण तथा आत्मशक्ति की मुख्यता का व्युत्क्रम भी हो जाता है।**

योगी अपने ध्यान से अङ्गस्फुरण कर सकता है। अतः अङ्गस्फुरण में सामान्यतः प्रभुशक्ति की प्रधानता होने पर भी उसके द्वारा अपने ध्यान से अंगस्फुरण में आत्मशक्ति की प्रधानता हो जाती है। इस प्रकार प्रभुशक्ति का आत्मशक्ति द्वारा विपर्यय का यह उदाहरण है। अदृष्ट के कारण गौ आदि अपनी प्राणशक्ति से अङ्ग का स्फुरण कर लेते हैं। अतः इनके उदाहरण में प्रभुशक्ति का प्राणशक्ति

द्वारा विपर्यय है। पहलवान अपनी प्राण-शक्ति से विभिन्न प्रकार के साहसी कार्य कर लेते हैं। इस प्रकार उनके उदाहरण में आत्मशक्ति का प्राणशक्ति द्वारा विपर्यय है। प्राण के बलवान् होने पर वायु रोग से ग्रस्त व्यक्तियों के अङ्ग का संचालन प्रभुशक्ति से ही हो पाता है। इस प्रकार इन त्रिविध शक्तियों में परस्पर पूर्वप्रतिपादित गौणमुख्यभाव तो है ही, इनमें उपर्युक्त कारणों से विपर्यय भी हो जाता है। जहाँ इन शक्तियों में से कोई प्रमुख रहती है वहाँ प्राणीय स्पन्दन संवेद्य रहता है, अन्यथा असंवेद्य।

56. **वामा नामक ईश्वरीय प्रभुशक्ति संसार के प्राणियों में, ज्येष्ठा (नामक आत्म-शक्ति) प्रबुद्ध लोगों में तथा रौद्रिका (नामक प्राण-शक्ति) भूखे-प्यासों में (प्राणस्पन्दन का) निष्पादन करती है।**

57. **वामा संसार का वमन करने वाली है, ज्येष्ठा शिवात्मिका है, रौद्री (रौद्रिका) रोगों को दूर करने वाली तथा सभी कर्मों का अवरोध करने वाली है।**

वामा आदि प्रभुशक्तियाँ सृष्टि, संहार एवं स्थितिस्वरूपा हैं। वामाशक्ति शिव के अणुस्वरूप का विनाश कर सृष्टि करती है, रौद्री सांसारिक आनन्द प्रदान करती है तथा ज्येष्ठा ज्ञान और कर्म में आंशिक स्वातन्त्र्य स्थापित करती है।[20]

58. **सृष्टि आदि के रहस्य को बिना जाने न मुक्त हो सकता है और न (दूसरों को) मुक्त कर सकता है। इसीलिए 'श्रीयोगचार' में कहा गया है कि मोक्ष सभी (सृष्टि आदि) को समझने से होता है।**

59. **जो योगी सृष्टि, स्थिति एवं संहार को नहीं समझते हैं वे मुक्त नहीं हो पाते क्योंकि वे (सृष्टि-सम्बन्धी) अज्ञानरूपी बन्धन में बंधे रहते हैं।**

60. **ये सभी सृष्टि आदि निस्सन्देह काल के अधीन हैं और वह प्राणात्मक है। अतः प्राणचार का स्पष्ट निरूपण किया जा रहा है।**

61. **सभी प्राणी का अपनी अङ्गुली के अनुसार हृदय से शाक्तद्वादशान्त तक छत्तीस अङ्गुल का प्राणचार होता है।[21]**

62. **पतला शरीर हो या मोटा, एक ही प्रकार का (अर्थात् अपने-अपने छत्तीस अङ्गुल का प्राणचार) होता है। वीर्य, ओज, बल, स्पन्दन तथा प्राणचार (प्रत्येक शरीर में) समान हैं।**

63. छत्तीस अङ्गुल के संचार में यह जो (प्राण-अपानरूप) आरोह तथा अवरोह का युगल है उसी में नालिका, तिथि, मास एवं वर्ष तथा उनका समुदाय स्पष्टतः स्थित है।

64. सवा दो अङ्गुल से युक्त प्राण तुटि है। उसका सोलह बार उच्छ्वास एवं निःश्वास होता है (अर्थात् प्राण एवं अपान में संचरित वायु बत्तीस-बत्तीस तुटियों की होती है)[22]। $1\frac{1}{5}$ अङ्गुल का चषक कहलाता है (इस प्रकार प्राण तथा अपान का विभाजन करने पर तीस-तीस चषक होते हैं। साठ चषकों की एक घटिका होती है)।

65-67. श्वास-प्रश्वास की उपर्युक्त नाडी (घटिका) प्राण के बाह्य संचार (निर्गम) होने पर नौ अंगुलियों की चार तुटि का प्रहर होता है।[23] चार प्रहर का दिन तथा अन्तःसंचार (अपान के उदय) में चार की रात होती है (इस प्रकार अहोरात्र आठ प्रहर का होता है)।[24]

ये (प्राणापान) ही सूर्य-चन्द्र कहलाते हैं। इन दोनों की तुटि का दल दो संध्याएँ हैं। केतु सूर्य में तथा राहु चन्द्र में अन्तर्भूत है (अर्थात् सूर्यचन्द्र के उदय में ही केतु-राहु का उदय समाहित है)। वारभागी भौमादि ग्रह का (66) दो प्रहर तक उदय रहता है, दूसरे ग्रहों का उदय इसके मध्य होता है।[25]

प्रथम अर्धप्रहर से प्रारम्भ कर सात प्रकार के फल का निर्देश निम्नाङ्कित है :-

67-68. पारलौकिक, ऐहिक एवं दूर की सिद्धि, मोक्ष, अभिचार तथा दूर एवं निकट का प्रकर्ष आठ प्रहरों में होता है।

मध्याह्न तथा मध्यनिशा में (उदित) अभिजित्[26] (नक्षत्र) मोक्ष एवं भोग का दायक है।

नक्षत्र तथा तद्भिन्नों (अर्थात् राशि तारा आदि) का उदय क्रमशः मध्य- स्थान (तालुमध्य) से होता है।

प्रहराष्टक में नक्षत्र आदि का ही नहीं अपितु नाग, लोकेश्वर आदि का भी उदय होता है:-

69-71. नाग[27], लोकेश[28], मूर्तीश्वर[29], (चण्ड, नन्दी आदि) गणेश, जलतत्त्व से प्रकृति तत्त्व तक के नायक (अनन्त आदि) विद्येश्वर, सकल[30] से प्रारम्भ करके कण्ठ्योष्ठ्य तक के भैरव, पारमेश्वरी शक्तियाँ, वामेश

तथा वीरनायक, ये आठ-आठ स्थूल एवं सूक्ष्म हैं, अतः (इनमें परमस्पर) व्याप्यव्यापकभाव है (उदाहरण के लिए स्थूलग्रह व्याप्य है उनकी अपेक्षा नाग सूक्ष्म तथा व्यापक है)। इनका उदय आठ प्रहरों (के अहोरात्र) में क्रमशः होता है।[31]

प्रहराष्टक की भाँति दिन एवं निशा में भी फल-भेद होता है। किन्तु उद्देश्य के अनुसार इनमें परस्पर परिवर्तन भी सम्भव हैः-

72-75. दिन में क्रूर तथा रात्रि में सौम्य कर्म निस्सन्देह होते हैं पर साथ ही उद्देश्य की भी क्रूरता एवं सौम्यता को भी स्वीकार किया गया है।

दिन तथा रात्रि के क्षय में (अर्थात् सायं एवं प्रातः की संध्याओं में) व्याप्ति-ध्यान-योग से मुक्ति होती है। परमेश ने 'श्रीवीरावलीकुल' में इन (व्याप्ति-ध्यान-योग) का निरूपण किया है।

यदि दीर्घ एवं ह्रस्व, धर्म तथा अधर्म, दिन एवं रात, शुक्ल एवं कृष्ण (पक्ष) व्याप्ति (ज्ञान) से, ध्यान से, योग से, विनष्ट हो जाते हैं तो वही दीक्षा है।[32] प्राणचार के अहोरात्र के निरूपण के बाद मास का निरूपण किया जा रहा है।

76-80. पहले की भाँति (अर्थात् अहोरात्र की तरह) कर्म के विषय में दिन कृष्ण एवं रात शुक्ल पक्ष है।[33] (प्राणचार में) जो सोलह तुटियाँ बताई गई हैं उनमें जो पूर्व और पश्चिम तुटियाँ हैं उनके आधे-आधे में विश्राम होता है। इस (षोडशी तुटि) से भिन्न पन्द्रह तिथियाँ (तुटियाँ) हैं।[34]

सवा दो अङ्गुल में तिथि द्वारा अहोरात्र का विभाजन होता है।[35] प्रकाश और विश्राम के कारण वे ही दिन तथा रात्रि होते हैं (प्रकाश की प्रधानता दिन है तथा विश्राम की प्रधानता रात्रि है)।

चूँकि संविद् सर्वदा प्रकाश तथा आनन्द (विश्राम) से युक्त है अतः वे दोनों जिस अंश तक उसके साथ सम्बद्ध रहते हैं उसी अंश तक दिन और रात होते हैं।

जब तक संविद् उदित एवं स्पष्ट रहती है तभी तक (प्रमाताओं द्वारा प्रमेय के ग्रहण तारतम्य के आधार पर) क्षण, कल्प अथवा निमेष होता है।

80-82. संविद् का जितना प्रमेय के ग्रहण में संलग्न उदय होता है उतना ही ज्ञातृरूप आत्मस्वरूप में विश्रान्ति के रूप में अस्तंगमन होता है।

वेद्य प्रमेय बाह्य हो या आन्तर अथवा दोनों किंवा दोनों से शून्य, तन्मयीभाव ही सर्वथा दिन है तथा प्रमाता की स्वात्मविश्रान्ति ही रात्रि है।

जब तक वेद्य का ग्रहण होता है तब तक दिन होता है अन्यथा रात्रि वेद्य के ग्रहण में प्रकाश की प्रधानता होती है तथा वेत्ता के स्वात्मविश्रान्ति में आनन्द अथवा विमर्श का प्राधान्य होता है। दिन प्रकाश-प्रधान है और रात्रि विमर्श-प्रधान। अतः दिन और निशा समान नहीं होते। वस्तुतः वेद्य के बाह्य (नील आदि) एवं आन्तर (सुख आदि) स्वरूप से शून्यता का वर्णन उसके संस्पर्श न होने के लिए ही किया गया है। प्रकाश तथा विमर्श में से किसी एक की प्रधानता से जिस प्रकार संविद् (दिन तथा निशा के रूप में) भिन्न हो जाती है क्या इसी प्रकार प्रमाताओं में भी भेद किया जा सकता है? इस शंका का उत्तर है:-

82-83. **वेदिता (अर्थात् प्रकाशप्रधान ज्ञाता) वेद्य में विश्रान्त होता है किन्तु वेत्ता (अर्थात् विमर्शशील प्रमाता) अन्तर्मुख होता है। (वेत्ता भी दो प्रकार का होता है) पहला तो विचार करने वाला तथा अगला वह जिसका स्वरूप सत्ता मात्र होता है।**

ज्ञान, विचार एवं सत्ता के आधार पर प्रमाता तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रमाता वेदिता अथवा ज्ञाता कहलाता है जिसमें प्रकाश की प्रधानता होती है तथा जो बहिर्मुख अर्थात् वेद्य-विश्रान्त होता है। इसका सम्बन्ध दिन से है। विमर्शप्रधान, अन्तर्मुख एवं स्वात्मविश्रान्त प्रमाता के दो भेद हैं। एक में विचार की प्रधानता होती है तथा दूसरे में मात्र सद्रूपता (सत्ता)की।

जाग्रदादि अवस्थाओं का उपर्युक्त प्रमातृभेद के अनुसार स्वरूप-निरूपणः-

83-85. **वेदितृभाव (वेद्य की प्रधानता के कारण) जागरण है, विमर्शस्वरूप (पुरातन) वेतृभाव (वेद्य की अपेक्षाकृत अप्रधानता के कारण) स्वप्न है, पर (अर्थात् सत्तामात्र-निष्ठ प्रमातृभाव वेद्य के शान्त हो जाने के कारण) सुषुप्ति है, रात एवं दिन के विनष्ट हो जाने पर (प्रमातृभेद के समाप्त हो जाने के कारण) अद्वैत तुरीय (अवस्था) है।[36]**

जब कभी वस्तु में विश्रान्ति के समान आत्मा में विश्रान्ति होती है तो वेद्य तथा वेदक का यह साम्य ही रात तथा दिन का समान होता है। इसी को विषुवत् काल कहा जाता है।[37]

दिन और रात के दीर्घ तथा ह्रस्व होने का निरूपणः-

85-86. वेद्य में अधिक विश्रान्ति दिन को दीर्घ बनाती है। (इस स्थिति में) आत्मविश्रान्ति न्यून हो जाती है। (अतः निशा ह्रस्व हो जाती है)। विपरीत होने पर विपर्यय हो जाता है क्योंकि आत्मविश्रान्ति की अभिलाषा के प्रबुद्ध होने पर वेद्य में विश्रान्ति न्यून हो जाती है।[38]

87-88. इस प्रकार दिन तथा रात के न्यून तथा अधिक होने की गति को बताना चाहिये।जिस प्रकार देहों में दिन और रात्रि की न्यूनता अथवा अधिकता आदि समान नहीं होती, उसी प्रकार भुवनों में भी किन्तु इसका विशेषरूप में निरूपण नहीं किया गया है।

रात एवं दिन के उपर्युक्त विभाग का प्रमाण निम्नाङ्कित हैः-

89-92. श्रीत्रैयम्बक मठिका में विस्तीर्ण आकाश के सूर्य श्रीशम्भु[39] ने दिन तथा रात के क्रम को मुझे उपर्युक्त रूप में बतलाया था।

किन्तु श्रीसन्तानगुरु ने प्रबुद्ध तथा अप्रबुद्ध का स्थान हृदय से प्रारम्भ कर (द्वादशान्त तक अर्ध तुटि परिमाण का) बताया है। और उसने रात दिन का जो विभाग किया है (प्रबुद्ध का स्थान हृदय दिन है तथा अप्रबुद्ध का स्थान द्वादशान्त रात्रि है) वह गलत है क्योंकि अन्तः प्रवेशशील अपानवाह में (स्थान का अन्तर न होने से रात के रूप में परिकल्पित) जो अप्रबुद्ध स्थान है वह दिन कैसे हो सकेगा?

किन्तु इस (मतभेद) को रहने दिया जाय, मेरा प्राचीन मत से कोई द्वेष नहीं है। हेय को दिखा देने पर शिष्य सन्मार्ग को पूरी तौर से पहचान लेते हैं।

92-93. जिस कृष्णपक्ष की व्याख्या की गई है उसमें प्राणस्थ चन्द्रमा अपानरूपता के कारण प्रत्येक तिथि को एक-एक कला छोड़ता जाता है।

द्वादशान्त के पास जो पन्द्रहवीं तुटि है वही अमावस्या है। इसमें (कलाह्रास के कारण) क्षीण हुआ चन्द्रमा प्राणसूर्य में अन्तर्लीन हो जाता है।[40]

94-95. अतः 'श्रीकामिका' में कहा गया है कि परा, शिवरूपिणी (विश्व की) प्रकृति (अर्थात् कारणभूता संविद्) अपने स्वरूप का गोपन करती हुई (माया) दो खण्डों (अर्थात् प्राण और अपान) में बंटकर

केवल ऊपर और न नीचे अपितु आधी-आधी (अर्थात् समानरूप से विभक्त होकर दक्षिण और वाम नाडियों में) प्रवाहित होती रहती है।

(प्राण तथा अपान अवस्थाओं में विभक्त परासंविद् ही) चन्द्र और सूर्य के रूप में देह को पूरित करती है और सोखती है (अर्थात् चन्द्र के रूप में अमृत से देह को पूरित करती है और सूर्य के रूप में चन्द्र की कलाओं को क्षीण बनाकर देह को सोखती) है।

चान्द्रकलाओं के क्षय का कारण निम्नांकित है :-

95-96. चन्द्ररूप से सोलह प्रकार का अमृत (जो पन्द्रह शुक्ल कलाओं तथा इनकी भित्तिभूत जलरूप सोलहवीं कला के रूप में) दो प्रकार से विभक्त है। सभी देवता इन पन्द्रह कलाओं को पीते रहते हैं (इसी से इन कलाओं का प्रतिदिन क्षय होता है)। अमा (नामक सोलहवीं कला पञ्चदश कलाओं से) भिन्न है, वह गुहा के भीतर स्थित (वस्तु के समान सुरक्षित है, (पञ्चदश कलाओं को अन्तर्गर्भित करने के कारण) अमावास्या[41] (नामक यह षोडशी कला) विश्व को आप्यायित करती है।

97. इस प्रकार चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएँ क्रमशः क्षीण होती रहती हैं किन्तु जलरूप से तादात्म्य होने के कारण (विश्व को) आप्यायित करने वाली सोलहवीं कला क्षीण नहीं होती।

कृष्ण एवं शुक्लपक्ष की सन्धि का निरूपणः-

98. इनमें प्रक्षीण चन्द्रमा वाली जो पन्द्रहवीं तुटि है उसके ऊपर विद्यमान जो तुट्यर्ध है उसे पक्षसंधि कहा जाता है।

सन्धि दो में होती है तो फिर प्राण-सम्बन्धी एक के ही तुट्यर्ध को लेकर सन्धि किस प्रकार सम्भव है, इस आशंका का उत्तर है :-

99. विश्राम के इस तुट्यर्ध के आधार पर अमावास्या का जो प्रथमार्ध है तथा प्रतिपदा का जो द्वितीयार्ध है वह सन्धि माना जाता है।[42]

सन्धिकाल को ही पूजा के लिए श्रेष्ठ माना गया है। कहा गया है कि 'न दिन में पूजा करे और न रात में ही। देवाधिदेव की अर्चना दिन तथा रात के क्षीण होने के समय पर करनी चाहिये।'

पक्षोदय के अनन्तर प्राण में सूर्यग्रहण का निरूपणः-

100. तुटि के इस आधे-आधे भाग में अमावास्या का पहला आधा भाग प्रतिपदा के आधे भाग में, तिथिच्छेद के कारण, घुसता हुआ सूर्यग्रहण कर देता है (अर्थात् प्रतिपदा और अमावस्या के आधे-आधे भाग में संघर्ष के कारण सूर्यग्रहण होता है)।

101. इस अवस्था में सूर्यमण्डल में लीन चन्द्रमा जो अमृत का स्त्रवण करता है उसे चन्द्रमा का सहचर राहु, ताप के कारण, पी डालता है।[43]

102-103. सूर्य प्रमाणस्वरूप है और चन्द्रमा प्रमेय स्वरूप। (ये दोनों) क्रमशः ज्ञान, क्रियारूप हैं। राहु मायाप्रमाता है जो उन दोनों को ढक लेने में चतुर है। अतः तमोरूप है (पर इन दोनों को) विनष्ट करने में समर्थ नहीं है। इन (प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय) के सामरस्य से उदित अद्वय ही मुख्य प्रमाता है जो उनका विलय कर लेता है।

महाग्रहण का स्वरूपः-

104. सूर्य, चन्द्र तथा राहु के सामरस्य से प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमाता अद्वय (शुद्ध चिद् रूप) हो जाते हैं। इसीलिए इसको पुण्यशाली महाग्रहण कहा गया है।[44]

105. अमावस्या के बिना भी (शुद्ध प्रतिपद में) यदि यह सामरस्य हो जाता है तो भी महाग्रहण होता है जैसे कि सूर्य के मेष (राशि) में तथा राहु के अश्विनी (नक्षत्र) में स्थित रहने पर अश्विनी-दिन में (वैशाखी अमावस्या) के प्रहरद्वय के बाद शुद्ध प्रतिपदा में सूर्यग्रहण माना जाता है)।

106. जब अमावास्या का अर्धभाग प्रतिपदा के अर्थ में लीन हो जाता है और प्रतिपदा विशुद्ध होती है तो चन्द्रमा के दूरस्थ हो जाने से ग्रहण का मोक्ष होता है।

107. ग्रहण से मोक्ष हो जाने के बाद स्नान, ध्यान, होम, जप आदि का करना लौकिक एवं अलौकिक (असाधारण) पारलौकिक अनन्त फलों को देता है।

108. सूर्य और चन्द्र के ग्रहण में प्रमेय तथा प्रमाता के संघर्ष के विनष्ट हो जाने पर (परम प्रमातृभाव में) आविष्ट होकर ध्यान, पूजा आदि क्षणभर करने वाला (योगी) मोक्ष पा लेता है।

तिथि के क्षय (छेद) तथा वृद्धि का निरूपणः-

109. **तिथिच्छेद होने पर ऋण (प्राण की अल्पकालता) कास है, (तिथि की) वृद्धि निःश्वास धन है, यह यत्न के बिना होता है, किन्तु रेचक और पूरक से यह यत्नज होता है।**

सांसी (कास) के कारण, प्राण के शीघ्र प्रसरण के कारण अमावास्या का अंश प्रतिपद के अंश में प्रविष्ट हो जाता है। इसी तिथिच्छेद को ऋण कहते हैं और इसी को कास भी, क्योंकि उसी के कारण तिथि का छेद होता है। निःश्वास के कारण अपानवायु के विलम्बित प्रसार से तिथि की वृद्धि हो जाती है। उसी को धन तथा निःश्वास कहते हैं। अर्थात् तिथि का छेद ऋण एवं कास है और वृद्धि (पूर्णमासी का उदय) धन तथा निःश्वास है। कास और श्वास के माध्यम से यह प्रक्रिया सहजरूप में सभी मनुष्यों में होती रहती है। योगी लोग रेचक और पूरक के माध्यम से इसी को यौगिक-साधन से साधते हैं। अतः उनकी यह साधना यत्नज होती है।[45]

110. **इस प्रकार प्राण के (शक्ति में) प्रविष्ट हो जाने पर चैतन्य-सूर्य ज्ञानकिरण की कला से अमृतमय चन्द्र को एक-एक करके आपूरित कर देता है।**

111. **(एक-एक करके) क्रमशः संपूरित होने वाली, अमृत से सुन्दर चन्द्र की ये पञ्चदश तुटियाँ ही शुक्ल पक्ष की तिथियाँ बन जाती हैं।[46]**

112. **अन्तिम पूर्णचन्द्रवाली तुटि में (अर्थात् पूर्णमासी में) यह पहले की भाँति (दो तुट्यर्ध को मिलाकर) पक्षसन्धि होती है तथा पूर्व (अर्थात् पूर्णमासी के तुट्यर्ध) के प्रतिपद् में प्रवेश से चन्द्रग्रहण होता है (अर्थात् शुद्ध प्रतिपदा में चन्द्रग्रहण नहीं होगा)।**

113. **इस ग्रहण में साधकों को ऐहिक महाफल होता है। शेष (मातृ-मेय का सामरस्य आदि) पहले की भांति है। प्राणचार का यह मास है। (अब) वर्ष बताने जा रहे हैं।**

वर्ष का निरूपणः-

114. **हृदय से मकर आदि (अर्थात् कुम्भ, मीन, मेष, वृष, मिथुन) में छह-छह अङ्गुल रुकने वाला सूर्य माघ आदि छह (महीनों) का निर्माण करता है। यही उत्तरायण है।[47]**

उत्तरायण में विषुवत् संक्रान्ति का निरूपणः-

115. तीन संक्रान्ति बीत जाने पर तथा अठारह अङ्गुल भाग हो जाने पर, सूर्य के मेष राशि में पहुँच जाने पर, पुण्यशाली पारलौकिक विषुवत् होता है।[48]

दक्षिणायन विषुवत् का निरूपणः-

116. (शक्ति से हृदय तक) प्रवेश हो जाने पर, वही विषुवत् (अर्थात् तीन संक्रान्ति के बाद होने वाला संक्रमण) सूर्य के तुला राशि में स्थित होने पर, दक्षिणायन का होता है।[49] यह पारलौकिक सिद्धि प्रदान करता है।

द्वादश राशियों में से प्रत्येक की विशेषता का निरूपणः-

117-18. गर्भता[50], उत्पन्न होने की इच्छा का भाव (अर्थात् इच्छा का प्रथम स्पन्द), उत्पन्न होने की इच्छा, उत्पन्न होने से पूर्व की स्थिति (उद्भविष्यता), उत्पत्ति का प्रारम्भ, उत्पत्ति की स्थिति (अर्थात् उन्मुखता) जन्म, सत्ता, परिणति, वृद्धि, ह्रास तथा क्षय क्रमशः मकरादि हैं। इनमें की हुई क्रिया उसी के अनुरूप फल देने वाली होती है।

119. (सिद्धमन्त्र वाले योगी के लिए) मकर तथा कुम्भ एवं (असिद्ध मन्त्र वाले साधक के लिए) मीन आदि चार (राशियाँ) मन्त्रादि की सेवा करने में पारलौकिक फल के उत्तरोत्तर निकट हैं।

120. अपानवाह में शान्ति, पुष्टि आदि का सुन्दर दैहिक कर्म क्रमशः दूरी से फल देने वाला होता है।

प्रथम छह राशि में अर्थात् उत्तरायण में जो ध्यान, होम, जप आदि किया जाता है वह आयुष्मिक फल प्रदान करता है। यह फल की प्राप्ति भी पहले की अपेक्षा दूसरे में अधिक सन्निकट होती है अर्थात् मकर की अपेक्षा कुम्भ में की गई मन्त्रसिद्धि शीघ्रतर फलदायिनी होती है। दक्षिणायन में अन्तर्विश्रान्ति के कारण फलदान क्रमशः दूरस्थ होता है। इसीलिए उत्तरायण में दिन बढ़ जाता है और निशा का क्षय होने लगता है तथा दक्षिणायन में इसके विपरीत होता है।

121-22. निर्गम (प्राणवाह=उत्तरायण) में दिन बढ़ता है और विपरीत होने पर (अर्थात् प्रवेश=अपानवाह=दक्षिणायन में) इससे उलटा होता है। वर्ष का यह क्रम है। प्रत्येक अङ्गुल में पाँच तिथियाँ होती हैं और उसमें

(अर्थात् अङ्गुल के पाँचवे अंश में) दिन और रात का क्रम होता है। यह सब पहले की भाँति ही होता है।

एक अङ्गुल का दशमांश दिन और दशमांश ही रात होती है। अर्थात् प्रत्येक अङ्गुल का पञ्चमांश अहोरात्र है। इस प्रकार प्रत्येक अङ्गुल में पाँच तिथियाँ होती हैं और छह पञ्चकों को मिलाकर तीस अहोरात्र होते हैं जो दो पक्ष वाले मास का निर्माण करते हैं। प्रथम तीन अङ्गुल में कृष्णपक्ष और आगे के तीन अङ्गुल में शुक्लपक्ष होता है।[51]

बारह मासों के अधिष्ठातृ देवताः-

122-23 इस प्राणीय वर्ष में कार्तिक[52] आदि (मासों) के दक्ष से प्रारम्भ कर पितामह तक बारह रुद्र होते हैं[53], आगे चलकर यहाँ उन्हें बताया जायगा।

प्राणचार में वर्षोदय को बताने के बाद अब द्वादशाब्द का उदय बता रहे हैं।

124. एक-एक अङ्गुल में क्रमशः साठ तिथियाँ (अर्थात् एक ऋतु) होती है, (और इस प्रकार तीन अङ्गुल में एक अयन और छह में एक वर्ष होता है। द्वादशाब्द के उदय में वे ही द्वादश चैत्र आदि कहलाते हैं।

पहले चैत्र का उदय तालु में बताया गया था और अब हृदय में उसी का उदय बताया जा रहा, तो फिर साधक मन्त्र सेवा कहाँ करे? इस आशंका का उत्तर हैः-

125. चैत्र में मन्त्र का उदय तालु में बताया गया था, उसी को अब (अर्थात् द्वादशाब्द उदय के प्रसङ्ग में) हृदय में चैत्र का उदय होता है (यह कहा जा रहा है)। अतः वहीं मन्त्र का उदय भी मानना चाहिये। (वार्षिक प्राणचार में तालु में मन्त्रसाधना करनी चाहिये तथा द्वादशाब्द के उदय में हृदय में मन्त्रसाधना करनी चाहिये।

126. प्रत्येक अङ्गुल में तीन सौ तिथियों को मान लेन पर 1 अङ्गुल में एक वर्ष होगा और इस प्रकार (चषकोदय के अनुसार) प्राण (की गति) में साठ वर्ष होंगे।

127. इक्कीस हजार साठ (21600 तिथियों) का प्राण में यह विभाग साठ वर्षों का अहोरात्र कहलाता है।

128. प्रहर, दिन, रात, मास, ऋतु, द्वादशाब्द तथा षष्ट्यब्द की समाप्ति में जो सन्धि होती है वह ध्यान, पूजन में पुण्यशाली है।[54]

प्राण पर विजय का उपर्युक्त वर्णन नालिका से प्रारम्भ कर वर्ष तक के क्रम से किया गया है। उसके बाद क्रम को छोड़कर द्वादशाब्द एवं षष्ट्यब्द के उदय का उल्लेख है। ज्योतिष शास्त्र की भाँति संवत्सरों का क्रमिक निरूपण यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है। योगी को प्राण-विजय के लिए किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए क्रम को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं है।

काल के बाह्यरूप का निरूपणः-

129. **शक्तिस्वरूप, विश्वात्मा यह जो काल प्राण तथा अपान के उदय में उपर्युक्त रीति से अन्तःस्थित है उसके बाह्य रूप का निरूपण किया जा रहा है।**

130. **छह प्राण एक चषक है, साठ चषक नालिका है, साठ नालिका एक तिथि है, तीस तिथियाँ एक मास है, तथा बारह मास एक वत्सर है।**

131. **उत्तरायण और दक्षिणायन से होने वाला एक वर्ष पितरों का एक अहोरात्र (अर्थात् एक दिन) है। (मनुष्यों के) अपने मान से जो पितरों का वर्ष है वही देवताओं का भी माना जाता है (अर्थात् पित्र्य और दिव्य वर्ष एक समान है)।**

132. **तीन सौ साठ का मानुष वर्ष (एक दिव्य या पित्र्य वर्ष) है। इसका बारह से विभाग करने पर मास की संख्या प्राप्त होती है।**

133-34. **उसका पुनः तीस से विभाग करने पर अहोरात्र की कल्पना बतानी चाहिये और इसका इक्कीस हजार छह सौ से विभाग करके प्राण की संख्या बतानी चाहिये और फिर उसमें षष्ट्यब्द आदि के उदय को।[55]**

कुछ आचार्य पित्र्य वर्ष को ही दिव्य दिन मानते हैं जबकि यहाँ दोनों का साम्य बताया गया है। उनका प्रमाण निम्नाङ्कित हैः-

134-35. **कुछ आचार्यों ने 'श्रीरौरवादि आगम की अपनी वृत्ति में कहा है कि देवताओं का जो अहोरात्र है मनुष्यों का वही वर्ष है। मनुष्यों के तीन सौ साठ वर्षों का एक दिव्य वर्ष होता है।**

136-38. **'श्रीस्वच्छन्दशास्त्र' (11.207-8) में भी इसी मत का प्रतिपादन 'पितृणां तदहोरात्रम्' से प्रारम्भ कर बाद में 'एवं देवस्त्वहोरात्रः' के द्वारा (पित्र्य तथा दिव्य वर्षादि की) एकता का उपसंहार किया गया है। अत एव जिन आचार्यों ने 'श्रीस्वच्छन्दशास्त्र' की (उपर्युक्त) दो उक्तियों आदि के आधार पर पित्र्य वर्ष को दिव्य दिन मान लिया है वे व्यर्थ ही भ्रान्त हैं।[56]**

138-39. चार (हज़ार वर्ष) से प्रारम्भ कर एक-एक (हज़ार वर्ष) घटाते हुए दिव्य बारह हजार वर्षों का चतुर्युग होता है। उन (युगों) में उतने ही सेकडों से आठ सन्धियाँ होती हैं।

कृतयुग में चार, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलि में एक हजार दिव्य वर्ष होते हैं। दो हजार वर्षों की सन्धियाँ होती हैं। कलियुग के सौ और कृतयुग के चार सौ वर्ष मिलाकर कलि-कृतयुग की संध्या पाँच सौ वर्षों की, कृत और त्रेता की सन्ध्या सात सौ वर्षों की, त्रेता और द्वापर की पाँच सौ वर्षों की और द्वापर और कलियुग की तीन सौ वर्षों की संध्या होती है। इस प्रकार बारह हजार दिव्य वर्ष का चतुर्युग हुआ।[57]

मन्वन्तर तथा ब्रह्म का दिनः-

139-40. इकहत्तर गुने चतुर्युग से मन्वन्तर होता है।[58] उन चौदह (मन्वन्तरों) से ब्रह्मा का (एक) दिन होता है।[59] उसमें (अर्थात् चौदह मन्वन्तरों में) चौदह इन्द्र क्रमशः होकर समाप्त होते हैं।[60]

140-41. ब्राह्म दिन के अन्त में योजन तक व्याप्त कालवह्नि की ज्वाला (नरक से प्रारम्भ कर) तीन लोकों (भूः, भुवः, स्वः) को जलाकर दूसरे तीन (महः, जनः, तपः नामक लोकों) को धुएँ से सुला देती है।

141-42. चूँकि कालवह्नि की सृष्टि नरकों से पूर्व हो जाती है अतः नीचे स्थित होने पर भी यह व्यापक होने के कारण (ऊपर स्थित लोकों का संहार आदि करने में) समर्थ है- यह 'श्रीरौरव' (आगम) का मत है।

142-43. ब्रह्मा के निःश्वास से धूल के नष्ट हो जाने पर, निशाकाल में विश्व उसके पसीने के जल से डूबा हुआ रहता है। इस निशा के रहने तक सभी पुद्गल सूक्ष्म देह में अवस्थित रहते हैं।

144. अग्निवेग से प्रेरित जीव इस लोक में केवल लय अवस्था में रहते हैं। किन्तु कूष्माण्ड (पेठा) तथा हाटक (सोना) आदि महान् आलय वाले लोक में क्रीडा करते रहते हैं।[61]

145. निशा के नष्ट हो जाने पर पुनः तामसी सृष्टि प्रारम्भ करता है।[62] अपने सौ वर्ष के अन्त में इस (ब्राह्म अहोरात्र) का क्षय होता है। यह विष्णु का दिन है।[63]

146. उतनी ही रात होती है। इसी प्रकार विष्णु तथा रुद्र अपने-अपने सौ वर्षों के अन्त में ब्रह्माण्ड के लोप हो जाने से नष्ट हो जाते हैं।

विवेक में उद्धृत स्वतं 11.264-65 के अनुसार सौ ब्राह्म वर्ष (महाकल्प) के बाद विष्णु का समान अहोरात्र प्रारम्भ होता है जिसके सौ वर्ष पूरे होने पर, इनके अपने-अपने सौ वर्ष पूरे होने पर ब्रह्माण्ड का अन्तिम विनाश होता है। इसी के साथ कालाग्निरुद्र का भी कालतत्त्व में लय हो जाता है।

147. जल से प्रारम्भ कर अव्यक्त तत्त्व तक इसी प्रकार सौ वर्ष क्रमशः होते हैं, अपनी-अपनी सौ वर्षों की आयु के हिसाब से ही दिन तथा रात का विभाग होता है।

148. (बुद्धितत्त्व में न कि सत्य लोक में स्थित) ब्रह्मा के छत्तीस हजार (360x100) प्रलय तथा उद्भव (गुण तत्त्व में स्थित शतरुद्र के एक वर्ष में) होते हैं।[64] अव्यक्त में स्थित रुद्र का यही दिन होता है और उतनी ही रात्रि।

सृष्टि तथा संहार आदि के अधिकारी देवताः-

149-50. साक्षात् श्रीकण्ठ ही संहार करने वाले तथा स्वामी हैं। उस समय सभी रुद्र अव्यक्त की अवस्था में (अर्थात् प्रकृति तत्त्व में श्रीकण्ठ के साथ) मायागर्भ (प्रकृतिगर्भ) के अधिकारी हैं। विभिन्न भुवनों के अधिपति रुद्र, ब्रह्मा आदि के साथ अव्यक्त मूल में श्रीकण्ठ (को प्रधान मानकर उन्हीं) के साथ स्थित रहते हैं।

150-51. बुद्धि के नीचे सभी अधःस्थ कार्यों को पूरा कर लेने के कारण ब्रह्मा यहाँ भोक्ता नहीं होता अपितु अधिकार की निवृत्ति हो जाने पर ज्ञानी होकर (अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर) शिव बन जाता है। यह अवान्तरलय है (चूँकि यह ब्रह्माण्डलय के बाद तथा प्रकृत्यण्ड के लय के बीच पड़ता है)। इसके क्षय होने पर सृष्टि कहलाती है।

152. श्रीकण्ठ सांख्य तथा वेद आदि से सिद्ध पुरुषों की पुनः उस ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ में सृष्टि करता है। अतः सम्यक् मुक्ति इस तरह की नहीं होती।

बुद्धितत्त्व में बौद्ध, गुणों में आर्हत, पुरुषतत्त्व में वेदज्ञ एवं अव्यक्त में पाञ्चरात्र स्थित हैं। इस दृष्टि के अनुसार कुछ पुरुष बुद्धितत्त्व आदि तक पहुँच कर सिद्ध

अथवा मुक्त हो जाते हैं। तथापि यहाँ श्रीकण्ठ द्वारा सभी की सृष्टि का कथन है। इसका कारण यह है कि वास्तविक मुक्ति बौद्धों आदि द्वारा मानी गई मुक्ति नहीं है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि 'सम्यक् मुक्ति इस तरह की नहीं होती।

153. प्रकृति का जो अहोरात्र है उसी से परमेश्वर श्रीकण्ठ की आयु के सौ वर्ष बनते हैं। और यह कञ्चुक (अर्थात् नियति तत्त्व) में स्थित (वामदेव आदि) का दिन है।

154. इसके बाद क्रमशः नियति, काल, राग, विद्या तथा कला ये परस्पर विलीन हो जाते हैं। इन अर्थात् कलातत्त्व में स्थित महादेव आदि की आयु मायीय दिन है।

155. इस दिन का क्षय होने पर विश्व माया में विलीन हो जाता है। उतनी ही रात के क्षय होने पर गहनेश (अर्थात् मायातत्त्व का अधिष्ठाता ईश्वर) पुनः सृष्टि करता है।

156. इस प्रकार अव्यक्त काल की दश परार्ध से गुणन करो तो माया का दिन होता है। और उतनी ही रात होती है। यही प्रलय है।

157. माया काल का सौ परार्ध से गुणा करने पर ईश्वरीय दिवस होता है।[65] प्राण स्वरूप नाद (नदन स्वभाव का बहिरुन्मेषरूप ईश्वर) जगत् की इस अवस्था में सृष्टि करता है।

158. ईश्वर की रात्रि भी उतनी ही होती है जिसमें कि प्राण शान्त हो जाता है (अर्थात् अर्हता में विश्रान्त हो जाता है)। यहाँ सुषुम्ना के मार्ग से विश्व प्राण के गर्भ में स्थित रहता है।

159. (नादात्मक) प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में विलीन हो जाने पर जो (बिन्दु आदि के स्वरूप की) संवित् शेष रहती है उसका भी एक-एक अंश करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर लय होता जाता है।

160. ईश्वरीय काल का सौ परार्ध से गुणा करने पर सदाशिव का दिनरात तथा (दिन के क्षय होने पर) महाप्रलय होता है।

161. सदाशिव अपने काल के अन्त में बिन्दु, अर्धचन्द्र तथा निरोधिका शक्ति का भेदन कर नाद में चराचर को लेकर लीन हो जाता है।[66]

162. नाद नादान्तवृत्ति (अर्थात् सौषुम्नमार्ग) से ब्रह्मरन्ध्र का हठात् भेदन कर अपने समय के समाप्त होने पर शक्तितत्त्व में विलीन हो जाता है।[67]

163. शक्तितत्त्व का इतना ही (अर्थात् सदाशिव की आयु के बराबर) दिनरात समझना चाहिये। शक्ति अपने काल के समाप्त होने पर पुनः व्यापिनी में लीन हो जाती है।

164-65. शक्ति का जो लयकाल है वही व्यापिनी का दिनरात है। (वह व्यापिनी) भी अनाश्रित (शिव) में लीन हो जाती है। शक्ति के काल का परार्ध से गुणा करने पर अनाश्रित का दिनरात होता है।[68] यह (अनाश्रित शिव) का भी, अपने समय का परार्ध से गुणा करने पर, साम्य नामक सामनस पद (अर्थात् समना) में लय हो जाता है।[69]

166. साम्य नामक यह काल (समनाशक्ति से एकात्म होने के कारण) नित्य है (क्योंकि समनाशक्ति का महाप्रलय में भी नाश नहीं होता), अचिन्त्य है तथा शक्तिरूप है।[70] समना का यह जो रूप है वह शिव में परिव्याप्त अद्वैत है जो कि ब्रह्म (पर ब्रह्म) है।

प्रलय में विश्व की सृष्टि भी होती रहती है:-

167. निमेष (सदाशिव) तथा उन्मेष (ईश्वर) में अवस्थित इस सामनस काल से वही (संविद्) इसमें विद्यमान तुटि से लेकर परार्ध तक के काल की सृष्टि करती है।[71]

त्रिकदर्शन की प्रक्रिया से अपरिचित कुछ लोगों ने शङ्का उठाई है कि शक्तितत्त्व तक महाप्रलय हो जाने पर समग्र प्रमाता क्रमशः ऊर्ध्व पद पर पहुँच जाने के कारण शिवतत्त्व को पा लेगा। चूँकि यह प्राप्ति ही मुक्ति है, अतः सभी सहज मुक्त हो जायेंगे, शास्त्र के अनुष्ठान आदि की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः महाप्रलय होने पर भी प्रमातृवर्ग समना में, न कि शिवतत्त्व में, अवस्थित रहता है। समना में अनन्त बन्धन बने रहते हैं (द्रष्टव्य - स्वतं, 4.432)। अतः इस स्थिति में मुक्ति नहीं होती।

विभिन्न संख्याओं का परिगणन:-

168. एक, दश, सौ, हज़ार, दश हज़ार (अयुत), लाख (लक्ष), दशलाख (नियुत), करोड़ (कोटि) दशकरोड़ (अर्बुद), अरब (वृन्द), दशअरब (खर्व) निखर्व, शंख (शंकु), पद्म, समुद्र, मध्य अन्त तथा परार्ध।

169. इस तरह एक से शुरु करके क्रमशः दश-दश से गुणाकर एक से लेकर परार्ध तक के अठारह (गणित के) स्थान होते हैं।[72]

170. ये चार प्रलय तथा सर्ग मुख्य हैं। उनके अंश पृथ्वी, प्रकृति, माया तथा शक्ति में स्थित हैं। वे (पृथ्वी आदि) ही चार अण्ड कहलाते हैं।[73]

171. कालाग्नि[74] पृथ्वी का, कालतत्त्व का अधिपति माया का (एवं) श्रीकण्ठ ही सर्वत्र एवं संहार करने वाला है।

172. अथवा उस (श्रीकण्ठनाथ) के द्वारा किया हुआ लय आन्तरिक है। अतः वह एक ही सृष्टि एवं संहार का स्वामी है। श्रीमान् अघोर शुद्ध अध्वा (अर्थात् शक्त्यन्त तत्त्व) का संहार करने वाला है और वही सृष्टि करने वाला।[75]

173. चूँकि उस (शक्ति) की सृष्टि में जगत् के असंख्य सृष्टि एवं संहार समाहित हैं, अतः शक्ति से सम्बन्धित सृष्टि को महासृष्टि कहा गया है।

174. संहार होने पर ब्रह्मा, विष्णु, (अष्टक[76] एवं पञ्चक) शतरुद्र माया तक के अध्वा में क्रमशः विलीन होते जाते हैं।

175. माया तत्त्व का लय होने पर ये परम पद पा लेते हैं। जो माया के ऊपर शुद्ध अध्वा में स्थित हैं उनका लय परम शिव में होता है। दूसरे (आचार्य) परम लय की उस स्थिति में भी औपाधिक भेद के कारण भेद मानते हैं।

176-77. इस प्रकार (शक्त्यादि) तत्त्वों के ईश्वरवर्ग में लय हो जाने पर तथा पुनः सृष्टि होने पर दूसरे उनके साधक अथवा शिव के प्रिय उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

177-78. परम (शिव) की ही ब्राह्मी नामक शक्ति है, उसका जहाँ पात होता है, वह ब्रह्मा है। इसी प्रकार वैष्णवी आदि शक्ति से क्रमशः विष्णु, रुद्र आदि हैं।[77] वस्तुतः शिव सदृश शक्तिमान् को छोड़कर शक्ति किसी दूसरे के पास नहीं जाती।

179. एक शिव ही उन-उन रूपों में अपनी अशेष शक्तियों को छिपाता और प्रकट करता रहता है (अर्थात् अनन्तशक्तिसम्पन्न शिव ही ब्रह्मा, विष्णु आदि के रूप में प्रकट एवं लीन होता रहता है)।

इस प्रकार सृष्टि एवं प्रलय एकत्र प्राण में प्रतिष्ठित हैं।

180. वह (प्राण) भी संविद् में और संविद् प्रमेयशून्य शुद्ध चैतन्य में (प्रतिष्ठित है)। शुद्ध चैतन्य ही परा देवी तथा परमेश्वरी है।

181.-83. पर एवं अपर वे अड़तीस तत्त्व ही उसका 'हृदय' है। इस प्रकार सहज रूप में स्पन्दमान संविद् का यह स्वरूप ही सृष्टि एवं संहार है जो प्राण में साठ अब्द के उदय की अर्चा बनता है।[78]

क्रिया के वैचित्र्य से युक्त यह कालशक्ति शुद्ध इच्छा के अधीन है। अतः इस (कालशक्ति) का रूप बाहर निश्चित नहीं है।[79]

183-84. स्वप्न के स्वप्न में[80], स्वप्न में, सुषुप्ति में, संकल्प के प्रत्यक्ष में, समाधि में, विश्व के संहार तथा सृष्टि के क्रम-विवेचन में सीमित होने पर भी कालखण्ड असीमित प्रतीत होता है।

185-86. प्रमाता के साथ एक होकर अथवा अलग रहकर, विविध विस्तार वाला तथा क्रिया की वैचित्र्यशक्ति से उत्पन्न यह काल जिस प्रकार प्राण में होता है उसी प्रकार हृदय से लेकर मूलाधार तक व्याप्त अपान में भी रहता है।

186-87. मूलाधार के संकोच तथा विकास करने में (यह अपानात्मा काल) ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित (शिव) तक की सृष्टि तथा संहार को समाहित किये हुए है।

187-88. यद्यपि यह अपान इस प्रकार सदा बहता रहता है किन्तु इसका स्पन्दन दुर्ज्ञेय है। अतः योगी प्रयत्नपूर्वक ही इसकी उपासना कर पाते हैं।

188-89. सिद्धयोगी हृदय-कन्द, आनन्द, संकोच एवं विकास तथा द्वादशान्त (शक्ति के उदय तथा विश्रान्ति का स्थान) में स्थित ब्रह्म से लेकर अनाश्रित तक की (अन्तः प्राण में) सेवा करते हैं।

189-90. शिव के शक्ति-स्वरूप होने के कारण ये (ब्रह्मा आदि) विश्व में व्यापक हैं और देह से सम्बन्धित होने पर भी (अधिष्ठान होने के कारण) उस (देह) के कारण हैं, यह 'कामिक' (आगम) में बताया गया है।

'कामिक आगम' का मूलग्रन्थः-

190-91. देह की बाल्यावस्था, यौवन, वार्धक्य, विनाश, पुनर्जन्म तथा मुक्ति में ब्रह्म आदि छह[81] अधिष्ठान करने वाले (अर्थात् अधिष्ठाता) हैं। इनके अन्त में परादेवी है जिसमें लय होने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

192-93. यह जान लेने से ही दीक्षा अनुग्रहकारिणी हो जाती है। क्योंकि समग्र कारणों के मूलस्थान को जान लेने पर कारण-रहित शिव को पा लेता है जो कि विश्व का परम कारण है।

193-94. द्वैत के कलंक को पूरी तौर से काटने वाला (अपान का) यह अधोवक्त्र (योगिनीवक्त्र) है जिसकी उपासना से ऊपर-नीचे का आडम्बर नष्ट हो जाता है (अर्थात् परम शिव से ऐकात्म्य हो जाता है)।

194-95. इस अपानोदय में भी पहले की भाँति तुटि आदि से प्रारम्भ कर, समुचित अंगुलविभाग के अनुसार, षष्ट्यब्द के उदय तक की गणना करनी चाहिये।

195-96. इसी प्रकार समान (प्राण के भेद विशेष) में भी विधि है। वह हृदय की नाड़ियों में संचरण करता हुआ, सभी दिशाओं में दश प्रकार से पाया जाता है।

समान का स्थान नाभि है। वहाँ से निकलने वाली दश नाड़ियाँ हैं (द्रष्टव्य - स्वतं, 7.7)। उन्हीं में यह समानात्मा प्राण संचरण करता है। कारिका में 'हृदय की नाड़ियाँ' का प्रयोग इन नाभिमूलक नाड़ियों की हृदय में अभिव्यक्ति के कारण किया गया है।

196-97. दश महानाड़ियाँ मुख्य हैं।[82] उनके अन्तर्गत अन्य नाडियाँ हैं जो दूसरी नाड़ियों पर आश्रित हैं (अर्थात् इन दश नाड़ियों के अनेक भेदोपभेद हैं)।[83] इनको भरता हुआ, दबाता हुआ तथा देह में समान स्थिति से रहने वाला यह (समान नामक प्राण) है।

197-98. आठ दिग्दलों को दबाने वाला यह उन दिशाओं के स्वामी (इन्द्र, वरुण आदि) के अनुसार चेष्टा करता हुआ रौद्र तथा सौम्य बनता रहता है।

हृदय-कमल अष्टदल है। प्रत्येक दल एक-एक दिशा में अवस्थित है। इस प्रकार दिग्दल आठ हैं। प्रत्येक दिशा का अधिपति होता है।[84] समान वायु अष्टदल हृदय-कमल की जिस दिशा का स्पर्श करता है उस दिशा के अधिपति के स्वभाव के अनुसार शोक, क्रोध, विषाद, विस्मय, सन्ताप, हर्ष अथवा चिन्ता मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होते हैं।

प्राण का प्रमुख रूप से तीन नाड़ियों में विचरणः-

198-99. और वह वाम, दक्षिण तथा मध्य में स्थित चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि रूप[85], मुख्य तीन (इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्नारूप)[86], नाड़ियों में अहर्निश विचरण करता है।

199-200. ढाई घटिका (नाली) तक नौ सौ प्राणचार होता है। इतने (अर्थात् नौ सौ प्राण चार) को चौबीस प्रकार से (900x24 = 21600) वहन करता हुआ प्राण अहोरात्र में संचरण करता है।

छह प्राण का एक चषक होता है। साठ चषक की एक घटिका होती है। इस प्रकार एक घटिका में तीन-सौ साठ प्राणचार होते हैं। ढाई घटिका में नौ सौ तथा साठ घटिका के अहोरात्र में 21600 प्राणचार होते हैं। ढाई घटिका की एक संक्रान्ति होती है। इस प्रकार अहोरात्र में चौबीस संक्रान्तियाँ होती हैं, बारह दिन में तथा बारह रात्रि में।[87]

200 (ब) विषुवत् (मेष-संक्रान्ति) के दिन वह (समानात्मा प्राण) प्रातः सवा घड़ी तक सुषुम्ना में स्थित रहता है।

201. वाम, दक्षिण, उत्तर, दक्षिण तथा वाम के द्वारा (अर्थात् उन नाड़ियों में से प्रत्येक में ढाई-ढाई घड़ी तक प्राण के रुकने से वृष से लेकर कन्या तक की) पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं। इस प्रकार (प्रातः की सवा घड़ी तथा पाँच संक्रान्तियों की 12 घड़ी मिलकर) पौने चौदह घड़ी क्षीण हो जाती हैं।

202-204. मध्याह्न में दक्षविषुवत् (तुला-संक्रान्ति) नौ सौ प्राणों को वहन करती है (अर्थात् ढाई घड़ी ठहरती है)। पुनः दक्षिण उत्तर, दक्षिण उत्तर तथा दक्षिण के क्रम से (वृश्चिक से लेकर मीन तक की) पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं जिनमें से प्रत्येक में नौ सौ प्राण ढाई-ढाई घड़ी ठहरता है। इसके बाद (शाम को) उत्तर (अर्थात् मेष संक्रान्ति-रूप) विषुवत् (प्रातः की भाँति सवा घड़ी का) होता है।[88] संक्रान्ति के बीत जाने पर जिस प्रकार बाहर पाँच-पाँच विषुवत् होता है उसी प्रकार भीतर भी। वह संक्रान्ति नौ-सौ प्राणों की है।

204-07. इसी प्रकार रात में भी (समझना चाहिये) इस तरह समान विषुवत् दिन से प्रारम्भ कर दिन तथा रात की वृद्धि और ह्रास की संक्रान्ति में यह पाया जाता है।

रात्रि का अन्त तथा दिन का पूर्व भाग (पूर्वाह्न), मध्याह्न, दिवस का अवसान तथा अहोरात्र का उदय (अपराह्न) तथा मध्यरात्रि इनमें उत्तर से प्रारम्भ करके (चार प्रकार का) विषुवत् होता है।[89]

चूँकि विप्लृ (धातु का) व्याप्ति (के अर्थ) में व्यवहार होता है और साम्य ही व्याप्ति कहलाती है, अतः जिस काल में वह (व्याप्ति=साम्य) हो उसे विषुवत् कहा जाता है।

207-10. विषुवत् से लेकर दिन और रात का जो ह्रास तथा वृद्धि होती है उसी क्रम से दिन-रात की संक्रान्तियों का ह्रास तथा वृद्धि होती है।

इस प्रकार समानात्मा प्राण की दो वर्षों की कल्पना की गई है। यहाँ श्वास तथा प्रश्वास की चर्चा नहीं की गई (क्योंकि यह प्राण तथा अपान के द्विविध चार के बारे में लागू होती है)। (समान का) संचार एक ही स्थान पर होता है।

तुटि से आरम्भ कर षष्ट्यब्द तक की जो काल-संख्या पहले (प्राण, अपान के चार-द्वय को लेकर) बताई गई है वह अत्यन्त सूक्ष्म है तथा एक चार से समान में भी पण्डित मानते हैं।[90]

210-11. संध्या, पूर्वाह्न, मध्याह्न, मध्य रात्रि आदि जो कुछ भी है उसे आन्तरिक संक्रान्ति से सम्बन्धित समझना चाहिए। उसी का फल-निरूपण होने के नाते वही मुख्य है।

समान में स्थित काल का प्रतिपादन समाप्त हुआ, (अब) उदान[91] में स्थित काल का निरूपण किया जा रहा है।

212. प्राण के प्रसार के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वह उदान में भी (लागू होता है)। यहाँ केवल नासिका तथा शक्त्यन्त के स्थान पर ब्रह्मरन्ध्र तथा ऊर्ध्वधाम (शक्तिद्वादशान्त) होते हैं।

प्राण का उदय स्थान नासा से द्वादशान्त तक है, उदान का उदय स्थान शक्तिद्वादशान्त है।

213. अतः इस उदान में हृदय से लेकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित द्वादशान्त तक व्याप्त तुटि से लेकर साठ वर्ष तक के सम्पूर्ण काल का विचार करना चाहिये।

व्यान का काल-विभागः-

214. **विश्वात्मक, व्यापक तथा क्रमरहित व्यान में अत्यन्त सूक्ष्म, स्पन्दस्वरूप काल अवस्थित है।**

पञ्चात्मक प्राण की पञ्चकृत्यकारिता :-

215. **सृष्टि, लय, स्थिति, संहार तथा अनुग्रह चूँकि क्रमशः प्राणादि वाले काल में रहते हैं, अतः उस (सृष्टयादि के निर्माण) में तत्तत् (प्राण आदि) का आश्रय लेना चाहिये।**

216. **इस प्राणचार में वर्णों, पदों तथा मन्त्रों का जो उदय स्थित है वह यत्नज (प्रयत्न से साध्य) एवं अयत्नज (स्वाभाविक) होता है। वह (वर्णोदय) सूक्ष्म, परम तथा स्थूल कहलाता है।**

नियत होने के कारण तथा सदा समान रहने से वर्णों का उदय अयत्नज माना जाता है। पद तथा मन्त्र अनियत होते हैं। अतः उनका उदय योगी की इच्छा पर निर्भर होता है। जिस योगी को जो मन्त्रादि अभिप्रेत होता है वह उसी का उदय अपने प्रयत्न से कर देता है। अतः पद तथा मन्त्र का उदय यत्नज माना गया है। वर्णोदय के परम, सूक्ष्म तथा स्थूल ये तीन भेद माने गये हैं। परम के भी तरतमभाव से दो भेद हैं-परतर तथा परतम।

वर्णोदय[1] का परतम स्वरूपः-

217. **सभी वर्णों में अखण्डतया स्थित, नादात्मक वर्ण एक है, उसका स्वरूप कभी अस्त नहीं होता। अतः (अर्थात् सदा उच्चरित रहने के कारण) उसे यहाँ अनाहत कहा जाता है (अथवा उस अनाहत नाद को 'उदित'- सर्वदा उच्चरित कहा गया है।**

अनाहत नाद की शिव-शक्तिरूपताः-

218. **वही भैरव की स्थिति है और वही मातृ-सद्भाव है। वही एकाक्षरा परा देवी है जिसमें चराचर लीन होता है।**

वर्णोदय का परतर स्वरूपः-

219. **ह्रस्व तीन वर्णों (अ,इ,उ) में से प्रत्येक तथा दूसरा (अर्थात् दीर्घ तीन वर्णों आ,ई,ऊ में से प्रत्येक) प्रवेश में द्वादशाङ्गुल होता है। इस प्रकार**

छह वर्ण क्रमशः सूर्य तथा चन्द्र के पथ में (अर्थात् ह्रस्व वर्णत्रय सूर्य पथ में और दीर्घ वर्णत्रय चन्द्रपथ में) स्थित रहते हैं।

220. इकार तथा उकार की अकार और आकार से सन्धि होने पर 'ए' तथा 'ओ' ये दो संध्यक्षर होते हैं[92] तथा इन दो संध्यक्षरों (ए, ओ) की 'अ' या 'आ' से सन्धि होने पर 'ऐ', 'औ' ये दो संध्यक्षर होते हैं।[93] (इनमें से प्रत्येक वर्ण प्रवेश में अष्टादशाङ्गुल का होता है)।

221. प्रवेश में छह वर्ण होते हैं।[94] द्वादशान्त औ और ललाट में, गले और हृदय में बिन्दु तथा विसर्ग सर्वत्र स्थित हैं।

द्वादशान्त में ऋकार स्थित है। प्राण में बिन्दु तथा अपान में विसर्ग की स्थिति है।

222. कादि पञ्चक (अर्थात् क वर्ग) आद्य वर्ण (अर्थात् अकार) के मध्य सदा स्थित है (अर्थात् जो अकार का उदयस्थान है वही कवर्ग का भी उदयस्थान है)। इसी प्रकार इकारादि के मध्य चवर्गादि स्थित है।

223. किन्तु प्राणस्वरूप जीवनात्मक सकार हृदय में स्थित है। बिन्दु एवं प्रकाशस्वरूप हवर्ण व्यापक रूप में (सर्वत्र) स्थित है।

224-25. वर्णों का यह परतर उदय बता दिया गया है, सूक्ष्म[95] बताया जा रहा है।

प्रवेश में षोडश तथा निर्गम में नपुंसक लिङ्ग के वर्णों को छोड़कर बारह ध्वनियाँ होती हैं। वही सूर्य और चन्द्र (अर्थात् प्राण और अपान) है। दूसरे (कवर्गादि) वर्ण इसी में सूक्ष्म रूप में उदित रहते हैं।

अब सूक्ष्म-स्थूल का विवेचन किया जा रहा है:-

225-26. कादि का अर्धमात्राओं का काल तैंतीस बताया गया है। ह्रस्व अर्धमात्राएँ दश होती हैं, दीर्घ बत्तीस। किन्तु लृ प्लुत होता है। इसमें छह अर्धमात्राएँ होती हैं।

हमारे गुरु ने इक्यासी (कादि 33, ह्रस्व 10, दीर्घ 32 प्लुत लृ 6 = 81) अर्ध मात्राएँ बताई हैं।

227. इसी के कारण भगवान् ने मन्त्र को इक्यासी (अर्धमात्राओं वाला) बताया है। शिवात्मिका देवी शक्ति इक्यासी पदों वाली श्रीमातङ्ग[96] (तन्त्र) में बताई गई है।

228 (अ) अत एव शिव इसी के अनुसार (इक्यासी) धर्मों (शक्तियों) का समुदाय माना गया है।

शक्तियाँ शिव की धर्म मानी जाती हैं। 'पत्युर्धर्मा' शक्तयस्तु' (मातं, 1.20)। इक्यासी अर्धमात्राओं को पद कहा गया है। इसी से मन्त्रात्मिका परा शक्ति को एकाशीतिपदा कहा गया है। शिव इन इक्यासी शक्तियों का समूहरूप है। प्रत्येक वर्ण देवताओं का वाचक है और सभी वर्ण मिलकर महादेव शिव के स्वरूप बनते हैं।

228-29. परामर्शस्वरूप शक्ति-चक्र का ईश्वर शिव स्थूल इक्यासी पदों से उत्पन्न परामर्शों से तत्तत् (सर्वात्मा अनन्त आदि) रूपों में पहचाना जाता है।

229-30. जितने में एक परामर्श सम्पूर्ण हो जाता है उतने में ही वह, हमारे अनुसार, पद कहलाता है। सुबन्त और तिङन्त पद होता है (व्याकरण का यह) नियम (यहाँ) लागू नहीं होता।

प्रत्येक वर्ण शिवशक्ति का वाचक होने के नाते पद है क्योंकि उससे शिवशक्ति का परामर्श सम्भव है। अतः जिससे शिवशक्ति का परामर्श हो जाय वही पद कहलाता है। 'ॐनमः शिवाय' यह तन्त्र में एक पद माना जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण रूप में शिव का परामर्श कराता है। व्याकरण के अनुसार सुप् या तिङ्प्रत्ययों से युक्त होने पर पद कहलाता है-सुप्तिङन्तं पदम् (1.4.14)। सुबन्त पद का उदाहरण है 'रामः' और तिङन्त पद का उदाहरण है 'भवति।' इस प्रकार 'ॐनमः शिवाय' में व्याकरण के अनुसार तीन पद होंगे जबकि तन्त्रशास्त्र के अनुसार इस मन्त्र से शिव का एक बार ही परामर्श होता है। अतः यह एक पद है। इसी प्रकार अर्धमात्रा को वैयाकरण, उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पद नहीं मान सकते, किन्तु तान्त्रिक अर्धमात्रा से शिव का परामर्श सम्भव होने से उसे भी पद स्वीकार करते हैं। इसी के आधार पर देवी को एकाशीतिपदा तथा शिव को इक्यासी धर्मों (पदात्मक शक्तियों) का समुदाय माना जाता है।

230-31. इक्यासी पदों के उदार परामर्श से उपबृंहित उपाय स्थूल कहलाता है। जहाँ मात्राओं की आत्मा में विश्रान्ति हो जाती है, वह सूक्ष्म उपाय कहलाता है।

231-32. चूँकि नौ-नौ अर्धमात्राएँ चार-चार अङ्गुलों में होती हैं, अतः छत्तीस अङ्गुलों में इक्यासी अर्धमात्राएँ उदित होती हैं (इस प्रकार छत्तीस अङ्गुल प्रमाणवाले प्राणचार में इक्यासी अर्धमात्राएँ होती हैं)।

232-33 प्रत्येक अङ्गुल को नौ भागों में विभाजित करने पर अर्धमात्रात्मक व्यञ्जन के चार नौ-नौ के भाग हुए। शेष तीन (ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत) के (क्रमशः) आठ (नौ-भाग) सोलह एवं चौबीस (नौ-नौ के भाग हुये)।[97]

233-34. इस प्रकार अङ्गुल के चतुष्कद्वय के आठ नौ भाग लघु होते हैं। दीर्घ तथा प्लुत क्रमशः दुगना, तिगुना होते हैं। उससे भी बढ़कर हल्।[98]

234-35. क्षकार तीन अर्धमात्राओं का होता है (क्योंकि इसमें ककार और सकार की दो अर्धमात्रायें होती हैं तथा इन दोनों के बीच में विश्रान्ति के कारण एक अर्धमात्रा होती है)। इन सबकी गणना करने पर, अङ्गुल के अर्धभाग को सात से विभाजित करने पर पुनः अर्धमात्रा का योग होता है।[99]

236. क्षकार सभी के संयोग को ग्रहण करने वाला है सभी में व्याप्त है, सभी वर्णों के उदयादि तथा अन्त की सन्धियों में उदित होने वाला तथा व्यापक है।

237. इस प्रकार (अकारादि) वर्णों का छत्तीस अङ्गुल वाले प्राणचार में (हृदय से लेकर द्वादशान्त तक का) उदय होता है। मुक्ति (क्रूर) तथा मुक्ति (सौम्य) फल में 'ह' से प्रारम्भ कर प्रथम (अक्षर अ) तक विलोम से (अपानोदय) होता है।[100]

वर्णों का सूक्ष्म-पर उदयः-

238. हृदय में अकार तथा द्वादशान्त में हकार का होना ही अहंरूप अद्वैत माना जाता है जो कि प्रकाश की आत्मा में विश्रान्ति है।[101]

239. शिव और शक्ति के अद्वैत से यह इक्यासी अर्धमात्रा होती है जो 36x2=72 बहत्तर अंगुलियों में द्विगुणित होकर संसरण करती है।[102]

240. तीन प्रकार का सूक्ष्मोदय बताया और दो प्रकार का पदोदय। अब वर्णों का स्थूलोदय बता रहे हैं। (यह सब) गुरु द्वारा बताया गया है।

241. एक-एक आधे प्रहर में वर्गाष्टक का उदय होता है और दिन तथा रात में ह्रास तथा वृद्धि कुछ मानते हैं और कुछ नहीं।

242. यह वर्गोदय रात तथा दिन में आधे याम का ही होता है (अर्थात् प्रत्येक वर्ग में साढ़े चार अङ्गुल का उदय होता है)। वह (प्राणचार) साढ़े तेरह सौ होता है।

243. दिन और रात के प्रत्येक वर्ग में सार्ध संक्रान्ति होती है। दोनों को मिलाने पर सत्ताइसौ प्राणचार होते हैं।[103]

244. जो नौ वर्ग मानते हैं उनके अनुसार (प्रत्येक वर्ग में) बारह सौ प्राणचार होते हैं। प्रत्येक वर्ग में संक्रान्ति पौने दो की मानी गई है।

245. रात और दिन की गणना मिला लेने पर 2400 (प्राणचार होते हैं)। यह स्थूल वर्गोदय (का निरूपण) था, अब स्थूलवर्णोदय बताते हैं।

246. प्रत्येक वर्ण में 216 प्राणचार होते हैं। दिन में तथा इसी प्रकार निशा में छत्तीस चषक होते हैं (प्रत्येक चषक में छह बार प्राणचार होते हैं)।

247. एक सौ आठ रौद्र तथा शाक्त होते हैं।[104] दोनों को मिला देने पर रुद्र और शक्ति का अविभाग होता है।

248. दिन और रात का विभाग न करने पर 432 प्राणचार होते हैं और नाडी पञ्चमांश युक्त होती है। यह बाह्य वर्णोदय माना गया है।

249. पचास वर्णों की चर्चा ऊपर की गई है। जो (वर्णों की संख्या पचास न मानकर) एक कम मानते हैं, उनका मत बता रहे हैं।

250. पञ्चमांश से रहित अर्धचार एक वर्ण में चार होते हैं (?)। रात दिन के विभाग न करने पर उससे दुगने होते हैं।[105]

प्रत्येक वर्ण 216 का होता है। 49 वर्ण मानने पर 216x49=10584 प्राणचार होंगे।

251. पहले सूक्ष्म को बताने के बाद यह स्थूल वर्णोदय बताया गया है। इस प्रकार गुरु के वचन तथा अपने अनुभव से प्रमाणित[106] कालतत्त्व का निरूपण समाप्त हुआ।

-: संदर्भ :-

1 प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः।। स्वच्छन्दतन्त्र, 7.17.

2. विश्वस्य कलनात् कालः - परप्रमात्रेकरूपः पूर्णः प्रकाशः। विवेक, 4.132.

3. अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः।।स्पका, 2.3.

4. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।ईप्रका, 1.5.14.

5. या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।। ईप्रका, 1.7.1.

6. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी।।
सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाकदर्शन अध्याय के अन्तर्गत उद्धृत (पृ. 3)।

7. पाठान्तर के साथ यह सूक्ति सर्वदर्शनसंग्रह में भी पाई जाती है। उसमें बृ.आ.उ. का उपर्युक्त उद्धरण भी प्राप्त होता है।

8. तुटि की व्याख्या के लिए निम्नाङ्कित श्लोक उल्लेखनीय हैः-

(अ) तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः।। स्वच्छन्दतन्त्र, 7.27,

(ब) मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः।। वही, 11.201,
काल की शेष गणना के लिए यहीं 11.202-233 द्रष्टव्य है।

9. त्रिविध संध्या के उपर्युक्त वर्णन के प्रसङ्ग में स्वच्छन्दतन्त्र के कुछ अंश उल्लेख्य हैंः-

(क) हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा।
तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसंध्या भवेत्ततः।।7.39,

(ख) द्वितीय ऊर्ध्वे विज्ञेयो मध्याह्नस्तालुमध्यतः। 7.33 (ब),
अत्र होमो जपो ध्यानं कृतं वै मोक्षदं भवेत्। 7.34 (अ),

(ग) चतुर्थान्ते तु देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः।
ततोऽस्तमयसंन्ध्यात्र तुट्यर्धं तु भवेत्प्रिये।।7.36.

10. यह व्युत्पत्ति कुछ टेढी है और कुछ अस्पष्ट भी।

11. तेनाध्वैवाध्वा, अद्यत इत्यध्वा चेति। विवेक
संज्ञा हि त्रिविधा ज्ञेया शिवशास्त्रेषु सर्वदा।
पारिभाषिकनैमित्ती सिद्धा चासौ प्रसिद्धिभाक्।।
इह नैमित्तिकी संज्ञा निमित्तात्तु समागता। विवेक, 6.33 में उद्धृत.

13. उपर्युक्त प्रसङ्ग की स्पष्टता के लिए स्वच्छन्दतन्त्र पर क्षेमराज की उद्योत टीका का निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय है:-

परमेश्वरश्चिदानन्दघनः स्वतन्त्रभट्टारकः एकादशपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या उन्मनाख्यया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या शून्यादिक्षित्यन्तमनन्तं वाच्यवाचकरूपं स्वभितौ स्वानधिकमप्यधिकमिव युगपदवभासयति। तत्र वाचकं ग्राहकभागावस्थितं परसूक्ष्मस्थूलभेदेन वर्णमन्त्रपदात्मकं त्रिधा, वाच्यमपि ग्राह्यभागाभिनिविष्टं कलातत्त्वभुवनात्मकं, तथैव वर्णा ह्यभेदविमर्शसाराः किञ्चित् स्थौल्येन भेदाभेदविमर्शनात्मकमन्त्ररूपतामाश्रित्य ततोऽपि स्थौल्येन भेदविमर्शावगमकपदरूपतया भान्ति। एवं वाच्यरूपा पारमेश्वरी कलाख्या शक्तिरुत्तरोत्तरवैशिष्ट्येन तत्त्वभुवनात्मतां गृह्णाति, वस्तुतश्चेयमक्रमैव पारमेश्वरी शक्तिः स्फुरति, तत्रापि च स्वस्वातन्त्र्यात् दर्पणनगरवत् क्रममप्यादर्शयति, क्रमेपि च पूर्वपूर्वमुत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ उत्तरमुत्तरं तु पूर्वत्र शक्त्यात्मना स्थितं वृक्ष इव स्वबीज इति सर्वं सर्वात्मकमेव।

14. ईश्वरो बहिरुन्मेषः ईप्रका, 3.1.3.

इस कारिका में 'अनाश्रितम्' 'यतः' तथा 'उच्यते' पद अन्वय की दृष्टि से अस्पष्ट एवं भ्रामक हैं। इस कारिका के अन्तर्गत विवेककार ने जो समर्थन वाक्य उद्धृत किया है वह अन्वय एवं अर्थ की दृष्टि से सर्वथा स्पष्ट है। इसके अनुसार शक्त्यादि तत्त्ववर्ग के अन्तर्गत दश तत्त्वों की गणना की गई है, पर यह अर्थ कारिका से निकाल पाना कठिन है, क्योंकि 'अनाश्रित' से 'शक्ति' का अर्थ ग्रहण करना उचित नहीं है और 'यतः' तथा 'राग उच्यते' का अन्वय दुर्बोध है ही। समर्थक उद्धरण निम्नाङ्कित है:-

शक्त्यादिस्तत्त्ववर्गस्तु कञ्चुकत्वेन वै पशोः।
शक्तिर्माया कला विद्या कालो नियतिरेव च।।
सदाशिवेश्वरी विद्या रागस्तु वरवर्णिनि। विवेक, 6.42 में उद्धृत.

16. विद्या के दो रूप माने गये हैं-शुद्धविद्या अथवा सद्विद्या तथा अशुद्धविद्या। इन दोनों का भेद निम्नाङ्कित है:-

ये एते 'अहम्' इति 'इदम्' इति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरणत्वम् 'अहम्' इति ग्राहके 'इदम्' इति च ग्राह्ये, तन्निरासेनेकस्मिन्नैवाधिकरणे यत्संगमनं संबन्धरूपं प्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या, अशुद्धविद्यातो मायाप्रमातृगताया अन्यैव। ईप्रवि, 3.1.3.

17. प्रथमतः प्राण के स्पन्दन के चार भेद हैं (1) जीवनमात्रारूप (2) इच्छापूर्वक (3) संवेद्य तथा (4) असंवेद्य। इन चार भेदों के स्फुट तथा अस्फुट होने से प्राण-स्पन्दन के आठ भेद हुए।

18. इनके अतिरिक्त नाडियों के सम्बन्ध में 'स्वच्छन्दतन्त्र' के कुछ अंश और भी उल्लेखनीय हैं:-

(क) चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः।।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः।।
यावत्यो रोमकोट्यस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः।
यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः।।
शरीरं सर्वजन्तूनां तदव्याप्तं तु नाडिभिः। 7.8-11,

(ख) इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी।।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता।
एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः।।7.15-16,

(ग) दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम्।
बिन्दुनादात्मके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता।।7.19-20,

इसकी उद्योत टीका उल्लेखनीय है:-

'बिन्दुः' ज्ञानशक्तिप्रधानः प्राणस्तदात्मिका पिङ्गला दक्षनाडी। 'नादः' क्रियाशक्तिप्रधानोऽपानस्तदात्मिका इडा वामनाडी। तयोर्मध्ये सुषुम्नाख्या परेच्छाशक्तिस्फुरत्तारूपा।

त्वक्, मांस, रक्त, मज्जा, अस्थि, शुक्र के षट्कोषों, सत्वादि गुणों, शिवादि तत्त्वों, ब्रह्मादि देवों से युक्त पञ्चभौतिक देह में प्रभुशक्ति, आत्मा तथा प्राण के नाडियों में संचार के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित उल्लेखनीय है:-

षाट्कोशिकस्तु यो देहो भूततन्मात्रसंयुक्तः।।
स मनोबुद्ध्यहंकारबुद्धिकर्मेन्द्रियैर्गुणैः।
सर्वतत्त्वैस्तथा देवैः समधिष्ठितविग्रहः।।
तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वे नाडिभिश्चरन्। स्वतं, 7.5-7.

20. अणुं स्वरूपदृश्वानं वामाधो विनिपातयेत्।
रौद्री सांसारिकानन्दं कदाचिद्वितरेदपि।।
ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः। विवेक, 6.57 में उद्धृत.

21. देखिये - स्वतं, 4.234.

22. प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः। विवेक, 6.65 में उद्धृत

23. प्रहरः स्यान्नवाङ्गुलः। विवेक, 6.65 में उद्धृत, स्वतं VII

24. अहोरात्रस्त्वथोऽष्टभिः। स्वतं. 7.29 विवेक, 6.65 में उद्धृत

25. उपर्युक्त विवेचन के लिए स्वतं, 7.28, 36, 39-40, 69 द्रष्टव्य।

26. मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत्।
अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह।। स्वतं, 7.48.

27. अनन्त, वासुकि, तक्षक, कार्कोट, महापद्म, शङ्ख तथा कुलिक ये आठ नाग सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा राहु इन आठ ग्रहों के व्यापक हैं अर्थात् ग्रह इनसे व्याप्त हैं। इसी प्रकार नाग लोकेश (लोकपाल) से तथा लोकेश गणेश से व्याप्त हैं। ये सभी संख्या में आठ-आठ हैं।

28. इन्द्रो वह्निः पितृपतिः नैर्ऋतो तरुणो मरुत्।
कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्।। अमरकोष.

29. क्षित्यादि पूर्तियों के अधिष्ठाता मूर्तीश्वर निम्नाङ्कित हैं जो भूलोक आदि के अधिपति भी बताये गये हैं -

शर्वोरुद्रस्तथा भीमो भव उग्रस्तथैव च।
महादेवस्तथेशानो रुद्रलोकाधिपास्त्वमी।। स्वतं, 10.615.

30. सकलो निष्फलः शून्यः कलाढ्यः खमलंकृतः।
क्षपणश्च क्षयान्तस्थः कण्ठ्यौष्ठ्यश्चाष्टमः स्मृतः।। स्वतं 10.1194

31. अहोरात्र में ग्रह-राशि-नक्षत्र आदि के साथ नागादि का उदय होता है। इस सम्बन्ध में स्वतं, 7.44-47 भी द्रष्टव्य है जिसमें तंत्रा की अपेक्षा किंचित् भेद भी प्रतीत होता है। स्वतं (7.46) की क्षेमराज कृत उद्योत टीका का निम्नाङ्कित अंश इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है:-

एवं पुंभोगाय दिनार्धप्रहरानधितिष्ठतां ग्रहाणां नागैरधिष्ठितत्वं, नागानां तूक्तक्रमस्थितिभिर्लोकपालैरिन्द्रादिभिः। इन्द्राद्या मूर्तिभिरिति क्षित्यादिमूर्त्यधिष्ठातृशर्वरुद्र-भवादिभिर्मूर्तीश्वरैः, ते च चण्डनन्यादिभिः प्रागुक्तैर्गणेशैः, तेऽपि गुह्यातिगुह्यपवित्रस्थाण्वाद्यैः पञ्चभिरष्टकैः, क्रमात्क्रममधिष्ठिताः, तेऽप्यकृतादिना योगाष्टकेन व्याप्ताः, योगाष्टकादपि परे ये प्रकृतिस्थाः क्रोधाद्याः, मायास्था मण्डलिप्रभृतयस्तैर्व्याप्ताः, तेऽपि

विद्यातत्त्वगतैरनन्तादिभिः, विद्येश्वरा अपि सकलाद्यैरिति सदाशिवपरिवारभूतैः।

'सकलोनिष्कलः शून्यः कलाढ्य .....।' (10.1194)

इति वक्ष्यमाणैरष्टभिः, यद्वा सकलः सदाशिव आद्यो येषामूर्द्ध्वेव वर्तिबिन्द्वीशब्रह्मव्यापिव्योमानन्तानाधानाश्रितानां तैस्तत्त्वैरिति अभेदभूमिस्पर्शात्पारमार्थिकदेवैः। तेऽपि औन्मनस-पदव्याप्त्यवस्थितश्रीस्वच्छन्दनाथपरिवारत्वात् तदधिष्ठितैः कपालीशादिभिर्भैरवैरधिष्ठिताः।

32. सितासितौ च यौ पक्षौ दीर्घह्रस्वौ च कीर्तितौ।
धर्माधर्ममयौ पाशौ महाघोरौ भयानकौ।।
द्वयोर्यत्र भवेच्छेदः क्षयेन्माया तु योगिनी।
क्षये शून्यं परं ज्ञेयं दीक्षा ह्येषा प्रकीर्तिता विवेक, 6.95 में उद्धृत

33. कृष्ण पक्ष में क्रूरकर्म तथा शुक्ल पक्ष में सौम्यकर्म करने का विधान हैः-

क्रूरकर्माणि तत्रैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात्।
शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते।। विवेक, 6.76 में उद्धृत.

34. इस सम्बन्ध में स्वतं, 7.62 पर उद्योत उल्लेखनीय हैः-

अथ ऊर्ध्वं च यत्तुट्यर्धं पूर्वमहोरात्रोदये पूर्वापरसंध्यात्वेनोक्तं, स एवेह विश्रमः पक्षसंधित्वेन कीर्तितः। यास्तु मध्ये पञ्चदश तुटयः, ता एव प्रतिपदाद्यास्तिथयः।।

35. प्रथमोदये हृत्पद्यातुट्यर्धं तु दिनं भवेत्।
द्वितीये चैव तुट्यर्धे यदा चरति शर्वरी।। स्वतं, 7.63,

हृत्पद्मादित्युपलक्षणम्। तेनैकैकस्यास्तुटेः सार्धपादांगुलपरिमाणमाद्यमर्धं दिनं प्रकाशरूपं, परं तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिः। उद्योत, 7.63.

36. जाग्रदादि अवस्थाओं के सम्बन्ध में ईप्रका, 3.2.11-17 तथा उस पर विमर्शिनी द्रष्टव्य है।

37. वेद्यवेदकसाम्येन वस्तुविश्रमचर्वणम्।
यदा कदाचिद्भवति सा रात्रिदिनतुल्यता।।
विषुवत्कालयोगोऽसौ योगिभिः समुदाहृतः। विवेक, 6.84 में उद्धृत.

38. द्राघीयसी वेद्यवृत्तिर्दिनदैर्घ्याय कल्पते।
तथैव स्वात्मविश्रान्तिवृत्तिः स्याद्रात्रिविस्तरः।। विवेक, 6.86 में उद्धृत.

39. श्रीशम्भु से अभिनवगुप्त का अभिप्राय अर्धत्र्यम्बक मठिका के गुरु श्रीशम्भुनाथ से है जिनके सम्बन्ध में तंत्रा, 1.13 तथा निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है:-

इत्यागमं सकलशास्त्रमहानिधानाच्छ्रीशंभुनाथवदनादधिगम्य सम्यक्।
शास्त्रे रहस्यरससंततिसुन्दरेऽस्मिन् गम्भीरवाचि रचिता विवृतिमयेयम्।।

श्रीशम्भु का उल्लेख इन्होंने श्री भट्टनाथ (तंत्रा, 1.16) के रूप में भी किया है

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगा तथा श्रीभट्टारिकांघ्रियुगलादुरुसन्ततिर्या।
बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति।।

40. मुद्रित संस्करण के अनुसार आगे 'उक्तं .... शिवरूपिणी' की संख्या 94 है अतः इसके पूर्व 'आप्यायनात्म .... प्राणार्कमाविशेत्' इस $1\frac{1}{2}$ कारिका को 93 कारिका के अन्तर्गत ही रखा गया है।

41. अत एव यैयममा सह यौगपद्येन पञ्चदशानां कलानां वसनात् 'अमावास्या' तद् व्यपदेश्येत्यर्थः। विवेक, 6.96.

42. स पक्षसन्धिः प्रतिपत्पञ्चदश्यैयिदन्तरम्। विवेक, 6.99 में उद्धृत.

43. रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत्।
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने।।
अमृतं स्रवतं चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तत्।
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते। स्वतं, 6.60-62.

44. राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा।
दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत्।।
स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत्। स्वतं, 7.73.

45. देखिये - स्वतं, 7.65.

46. द्रष्टव्य - वही, 7.77-79.

47. सूर्य की मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष एवं मिथुन राशियों में संक्रान्ति क्रमशः माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ मास हैं। प्रत्येक राशि अथवा मास में सूर्य का संक्रमण छह अङ्गुल परिमाण का होता है। इस प्रकार सूर्य का संक्रमण छह राशियों में होने से छत्तीस अङ्गुल सूर्य द्वारा गति या भोग होता है। छह राशियों में सूर्य के इस गतिचार को उत्तरायण कहा जाता है।

षडंगुलं च संक्रामो मकरादिषु राशिषु।
भानोर्माघाद्याषाढान्तं भवेत्तच्चोत्तरायणम्।। विवेक, 6.114 में उद्धृत.

48. प्राणसूर्य के विभिन्न राशियों में संक्रान्ति के सम्बन्ध में स्वतं, 7.93-95:-

हृदयादुदयस्थानात्संक्रान्तिर्मकरे स्मृता।
षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे संक्रमते पुनः।।
कण्ठोर्ध्वे द्वयंगुलं त्यक्त्वा मीने संक्रमते पुनः।
गलोर्ध्वाद्यावत्ताल्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत्।।
नासान्तं यावत्संक्रान्तिरंगुलानि षडैव हि।
एषा वै विषुसंक्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता।।

49. शक्त्यधो हृदये हंसः संक्रामेत्कर्कटे प्रिये।
षडंगुलानि संत्यज्य सिंहे वै संक्रमेत्पुनः।।
षडंगुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां संक्रमते पुनः।।
नासिकाग्रात्तु ताल्वन्तं त्यक्ते वै विषुवद्भवेत्।।
तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद्भवेत्। स्वतं, 7.112-14.

50. विवेक में उद्धृत प्रमाण के अनुसार किसी वस्तु की प्रथम छह स्थितियों के पर्याय निम्नाङ्कित हैं:-

'आधानमिच्छा संयोग आनन्दो घनता स्थितिः।'

शेष छह स्थितियों का उल्लेख तंत्रा में शब्दशः वही है:-

'जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात्।'

51. अङ्गुले ह्यंगुले ह्यत्र तिथयः पञ्च संस्थिताः।
तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत्।।
षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः।
त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते।। स्वतं, 7.91-92.

मास	अधिष्ठातृदेवता	मास	अधिष्ठातृदेवता
कार्तिक	दक्ष	वैशाख	मन्मथ
मार्गशीर्ष	चण्ड	ज्येष्ठ	शकुनि
पौष	हर	आषाढ	सुमति
माघ	शौण्डी	श्रावण	नन्द
फाल्गुन	प्रमथ	भाद्रपद	गोपाल
चैत्र	भीम	आश्विन	पितामह

53. दक्षश्चण्डो हरः शौण्डी प्रमथो भीममन्मथौ।
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालश्च पितामहः।। तंत्रा, 33.8-9.

54. चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च।
युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽप्यथ।।
वर्षद्वादशके चैव षष्ट्यब्देऽथ वरानने।
स्नानदानेन यज्ञैच पूजाहोमजपेन च।।
ध्यानयोगतपोभिश्च बाह्ये कालेऽथ यत्कृतम्।
अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत्।।
प्राणहंसगतिं चारै ज्ञात्वैकस्मिंस्तु तद्भजेत्। स्वतं, 7.139-42.

55. उपर्युक्त कालगणना संक्षेपतः निम्नप्रकार है:-

6 प्राण	=	चषक
60 चषक	=	नाली
60 नाली	=	तिथि
30 तिथि	=	मास
12 मास	=	वत्सर
360 मानुष वर्ष	=	पित्र्य, दिव्यवर्ष
30 मानुष वर्ष	=	1 दिव्यमास
1 मानुष वर्ष	=	1 दिव्य अहोरात्र

56. अभिनवगुप्त दिव्य तथा पित्र्य वर्ष को एक समान मानते हैं तथा उनका खण्डन करते हैं जो पित्र्य वर्ष को दिव्य दिन मान लेते हैं। इस सम्बन्ध में क्षेमराज स्वतं, 11.8 पर उद्योत भी उल्लेखनीय है:-

इत्थं पित्रृणां देवानां च तुल्या अहोरात्रकलनेति पुराणपुस्तकेषु दृश्यते, अद्यतनैस्तु 'ऋतुर्द्विगुण एव सः' इत्यतोऽनन्तरं

'कृष्णपक्षस्त्वहश्चैव शुक्लस्तु रजनी भवेत्।
पित्रृणां सोऽप्यहोरात्रस्त्वनेनाब्दस्तु पूर्ववत्।।'

इति विपर्यास्य पठित्वा मानुष्यो मासः पित्र्योऽहोरात्र इति व्याख्यातं, तेषां च सांवत्सरिकी पितृदिनव्यवस्था लौकिक्यपि स्थितिः प्रसृता।

57. द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम्।
चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम्।।
त्रेता ज्ञेया त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः।
सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये।।
शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते।
त्रैते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम्।।
कलौ चापि शतं ज्ञेयं संध्यामानमिदं स्मृतम्। स्वतं, 11.209-12.

(क) प्रत्येक कल्प में चौदह मनु होते हैं। एक मनु का काल मन्वन्तर कहलाता है। मनुष्यों के नाम हैं:-स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्यदेवसावर्णि, इन्द्रसावर्णि। मनुस्मृति, 1.62-63,

(ख) मन्वन्तर के सम्बन्ध में लिङ्गपुराण भी उल्लेखनीय है:-
'एवं चतुर्युगाख्यानां साधिका होकसप्ततिः।
कृतत्रेतादियुक्तानां मनोरन्तरमुच्यते।।
दैविकानां युगानान्तु सहस्रं ब्रह्मणो दिनम्।
कृतत्रेतादियुक्तानां मनोरन्तरमुच्यते।।

(ग) मन्वन्तर के सम्बन्ध में मनुस्मृति 1.79 भी उल्लेख है:-
यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते।।

(घ) लौकिक मान से चतुर्युग 4320000 वर्षों का होता है, जिसमें 1728000 वर्षों का कृतयुग, 1296000 का त्रेता, 864000 का द्वापर तथा 432000 वर्षों का कलियुग होता है। इस चतुर्युग की एक सप्तति से मन्वन्तर होता है। द्रष्टव्य - स्वतं, 11.213-219.

(ङ) विष्णुपुराण की ब्रह्म दिन के सम्बन्ध में यह निम्नाङ्कित है:-
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने।।

(च) इस सम्बन्ध में मनुस्मृति भी द्रष्टव्य है:-
दैविकानां युगानान्तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च।।
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः।।

60. पुराणों के अनुसार चौदह मन्वन्तरों के क्रमशः चौदह इन्द्र निम्नांकित हैं:-

यज्ञ, रोचन, सत्यजित्, त्रिशिख, विभु, मन्त्रद्रुम, पुरन्दर, बलि, श्रुत, शम्भु, वैधृत, ऋतधामा, दिवस्पति तथा शुचि। इस समय सातवां वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है जिसका इन्द्र पुरन्दर है।

61. अभिप्राय अस्पष्ट है। 'जनै' के स्थान पर 'जनाः' होना चाहिये।

62. मूल में 'तामसादितः' पद अस्पष्ट है। विवेक में उद्धृत स्वतं 11.247-49 के अनुसार प्रथम सृष्टि तामसी होती है। 'प्रथमां तामसी' सृष्टिं करोति तमसोत्कटान्।' तदनन्तर तमस् तथा रजस् से मनुष्यों की, रजस् तथा सत्व से मुनियों की तथा सत्व से देवादि की सृष्टि होती है। यह समग्र सृष्टि पूर्व की भाँति प्रत्येक प्रलय के अनन्तर होती रहती है-'सृजेद् देवान् सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया' स्वच्छन्दतन्त्र की यह धारणा वैदिक धारणा (यथापूर्वमकल्पयत्) का अनुगमन है।

63. चौदह मन्वन्तरों का दिन तथा चौदह मन्वन्तरों की ही ब्रह्मा की रात्रि होती है। इस अहोरात्र के सौ वर्ष के बराबर विष्णु का एक दिन है जो ब्राह्म सौ वर्ष के बाद प्रारम्भ होता है। ब्राह्मवर्ष-मानार्थ द्र. स्वतं, 11.253-57.

64. एक रुद्र के दिनान्त में संहार और दिन के प्रारम्भ में ब्रह्मा की सृष्टि होती है। इस प्रकार एक रुद्र के एक वर्ष (360 दिनों) में जो तीन सौ साठ प्रलयोद्भव हुए उनकी शतरुद्र के सौ से गुणन करने पर 36000 प्रलयोद्भव ब्रह्मा के बनते हैं।

65. प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन च।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत्।।
मायाकालपरार्धस्य शतधा गुणितस्य च।
ईश्वरः कुरुते सृष्टिं संहरेच्च पुनः सृजेत्।। स्वतं, 11.299-300.

66. बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं च भित्त्वा चैव निरोधिकाम्।
नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम्।। स्वतं, 11.103.

67. नादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये।
शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वदिनक्षये।।स्वतं, 11.304.

68. शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य च।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेकं प्रकीर्तितम्।।स्वतं, 11.307.

69. अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन तु।
सोऽपि याति परं स्थानं कारणं समनाश्रयम्।। स्वतं, 11.308.

70. स कालः साम्यसंज्ञश्च जन्ममृत्युभयापहः।
तस्याप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात्परमावधिः।।
नित्यो नित्योदितो देवि अकल्पश्च न कल्पते। स्वतं, 11.309.

71. 'स्वच्छन्दतंत्र' के अनेक विषयों का अनुवाद, संक्षेप आदि अभिनवगुप्त ने अपनी कारिकाओं में प्रस्तुत किया है किन्तु उनकी कारिकाओं में स्वच्छन्दतंत्र की अपेक्षा अस्पष्टता रह गई है। वस्तुतः अनेकत्र ऐसा लगता है कि स्वच्छन्दतन्त्र की भाषा अधिक सरल, निर्भ्रान्त तथा स्पष्ट है जबकि तन्त्रालोक की अस्पष्ट। उपर्युक्त कारिका भी, 131, 144, 146, 158, 164 आदि कारिकाओं की भाँति, अस्पष्ट है जबकि स्वच्छन्दतन्त्र की निम्नाङ्कित कारिका (11.310) अधिक स्पष्ट है :-

स चाधः कलयेत्सर्वं व्यापिन्यादिं धरावधिम्।
तुट्यादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम्।।

72. देखिये - स्वतं, 11.258-63.

73. निजशक्तिवैभवभरादण्डचतुष्टयमिदं विभागेन।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा।। उद्धृत पसा, 4.

74. श्रीकण्ठ एव परया मूर्त्या कालाग्निरुच्यते। विवेक, 1.171 में उद्धृत.

75. यह भी श्रीकण्ठ का ही स्वरूप भेद है। इस प्रकार समग्र अशुद्ध अध्वा अर्थात् मायातत्त्व तक की सृष्टि तथा संहार का अधिपति श्रीकण्ठनाथ को माना गया है।

76. 'रुद्रशतान्यष्टकपञ्चकम्' का अभिप्राय अस्पष्ट है। रुद्र के अष्टमूर्ति तथा पञ्च मुख होने के कारण क्या यह अर्थ सम्भव है कि 'अष्टमूर्ति एवं पञ्चमुख शतरुद्र'? अथवा सौ के स्थान पर 8x5=40 को मिलाकर 140 रुद्र मानने चाहिये?

77. ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता।
यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्संज्ञां स प्रपद्यते।।
तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः। स्वतं, 11.267.

78. प्राणात्मा काल के समग्र भेद संविद् के ही अधीन हैं, उसी के स्वभाव का विलास किंवा स्पन्दन है।

79. कालतत्त्व क्रिया भेद है जैसे कि दिक्तत्त्व मूर्तिभेद है। यह तत्त्व परमेश्वर की इच्छा में विश्रान्त है। अतः इसका आन्तर स्वरूप निश्चित है किन्तु इसका बाह्य स्वरूप निश्चित नहीं है। इसीलिए एक की दृष्टि से यदि चषक (काल का एक विभाग) है तो दूसरे की दृष्टि से वही अब्दोदय है। इस प्रकार काल बाह्य दृष्टि से सापेक्ष है अतः अनिश्चित। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने भी अपने सापेक्ष-

सिद्धान्त को सरल रूप में समझाने के लिए काल की प्रतीति को उदाहरण रूप में दिया था। प्रेम करने में और गरम तवे पर हाथ रखने में समय की अनुभूति भिन्न-भिन्न होती है।

80. जहाँ प्रथम स्वप्न को जागरण मानकर दूसरा स्वप्न होता है वह स्वप्न का स्वप्न कहलाता है।

81. ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शिव इन छह में क्रमशः लय के बाद अन्त में पराशक्ति अथवा परम शिव में लय (समापत्ति) होता है।

82. इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अर्यमा, अलम्बुसा, कुहू तथा शंखिनी (द्रष्टव्य - स्वतं, 7.15-16)।

83. द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः।।स्वतं, 7.9.

84. आठ दिशाएँ निम्नाङ्कित हैं:-

पूर्वाग्नेयी दक्षिणा च नैर्ऋती पश्चिमा तथा,
वायवी चोत्तरेशानी दिशा अष्टाविमाः स्मृताः।

आठों दिशाओं के आठ दिक्पाल निम्नांकित हैं:-

इन्द्रो वह्निः पितृपतिः नैर्ऋतो वरुणो मरुत्,
कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्। अमरकोश

(क) दक्षनासापुटे चैव नाडी वै पिङ्गला स्मृता।
इडा चैव तु वामेन सुषुम्ना मध्यतः स्थिता।। स्वतं, 7.148-49,

(ख) दक्षिणं तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विराजते।
पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः।।स्वतं, 7.153.

86. दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम्।
विन्दुनादात्मिके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता।। स्वतं, 7.19.

87. वाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत्।।

अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादशः स्मृताः। स्वतं, 7.167.68.

88. एक दिन में बारह संक्रान्तियाँ, राशियाँ होती हैं। प्रातः तथा सायं की मेष-संक्रान्ति सवा-सवा घड़ी की होती है। प्रातः के बाद और मध्याह्न से पूर्व पाँच और मध्याह्न से सायं के पूर्व तक वृषराशि से प्रारम्भ कर मीनराशि तक की

दश संक्रान्तियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक संक्रान्ति ढाई घड़ी की होती है। इस प्रकार एक दिन में बारह संक्रान्तियाँ और तीस घड़ी (घटिका या नाली) होती हैं। इसी प्रकार तीस घटिका और बारह संक्रान्तियों की रात होती है। अतः एक अहोरात्र में चौबीस संक्रान्तियाँ और साठ घटिकाएँ होती हैं। प्रत्येक संक्रान्ति में नौ-सौ बार प्राणचार होता है। अतः चौबीस संक्रान्तियाँ के अहोरात्र में 900x24 = 21600 प्राणचार होते हैं।

इस सम्बन्ध में स्वतं, 7.162-65 द्रष्टव्य है।

89. पूर्वाह्ने विषुवत्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम्।
तृतीयं चापराह्ने वै अर्धरात्रे चतुर्थकम्।।
चतुर्धा विषुवत्प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम्।। स्वतं 7.168-9.

90. अर्थात् जिस प्रकार तुटि से षष्ट्यब्द तक का काल प्राण अपान के चार में माना गया है उसी प्रकार समान में भी केवल वर्षद्वय का ही काल नहीं होता अपितु षष्ट्यब्द तक का काल उसमें भी माना गया है। प्राण तथा अपान के चार की अपेक्षा समानचार अत्यन्त सूक्ष्म है जबकि उसकी अपेक्षा प्राण अपान का संचार स्थूल है।

91. स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः।। आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश.

92. अदेङ्गुणः 1.1.2, आद्गुणः 6.1.87.

93. वृद्धिरेचि 6.1.88, वृद्धिरादैच् 1.1.1.

94. 'षण्ठ्रणीनि' पद अस्पष्ट है।

95. सूक्ष्म भी तीन प्रकार का है-सूक्ष्मसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल। यहाँ सूक्ष्म से अभिप्राय सूक्ष्मसूक्ष्म से है।

(क) एकाशीतिपदा देवी या सा शक्तिः शिवात्मिका। मातं, 1.7.31,

(ख) मन्त्राश्च शक्तिगर्भस्थाः शक्तिर्वै पारमेश्वरी।
कालानलान्तमध्यानं शिवात् व्यामं यया मुने।।
एकाशीतिपदोपेता विद्यापादे मयोदिता।। विवेक में उद्धृत, मातं.

97. अस्पष्ट है।

98. अभिप्राय अस्पष्ट है।

99. अभिप्राय अस्पष्ट है।

100. अधः प्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः।
मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते।। स्वतं, 7.57.

101. प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः। अप्रसि, 22.

102. अर्थ अस्पष्ट है।

103. प्रतिसंक्रान्ति = 900 प्राणचार $1\frac{1}{2}$ =1350 प्राणचार

दिन में 12 संक्रान्ति का उदय=12x900=10,800 प्राणचार

रात्रि में 12 संक्रान्ति का उदय=12x900=10,800 प्राणचार

21,600 प्राणचार

इस गणना से इतने ही प्राणचार होते हैं।

104-105. अर्थ अस्पष्ट है।

106. यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात्।
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद् भैरवायते।। तंत्रा, 4.77.

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-सूची

(सूची के अन्तर्गत कोष्ठकगत संख्या तन्त्रा के भाष्यस से उसकी टीका विवेक को निर्दिष्ट करती है, जैसे कि (6.166) का अभिप्राय है तन्त्रा के षष्ठ आह्निक की 166 वीं कारिका की विवेक टीका। जहाँ अर्थ तन्त्रा से ही दिया गया है, वहाँ (तन्त्रा. 4.6) अङ्कित है।)

अकल्पः - कल्पयितुमशक्यः (6.166)

अकल्पितः (गुप्तः) - अयं खलु महज्ञानी भावनाऽनन्तोपायमाहात्म्यात् गुर्वादिना परेणाकृतत्वात् (अकल्पितः) (4.53)

अकल्पितकल्पकः - अकल्पितत्वेऽपि यस्य यथा स्वात्मज्ञानपारिपूर्ण्यात् भावनादिना कल्पितत्वमपि संभवेत् सः (4.72)

अकल्पितम् - तात्त्विकम् (5.26)

अकस्मात् - लोकप्रसिद्धो हेतुः (तंत्रा, 4.46)

अग्निः - भक्षयिता (4.134), रेफः (5.150)

अङ्गम् - आहुतिशोषकरणलक्षणभूतम् (4.50)

अद्वयः - चिन्मात्रस्वभावना (5.10) चिन्मात्रात्मा (6.104)

अद्वैतम् - प्रकाशमात्रविश्रमः (तंत्रा, 6.238)

अधिगमः - 'ज्ञानोत्थं यथार्थः' इत्येवंपर्यवसानः प्रमातृगश्वासः (4.82)

अधोवक्त्रम् - मस्तकोत्कलं योगिनीवक्त्रम् (6.193)

अध्वा - क्रमेण मानस्ये पदे संप्राप्तिकारणम् (तन्त्रा., 6.30) अध्वमध्या, अध्वन इति अध्वा (6.30)

अनवच्छिन्नम् - सूक्ष्मपाशकोशेनावृतम् (5.26)

अनाहता	-	प्रमातृप्रमेयाद्यात्मना सर्वतः प्रस्फुरन्ती (5.51)
अनुत्तरचक्रम् (आनुत्तरमम्)	-	प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य वा स्वरसत एव चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिद्वादशकं रूपाद्यार्थालोचनाय प्रसरद्वर्तते (5.27)
अनुचरम्	-	पारमार्थिकं रूपम् (5.19)
अन्तःकीलनम्	-	चित्तस्वरूपानुकारायमाणतया स्वात्मायत्ततासादनम्, दार्ढ्यापादनम् (4.92)
अणुः	-	संकुचितः प्रमाता (5.5)
अण्डचतुष्टयम्	-	शक्तिः, माया, प्रकृतिः, पृथ्वी च (तंत्रा. 6.170)
अपानः	-	आप्यायकारितया 'शशी' (5.48) अधः प्रवाहः (5.88)
अभिजित्	-	अभिजयति सर्वान्विघ्नानिति (6.68)
अभिषेकः	-	शास्त्रज्ञानादावधिकारः (4.53)
अम्बुजम्	-	भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमलनामाधारः (5.55)
अरावः	-	अहंपरामर्शरूपः स्वात्मा (5.99)
अर्थवादः	-	स्तुतिनिन्दादिरूपः (4.236)
अविकल्पनम्	-	स्वात्माभेदेन परामर्शः (4.174)
अष्टारं चक्रम्	-	भैरवत्रयं, देवीत्रयं, कुलेश्वरः कुलेश्वरी च (4.130)
अहंकृत्	-	परमादित्यः (4.164) परस्मिन् प्रकाशे प्रथममुल्लसनशीलः अत एव व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् स्वात्ममात्रपरामर्शनतत्परः अहंपरामर्शः (5.62)
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानम्	-	शास्त्राधिगमक्रमेण शास्त्रज्ञगुरुप्रज्ञाया अनुशीलनाच्च 'इत्थमिदं नानित्थं' इत्येवंरूपात् पर्यालोचनात् ससंवादं सत् ज्ञानमात्मनि संजातप्रत्ययम् 'एवमैवैतत्, नान्यथा इत्येवं निश्चयोत्पादात् दार्ढ्यं (4.77-78)
आनन्दः	-	ब्रह्मरूपः (5.47) चिद्रूपः (5.49)
आनन्दमन्दिरम्	-	वरांगलक्षणम् (5.59)
आनन्दमयलिङ्गम्	-	स्पन्दनात्म योगिनीहृदयम् (5.121)
आणवः	-	अणुषु भेदिषूपायेषु भवः (5.८)

इच्छा - सद्गुरुप्राप्तिपर्यवसायिनी अनुग्रहरूपा (4.34)

ईश्वरः - बहिरुन्मेषलक्षणाद्विश्वावभासकारित्वाद्धेतोः, कालात्मनः क्रियाशक्तिरेवैतद्विश्वकलनात्मकत्वं बहिर्मुखं रूपम् (6.39) संयोजनवियोजनकारी (6.228)

उच्चारणम् - प्राणाद्या व्यानान्ता पञ्चवृत्तयः (5.18)

उत्तरायणम् - षडङ्गुलं च संक्रामो मकरादिषु राशिषु।
भानोर्माद्याषाढान्तं भवेत्तच्चोत्तरायणम् (6.114)

उदारः - निर्विकल्पकसमानकक्ष्यतया महान् (4.6)

उदासीनः - स्वात्ममात्रविश्रान्तैर्बहिर्मुखः (5.141)

उपपीठम् - देवीकोट्टादि (4.259)

उल्लासनम् - प्रमेयोन्मुखं प्रसरणम् (5.141)

ऊर्ध्वकुण्डली - द्वादशान्तः (5.111)

ऊर्ध्वपदम् - शक्तिशिवद्वादशान्तरूपम् (5.146)

ऊर्ध्वक्षेपः - प्राणः (5.88)

एकीकृतम् - संविन्मात्रात्मनावस्थापितम् (5.60)
स्वाभेदेनावस्थापितम् (5.144)

ओघत्रयः - बोध्यादयः षट् ज्येष्ठादिभेदभिन्नाज्ञानसंततयः (4.274)

औन्मुख्यम् - स्वस्वातंत्र्योत्थापितं ततदर्थक्रियाकारिणि भावजाते यदिदमिति विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्दः (5.81)

कन्दः - आनन्देन्द्रियम् (6.54)

कलना - परिच्छित्तिः (66)

कलाः - प्रमातृदिशा अंशाः (4.124)

कलितकलितः - [illegible] (तन्त्रा. 4.72-73)

करणम् - [illegible] (5.129)

करणानि - [illegible], [illegible], [illegible] बुद्धिश्च (तन्त्रा. 4.162)

कालः - [illegible] कालः [illegible] (4.132) [illegible] (4.166)

या नाम भावना कलना परिच्छितिः स एव क्रमाक्रमात्मा (कालः) (6.6) देवस्य विश्वाभासनकारिणी क्रियाशक्तिः (तन्त्रा, 6.38 विश्वकलनाकारी (6.166)

कालाग्निरुद्रकाली - परिमितप्रमात्रात्मनः कालाग्निरुद्रस्य कलनात् (4.168)

कालाध्वा - क्रियाभासनम् वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्तेऽध्वत्रयं स्फुटम् (तन्त्रा, 6.34)

काली - पञ्चविधां कलनां कुर्वती परा देवी (तन्त्रा, 4.176) देवस्य पराशक्तिः (तन्त्रा., 6.7) (द्वादश-) सृष्टिकाली, रक्तकाली, स्थितिनाशकाली, यमकाली, संहारकाली, मृत्युकाली, रुद्रकाली, मार्तण्डकाली, परमार्क काली, कालानलरुद्रकाली, महाकालकाली, महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली (4.173)

कुलदर्शनम् - अद्वयदर्शनम् (4.256)

कुलनायिका - कौलिकी शक्तिः (5.67)

कुलम् - स्वस्वरूपातिरेकायमाणतया उत्पत्स्यमानं प्रमातृप्रमेयात्म-विश्वम् (4.58) शरीरं (4.200)

कलावेशः - बाह्यशक्त्यभावेऽपि कुलस्य शाक्तस्य स्वरूपस्य आवेशः स्मरणपुरस्सरं भावनातिशयात् तन्मयीभावः (5.71)

क्रूरः - मुक्तिलक्षणः (6.237)

कौलम् - कुलदर्शनम् (4.257)

कौण्डिली - शक्तिद्वादशान्तः (5.145)

कौलिकसिद्धिः - कुले आत्मनि भवा येयं सिद्धिः (4.58)

क्षेत्रम् - मेलापस्थानम् (4.259)

गतिः - भाववृत्तिद्रव्यभूमिकादिरूपा (4.274)

गुह्यचक्रम् - जन्मस्थानाख्यं शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारत्रययोगि विसर्गशब्दव्यपदेश्यम् (4.140)

ग्रास्यग्रासकौ - प्रमेयप्रमातारौ (6.108)

घरम् - षण्णां साधिकाराणां राजपुत्राणां भिन्नं भिन्नमाश्रयस्थानम् (4.267)

घूर्णिः	-	महाव्याप्तिः (तन्त्रा, 5.105)
चक्रम्	-	चक्षुरादीन्द्रियसंवित्तिरूपम् (5.32) मातृमानमेयस्वभावम् (5.76)
चतुर्दलम्	-	देवीत्रयं श्रीमातृसद्भावश्च (4.130)
चतुष्किका	-	ब्रह्मरन्ध्राधोवर्ती चतुष्पथरूपश्चिन्तामण्यभिधान आधारः (5.55)
चर्या	-	चर्यापादोक्त आचारः (4.264)
चर्वणम्	-	विश्रान्तिः (6.80)
चारः	-	ऊर्ध्वाधरवाहलक्षणः (6.23)
चित्	-	संवित्तिः (5.129)
जपः	-	अकृत्रिमैतद्हृदयारूढे यत्किंचिदाचरेत्, प्राण्याद्वा मृश्यते वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः (तन्त्रा, 4.194), अकृतकाहंपरामर्श-विश्रान्तो हि योगी तदनुवेधेन यत्किंचिद्बाह्यव्यवहारयोग्यं व्याहरेत् सोऽस्य सर्वो जपः (4.194)
जीवः	-	जीवयति निखिलमिदं भूतजातं ज्ञानक्रिययोत्तेजनेन प्राणयतीति, पर प्रकाशः (4.242), प्राणबुद्ध्यादिप्रमातृरूपः (5.9)।
ज्येष्ठा	-	सुप्रबुद्धानां शिवमयी प्रभुशक्तिर्या ज्ञानकर्मणोः स्वातन्त्र्यलेशं तनुते (6.57)
तर्कः	-	शुद्धविद्यांशस्पर्शपवित्रिताया बुद्धेरुदीयमानःस्वात्मप्रत्यभिज्ञा घनपररूपः (4.13)। उत्तमं योगाङ्गम् (तन्त्रा, 4.15)
तत्त्वम्	-	भैरवमुद्रानुप्रवेशात्म पारमार्थिकं रूपम् (5.127)
तन्मयीभवनम्	-	सा अनुत्तरात्मनि प्राप्तिः पूर्णत्वस्य पराकाष्ठा (तन्त्रा., 4.209)
तपः	-	चान्द्रायणादि (4.264)
तमः	-	बौद्धपौंस्नत्वेन द्विप्रकारमज्ञानम् (4.68)
तामसाः	-	तमो बौद्ध-पौंस्नत्वेन द्विप्रकारमज्ञानम्, तत्र भवा ज्ञानशून्याः (4.68)

तुटिः - सचतुर्भागमङ्गुलयुग्मम् (6.64)
मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः, क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद् द्वयं तु लवः स्मृतः (स्वतं, 11.201) तुटयः षोडश-प्राणे पूर्वे हि कथिता मया, बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः (स्वतं, 7.27) प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः (6.65)

तेजः (अग्निः) - रेफः (5.146)

त्रिकदर्शनम् - परमाद्वयरूपम् (4.256)

त्रिधामानि - हृत्कण्ठोष्ठानि (5.144)

त्रिशूलभूमिः - नाडीत्रयसंघट्टात्मकत्वात् त्रिशूललक्षणा ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनी नाड्याधारा (5.55)

दण्डप्रयोगः - प्रबुद्धभावेनं दण्डाकारतासादनम् (5.55)

दशनाड्यः - इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अर्यमा, अलम्बुसा, कुहू, शंखिनी (6.196)

दिनम् - सर्वथा तन्मयीभावः, यावद्वेद्यग्रहस्तावद्दिनम् (6.81)

दीक्षा - परसंविद्रूपतया प्रत्यवमर्शनम् (4.61) ज्ञानयोग-क्रियात्मिका, प्राणापानरूपौ सितासितौ परस्परव्यावृत्त्या वर्तमानौ दीर्घह्रस्वादिशब्दव्यपदेश्यौ शुभाशुभौ पक्षौ क्षीयते अपोहात्मविकल्परूपताघट्टनेन निर्विकल्पात्मपरसंविद्रूपत्वेन परिस्फुरतस्तदेव व्याप्त्या ध्यानेन योगेन च (6.75)

दीक्षितः - स्वसंवित्तिदेवीभिरेव पाशक्षपणपुरःसरं स्वात्मज्ञानपात्र-तायापादितः, अत एव स नित्यं योगी (4.50)

देशाध्वा - मूर्त्यवभासांशः। कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम् (तन्त्रा, 6.35)

दोषः - क्लेशभागित्वाद्यात्मा (4.66)

द्रव्याणि - अन्तर्बहीरूपाणि रत्नपञ्चकतत्प्रतिनिधिरूपकुंकुमाद्यात्मकानि यागसाधनभूतानि (5.63)

द्वादशकलाः - षष्ठवर्जमकारादिविसर्गान्ताः (5.63)

द्वादशान्तः - शक्तेरुदयविश्रान्तिस्थानम् (6.188)

द्वादशारं चक्रम् - श्रीसृष्टिकाल्यादिरूपम् (4.130)

द्वैतम् - परमेश्वरस्य विश्वरूपतयावभासनम् (4.11)

ध्यानम् - सोमसूर्याग्निसंघट्टात्म (5.22)

ना - पुमान् यकारः (5.150)

नागाः - अनन्ताद्याः अनन्तवासुकितक्षककार्कोटमह्मपद्मशंखकुलिकाः (6.69)

नाडीत्रितयम् - इडापिंगलासुषुम्नात्मकम् (6.198)। बिन्दु नादशक्त्यात्मकम् (स्वतं, 7.153)

नादः - अहंपरामर्शात्मा (4.181), सर्ववर्णाविभागस्वभावत्वादव्यक्तप्रायोऽनाहत रूपः (5.131)

नाददशा - विकस्वरा विमर्शात्मिका विश्वोत्तीर्णा संवित् (5.75)

नासिका शक्तिः - नसते कुटिलं गच्छति (6.61)।

नासिक्यः - शाक्तो द्वादशान्तः (6.61)

निमेषोन्मेषमात्रता - सदाशिवेश्वरदशा (6.167)

निरानन्दः - निजात्मप्रमातृसंमतादानन्दात् निष्क्रान्तः दशाविशेषः (5.47)

निरुपाधिः - निष्क्रान्ता भेदेन स्फुरिता मातृमानमेयात्मान उपाधयो यस्याः सा (5.49)

निरोधः - अन्तर्मुखरूपे विश्रमः (5.141)

निर्भरा - नान्याकांक्षा (4.9)

निर्विकल्पः - सर्वभावाविभेदावभासात्मा (5.15)

निर्वृत्तः - स्वात्ममात्रविश्रान्तः (5.47)

निशा - वैतृस्थता (स्वात्मविश्रान्तिः) (6.81)

निस्तरङ्गा - स्वात्ममात्रविश्रान्त्या शान्तरूपा (5.91)

नैशम् - मायीयम् (4.112)

पक्षसन्धिः - प्रथममर्धमावास्यं तत्संलग्नं द्वितीयं च प्रातिपदं तत्संलग्नं इत्यनयोरुभयोरर्धयोः संमेलनात् प्रतिपदमावस्यान्तरालभूतोऽसावेकतुट्यात्मा सन्धिः (6.99)

पतिः - निखिलस्य जन्मवतो जन्तुचक्रस्य पालनादियोगात् (4.56)

परमार्ककाली - अहंकारनाम्नः परमार्कस्य परिमिते कालाग्निरुद्रसंज्ञे प्रमातरि एवं कलनात् (4.167)

परमादित्यः - अहंकारः (4.164)

परमेश्वरः - परःप्रकाशः (4.10)

परं हृदयम् - योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यमहंपरामर्शमयं संवित्स्पन्दात्मकं प्रकृष्टं सतत्त्वं तन्नरशक्ति-शिवाविभागवत्वादव्यक्तलिगङ्गम् (5.112)

परा - पूर्णा, अत एव शिवरूपिणी शक्तिमदवियुक्ता (6.94)

परा दशा - शून्यातिशून्यरूपं विश्रान्तिस्थानम् (6.10)

परामर्शः - शुद्धविद्यात्मा (4.114)

परावाक् - स्वरसोदितो ध्वनिः अहंपरामर्शात्मा नादः (4.181)

पल्ली - भिक्षास्थानम् (4.267)

पीठम् - कामरूपादि (4.259)

पुस्तम् - लेपादिनिर्मिताकृतिः (6.3)

पूजा - विभिन्नस्यापि रूपरसादेर्भावौघस्य देशकालाद्यनवच्छिन्न-निरुपाधिपूर्णपरसंविदात्मना संगतिः (एकाकारः) (4.121-22) संविदैकात्म्यैनावस्थानम् (4.181)

पूजोपकरणम् - यत्किंचिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत् (4.120-21)

प्रक्रियान्तः - शिवद्वादशान्तः (5.145)

प्रकृतिः - विश्वोत्पत्तिभूः संवित् (6.94)

प्रत्ययः - संकुचितप्रमातृव्यापारस्वभावो विकल्पात्मा (5.9)

प्रत्याहारः - अर्थेभ्यो रूपादिभ्यः प्रत्याहृतानां चक्षुरादीन्द्रियज्ञानानाम् अन्तः

कीलनम् चित्त स्वरूपानुकारामाणतया स्वात्मानत्ता-तासादनम् (4.92)

प्रमाणम् - प्रमातुरेव बहिर्मुखं रूपम् (4.124) भिन्नं प्रमेयं परीच्छिन्दत् (4.160)

प्रमातृप्रमेयौ - अग्नीषोमात्मकौ (4.130)

प्रलयः - विश्रान्तिः (4.91)

प्राणः - सामान्यस्पन्दनात्मा (त्रिविधः) पदमन्त्रवर्णात्मा (6.5), पारमेश्वरी शक्तिः (6.28), विश्वात्मता (तंत्रा, 6.45)

प्राणनाशक्तिः - आन्तरोद्योगरूपा जीवनापरपर्याया प्राणनामात्रस्वभावा (5.18)। (त्रिविधा) वामा, ज्येष्ठा, रौद्री। वामा संसारीणामीशा प्रभुशक्तिर्विधायिनी ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धीनां बुभुत्सूनां च रौद्रिका (तन्त्रा, 6.56)

प्राणापानौ - बिन्दुनादात्मकौ (6.221)

प्राणोदयः - हृदयात् द्वादशान्तं रेचकक्रमेणोदयः (5.47)

फुल्लम् - फकारः (5.146)

बन्धः - परस्या हि संविदः स्वस्वातंत्र्यात् गृहीतसंकोचाया देशाद्यवच्छिन्नत्वम्(4.92) आत्मन्यनात्माभिमानोऽ-नात्मन्यात्माभिमानश्च तदेव चाणवमलम् (5.105)

बहिः - इदन्तापरामृश्यः देहघटादिः (5.80)

ब्रह्मचारी - आनन्दरूपं ब्रह्म चरति- परं ब्रह्मैकात्म्येन प्रस्फुरति (4.139)

ब्राह्मी - परा शक्तिः (6.177)

बिन्दुः - वेदयिता स्वात्मा (5.150)

बिन्दुसत्ता - विदिक्रियाकर्तृत्वात्मिका परा परामर्शदशा (5.78)

भावना - तर्क एव हि परां काष्ठामुपगतो भावनेत्युच्यते (4.14)। सर्वकामदुधा, स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथादपि (तन्त्रा., 4.14) अभ्यासः (5.103)

भेदः - ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा (4.13)

किंचित् त्यक्त्वा किञ्चिदुपादीयत इत्येवमात्मा (4.262)

भेदनम् - बहिरुल्लसनम् (4.174)

भैरवः - निरुक्तदृष्ट्या सर्वंभ्रियाद्धारयति पुष्णाति रचयति अन्तर्बहिर्वा करोति सृष्टिस्थितिसंहारकृत् अखिले व्यापकः सकलजगत्क्रोडीकारेण भरितत्वात् पूर्णः (5.135)

भैरवगुरुः - यस्त्वकल्पितरूपोऽपि संवाददृढताकृते अन्यतो लब्धसंस्कारः स साक्षाद्भैरवो गुरुः (तन्त्रा, 4.76-77)

भैरवीयतेजः - संवित्स्वभावकम् (4.7)

भैरवीयमहाचक्रम् - चक्षुरादिसंवित्तिदेवीचक्रपरिवार्यमाणः पर-प्रमात्रात्मा चक्रेश्वरः (5.31)

भूबिन्दुः - भ्रूवि बिन्दुः (5.56)

मठिका - कुलं, गोत्रं गुरुसन्तानश्च (तन्त्रा, 4.265)

मतशास्त्राणि - समविषमलक्षणानि (4.262)

मध्यधाम - अग्नीषोमात्मकम् (5.72)

मण्डलम् - यागादि (4.50)

मन्त्रः - तद्धि स्मरणं वस्तुवृत्तेन मन्त्रयति स्वाभेदेन विश्वं परामृशति - इति मन्त्रः परः प्रमाता (5.137)

मरुत् - यकारः (5.150)

महाकाली - महाकालस्य कलनात् (4.170)

महाभैरवचण्डोग्रधोरकाली- प्रमातृपदेन महाभैरवशब्दस्य, मेयपदेन चण्डशब्दस्य, प्रमापदेनोग्रशब्दस्य, मानपदेन घोरशब्दस्य चाक्षेपात् 'महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली' पूर्णतया परा परमेश्वरी (4.172)

महामूलम् - परमकारणत्वात् माया (5.60)

महाव्याप्तिः - परं पारमेश्वर्यम् (5.106)

महासाहसम् - चकितमुद्रानुप्रवेशः (5.85)

मातृसद्भावः - काल्यादिशब्दव्यपश्या पराभट्टारिका यथा सकलादिषु प्रमातृषु प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत् (4.177)

मानमेयौ - सूर्यसोमात्मानौ प्राणापानौ (5.47)

माया - योनिः (4.131) अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः (4.254)

मायापाशः - वामाख्या शक्तिः (4.33)

मायाशक्तिः - स्वातन्त्र्यरूपा शक्तिः यदनावृत्तमपि स्वं रूपमावृतत्वेनैव आभासयति (4.10) अनावृत्ते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः सैव माया (तन्त्रा, 4.11)

मार्तण्डकाली - संविद्देवी द्वादशसंख्यावच्छिन्नं बुद्ध्यादीन्द्रियमार्तण्डमण्डलं देहादावभिनिवेशात्कल्पितेऽहं कृतात्मनि कलयतीति (4.163)

मुखागमः - परतत्त्वप्रवेशोपायत्वात्गुरोः वचनम् (6.251)

मुग्धा - देहात्मनोविवेकमजानाना (6.15)

मुद्रा - कुले योगिन उद्रिक्तभैरवीयपरासवात् घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या कांचिदेव सा (तन्त्रा, 4.200) न तु नियतकरादिनिर्वर्त्य संनिवेशादिरूपा (4.200)

मूर्तिः - गुर्वादिसंबन्धिनी (6.3)

मूर्तीश्वराः - क्षित्यादयो मूर्तयस्तदीश्वराः। शर्वो रुद्रस्तथा भीमो भव उग्रस्तथैव च। महादेवस्तथेशानो रुद्रलोकाधिपास्त्वमी। (स्वतं, 10.615-16)

मृत्युकाली - मृत्युरूपाया संविदः कलनात् (मृत्युकाली) (4.154)

यमकाली - यमं कलयन्तीति (4.151)

यमः - विकल्पः (4.151)

यन्त्रणा - इदमुपादेयमेव इदं त्याज्यमेव - इत्येवमात्मा (4.273)

योगः - युक्तिः (5.60)

योगाङ्गम् - हेयाद्यालोचनेन वस्तुपरिशुद्धिमादधानो हेयमपहाय उपादेये

विश्रामयेत् स (तर्कः) वरमुत्तमं योगस्याङ्गम् (4.17)

योगिनीहृदयम् - स्पन्दनात्मानन्दमयं लिङ्गम् (5.121)

योनिः - माया (4.131)

रक्तकाली - न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता। निर्गुणा निरहंकारा रंजयेद्विश्वमण्डलम्। सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया (रक्तकाली) (4.149)

रागः (तत्वम्) - सर्वविषयमभिलाषमात्रम् (4.17) स्वाभावाख्योऽशंकः (4.19) यद्यपि सामान्येन सर्वविषयाभिलाषमात्रमयत्वं नाम रागतत्त्वस्य स्वरूपं, तथापि नियतविषयोपारोहमन्तरेण तत् नाभिव्यक्तिमियात् (4.28)

रात्रिः - माया (4.132)

रावः - (दशात्मकः स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः कण्ठ्यस्तालव्य एव च सर्वतश्च विभुर्योऽसौ विभुत्वपददायकः (तंत्रा, 5.98)

राविणी - परवागात्मा विमर्शशक्तिस्तत्तद्रावरूपतया प्रस्फुरणात् (राविणी) (5.99)

रुद्रः - ममैतन्मा भूत इति रुणद्धि, प्रबोधाच्च किंचिद्रावयति, भोगेन स्वात्मसात्करोति इति रुद्रः (4.167)

रुद्रकाली (भद्रकाली) - रुद्धं भिन्नं वार्थं द्रावयेदिति (भेदस्य द्रावणाद्भद्रा भद्रसिद्धिकरीति) (4.158)

रौद्री (रौद्रिका) - रुजां द्रावयित्री अखिलकर्मणां च रोद्ध्री बुभुत्सूनां प्रभुशक्तिः या सांसारिकानन्दं कदाचित् वितरेत् (6.57)

लयः - स्वात्ममात्रविश्रान्तिः (6.230)

लिङ्गम् - सृष्टिसंहारकारणं लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् (4.131)। त्रिविधम् - अव्यक्तम्- परैव संवित् (5.114) व्यक्ताव्यक्तम् - देहादावात्माभिमाने सत्यपि पुनरपरिम्लानः परतत्त्वान्तः समावेशः नरशक्तिरूपम् (5.115) व्यक्तम् - नरप्रधानम् मन्त्रवीर्यम् (5.115)

गुणीकृतपराद्वयरूपाहन्तापरामर्शं बहीरूपतया स्फुरत्

(5.116)

वर्णः - सर्ववर्णाविभागस्वभावत्वादव्यक्तप्रायो योऽसावनाहतरूपो नादः स वर्णोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्वर्णः (5.131)

वर्णोदयः - अकारादीनां अर्थाद्धृदयाद्वादशान्तः (6.237)

वस्तु - पारमार्थिकं परप्रमात्रेकलक्षणं संविद्रूपम् (4.14)

वह्निः - भोक्ता (तन्त्रा, 4.166)

वामाद्या - प्राभव्य शक्तयः सृष्टिसंहारस्थित्यात्मिकाः (6.57)

वामा - संसारवमनात् वामा, संसाराविर्भाविका तिरोधानशक्तिः (4.2.06)

वाहकेली - कर्कशपांसुलश्चित्रो देशः यत्र कटकमण्डलादिना अश्वोह्यते (4.206)

विकल्पः - संशयः (4.61) इन्द्रियार्थाद्युपायनैरपेक्ष्येण अन्तरुल्लिखाताकारमात्रनिष्ठः इन्द्रियार्थाद्युपायको निर्विकल्पपृष्ठभावी अन्यो वा स्वभावपरामर्शः (4.110-11)। क्षेत्रज्ञव्यापारः चिदेकरूपत्वेऽपि अन्यापोहरूपत्वात् भेदमयः (5.5)। संकुचितस्य प्रमातुर्व्यापारः (5.15) भेदितस्य प्रमातृप्रमेयादेरर्थस्य परस्परापोहनात् 'इदमिदं नानिदम्', इति प्रतिनियततयावस्थापनात् संख्यानम् (4.174)

विकल्पसंस्कारः - अस्फुटः स्फुटितात्मकः प्रस्फुटन्स्फुटितात्मकः स्फुटतरः स्फुटमः (तन्त्रा, 4.45) अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वापत्तिपर्यन्तं पारमार्थिकस्वात्मप्रत्ययरूपनिर्विकल्पकज्ञानात्मत्वासादम् (5.5)

विकासः - संकोचाभावादभेदप्रथा (4.253)

विग्रहः - व्यस्तत्वम् (4.79)

विश्रिः - संवित् (6.80)

विधिवाक्यम् - विधिनिषेधात्मकम् (4.236)

विमर्शः - इच्छादिशक्तित्रयात्मा (4.187)

विमला - संकोचकलंकापहस्तनेन शुद्धा (4.6)

विलीनम् - संविन्मात्रात्मतामापन्नम् (5.77)

विविक्तं नभः - सकलभावशून्यत्वान्निरावरणम् (6.9)

विशुद्धम् - वेद्यताद्यकलंकितम् (5.11)

विषुवत् - विषुं व्याप्तिं साम्यमर्हति (6.115) व्याप्तौ विषेर्यतो वृत्तिः साम्यं च व्याप्तिरुच्यते, तदर्हति च यः कालो विषुवत्तदिहोदितः (तन्त्रा, 6.206)

विषुवद्वासरः - रात्रिन्दिनसाम्यात्मा मेषसंक्रान्तिदिनम् (6.203)

विसर्गः - विसिसृक्षात्मकं परं पारमेश्वरं रूपम् (5.57) कौलिकी शक्तिः (5.67) स्वातन्त्र्याख्या (5.124)

विसर्गक्षोभः - विसर्गस्य क्षोभः क्षोभाधारः कादिहान्तम् (5.67)

विसर्गप्रसरः - कादिहान्तस्य क्षोभाधारस्य प्रपञ्चः (5.67)

विसर्गानन्दः - मुख्यवृत्त्या चरमधातुप्रक्षेपात्मपरमसामरस्यम् (5.72)

विसर्गान्तपदम् - द्वादशान्तपदम् (5.87)

विसर्गोन्मेषः - योगिनीहृदयात्मा (5.73)

वेत्ता - विचारयिता (6.82)

वेदिता - ज्ञाता (6.82)

वैरिञ्चाः - ब्रह्मवादिनः (4.21)

वैसर्गिकम् - ऊर्ध्वकुण्डलिनीस्थानं बिन्दुद्वयं च (5.60)

व्यक्तलिङ्गम् - गुणीकृतपराद्वयरूपाहन्तापरामर्शम् बहीरूपतया स्फुरत् विशेषस्पन्दरूपम् विमर्शनम् (5.116) आत्माख्यम् प्रधानम् (तन्त्रा, 5.118)

व्यानाख्या - सर्वत्र व्यापकतयाननात्

व्याप्तिः - सार्वात्म्यप्रतिपत्तया सर्वाक्षेपकारिणी विकाससमाधिः (5.71)

शक्तिः - परस्य प्रकाशस्य कालेन योगः (6.7)

श्रीकण्ठः (अघोरः) - कालतत्त्वाधिपः, अव्यक्तस्थः, एककः सृष्टि-संहारकारकः

(6.172)

श्रीकालसंकर्षिणी - परा संविद्देवी कालकलनाकलंकग्रसिष्णुतया द्योतमाना (4.148)

श्रीपिण्डनाथः - रेफादिबिन्द्वन्तवर्णपञ्चकरूपः संहारहृदयम् (4.190-91)

श्रीमद्रक्ता - श्रीचण्डिका (4.64)

शिखाबन्धः - प्राणशक्तेः प्रतिचारमादिमध्यान्तेष्वधानेन पुनः पुनः परामर्शः (6.24)

शुद्धविद्या - शुद्धविद्या हि तन्त्रास्ति सत्यं यद्यन्न भासयेत् (तन्त्रा, 4.45)

शुद्धसंवित् - निरुपाधिः अनारुषिता निराभासा परा (4.125)

शुद्धा - प्रमात्रादिनियतरूपानारुषिता (4.148)

शून्यत्वम् - अनाश्रयः (तन्त्रा, 6.44)

शून्यरूपत्वम् - शून्यप्रमातृत्वम् (6.10)

शूलम् - इच्छादिशक्तित्रयमोकारश्च (5.60)

षोडशकलाः - अकाराद्या बुद्धीन्द्रियाद्याश्च (5.65)

सत्तर्कः - शुद्धविद्या (तन्त्रा. 4.34)

समयः - उत्तमवृद्धादिना कल्पितः इदमस्याभिधेयमित्येवमात्मकः (5.134)

समयाचारः - इदं कुर्यादिदं न कुर्यात् (4.262)

सहस्रारं चक्रम् - भूतभावभुवनादिरूपतयानन्तभेदं विश्वम् (4.133)

समाधिः - विश्वसाक्षात्कारात्मा (6.184)

समापत्तिः - सम्भोगः (5.124)

समीकृतिः - विषुवद्रूपावलम्बनेन मध्यधामानुप्रवेशनम् (5.55)

साम्यम् - रागद्वेषादिद्वन्दपरिहारः (5.144)

सांसिद्धिकः - स्वयं प्रवृत्ततर्कः संसिद्ध्या जन्मनागतः (4.40) अकल्पितो गुरुः (4.51) (भेदाः -) निर्भित्तिः, सद्भित्तिकः, सर्वगः, मुख्यांशगतः, अमुख्यांशगतः (तन्त्रा, 4.47-48) निर्भित्तिः

भित्तेर्निष्क्रान्तः, सहभित्तिकः - सह भित्त्या वर्तते सर्वामेव भित्तिं गतः स्यात् अंशेन वा। सोऽपि अंशगतः मुख्यांशनिष्ठितः स्यात् अन्यथा वा इति सहभित्तिकस्य त्रयो भेदाः निर्भित्तिना सह अस्य चत्वारः (4.48)

सिद्धिः - ऐहिक्यानन्दरूपा (4.139)

सिद्धिभाक् - जीवन्नेव मोक्षलक्षणां सिद्धिं भजमानः (4.50)

सुखम् - चमत्कारातिशयः (5.147)

सुधीः - पूर्णज्ञानी (5.71)

सुप्तः - अपवेद्यप्रलयाकलप्रायः (6.17)

सुषुम्ना - सर्वासामेव नाडीनां मध्ये या संव्यवस्थिता, सुषुम्ना नाम सा ज्ञेया नाभेः शक्त्याशिवंगता (स्वतं, 4.321)

सूक्ष्मरन्ध्राणि - गोलकरूपाणीन्द्रियद्वाराणि (5.65)

सूर्यः - ..... परसंविदात्मा प्रमाता तावत् भेदेन्धनदाहकत्वादग्निः स एव च अहंप्रतीतिमात्रस्वरूपः स्वस्वातन्त्र्यात् बुद्धीन्द्रिया-द्यात्मना द्वादशधा प्रस्फुरन् प्रमाणदशामधिशयानः सूर्यः इत्युच्यते प्रमाणम् (4.124)

सोमः - क्रियाशक्त्यात्मा (4.134) प्रमेयम् (4.124, 141)

सौधम् - सुधासमूहः (5.70)

सौधः - सुधाया आधारः सकारः (5.55)

सौधभूमिः - विश्रान्तिस्थानम् (5.70)

सौम्यम् - तत्तत्सिद्ध्यात्मनि भोगलक्षणम् (6.237)

संकोचः - भेदप्रथा (4.253)

संघट्टः - अन्योन्यमेलनात्मा (5.47) सामरस्यं (6.103)

संघातः - समस्तत्वम् (4.79)

संघर्षः - परस्परं मेलनात्मा संघट्टः (5.72)

संपुटः - परस्परमन्तर्बहीरूपतया मिलितानां दलानां संनिवेशः (5.21)

संप्लवः - एकस्मिन्नेवार्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्तिः (4.84)

संसारी - संकुचितः प्रमाता (4.56)

संस्कारः - पौनः पुन्येन श्रुतचिन्तादिवशात् अस्फुटत्वादि क्रमेण स्फुटतमत्वाद्यापत्तिपर्यन्तं गुणान्तराधानम् (4.2)। स्फुटतमविकल्पस्वरूपासादनात्मा (5.2)

संविच्चक्रम् - चक्षुरादीन्द्रियवृत्त्यात्म (5.33)

संवित् - इदमेव हि संविदः संवित्तत्त्वं, यत्सर्वमामृशतीति, अन्यथा हि अस्यास्तत्तदर्थोपरागेऽपि स्फटिकादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात् (4.184)। नीलादिज्ञानं (5.76) यस्याः विमर्शः स्पन्दो हृदयं विसर्गः-इत्यादयः सहस्रशो व्यपदेशाः (5.77) अनुभवः (5.133)। तत्तनीलद्याभाससंभिन्ना परिमितात्मरूपा (6.180)

संहारः - स्वयमेव हि नाम भावानां संविद्विलीनतोत्पादनात्मा यद् बहीरूपताविलापनेन प्रमाणदशामधिशयानायां संविश्रावभेदेन परामर्शनम् (4.153)। क्षकारः (5.150)

संहारकाली - या निखिलेऽपि भावमण्डले संहृतिं कलयति (4.152)

संहारबीजम् - परप्रमात्रात्म (5.78)

स्थानभेदः - त्रिधा प्रोक्तः प्राणे, देहे बहिस्तथा (तन्त्रा, 6.2)

स्नानम् - उल्लसिबोधहुतभुग्दहथविश्वेन्धनोदिते सितभस्मनि देहस्य मज्जनम् (तन्त्रा, 116-7)

स्पन्दः - हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वकः भावग्रहादिप--र्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः, स्वात्मन्युच्छलनात्मकः (तन्त्रा., 4.182-83) स्वात्मोच्छलनम् (5.57)। रिरंसया परस्परौन्मुख्यम् (5.70)

स्मरणम् - अनुभवप्रत्यभिज्ञादिप्रत्ययान्तरवैलक्षण्येनोज्जृम्भमाणं प्रत्यवमर्शनात्मकमनुभूतार्थप्रकाशासंप्रमोषणरूपम् तद्धिस्मरणं वस्तुवृत्तेन मन्त्रयति स्वाभेदेन विश्वं परामृशति (5.137)

प्राच्यस्यैव ह्यनुभवस्येदानीन्तनकालावच्छेदेन पुनरुन्मेषः (5.139)

स्वकलीला - स्वस्वातंत्र्यम् (4.138)

स्वसंवित्तिदेव्यः - स्वा आत्मीया याः संविश्रय इन्द्रियवृत्तयः ता एव प्रमात्रैका -त्म्यमभिद्योतयन्त्यो देव्यः (4.42)

स्वान्तःप्रचारः - इत्थमहमिदं वेद्मीत्याद्यात्म प्रकृष्टं चरणम् (5.127)

हंसः - हानसमादानधर्मा अग्निशब्दव्यपदिष्टः परप्रमाता (4.136)

हृदयं (हृत्) - तथ्यं रूपम् (4.181) स्वपरामर्शः (5.20) प्राणाद्युदय-विश्रामधाम (5.57) सृष्टाद्यात्म (5.52), बोधः पराबीजं च (5.60), परमं विश्रान्तिस्थानम् (5.73) (परं-) योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यमहंपरामर्शमयं संवित्स्पन्द-नात्मकं प्रवृष्टं सतत्त्वं तन्त्ररशक्तिशिवाविभागवत्वादव्यक्त-लिंगम् (5.112)

शैवागम व तन्त्रालोक से सम्बद्ध कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

1- डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय

- Abhinavagupt : An Historical and Philosophical Study, Choukhambha, Varanasi, 1936, 1963.
- Comparative Aesthetics, vol. 1 : Indian Aesthetics (in English), Choukhambha, Varanasi - 1950, 1959
- An outline of History of Shaiv Philosophy. MLBD, New Delhi - 1954
- स्वतन्त्रकलाशास्त्र, प्रथम भाग, 1967, द्वितीय भाग - 1975, चौखम्भा, वाराणसी
- सर्वदर्शनबिन्दु, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1968
- Doctrine of Divine Recognition, MLBD, New Delhi
- Commentry on the Bhaskari Isvara-pratyabhijna-vimarsini of Abhinavagupta by Bhaskarakantha), edited jointly with K.A.S. Iyer. Vols I, II, III, 1986.

2- प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी

- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी vol III, (सम्पादन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली - 1986.
- तन्त्रालोक (भाग 1-8) (प्रो. नवजीवन रस्तोगी के साथ सम्पादन) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1989
- काश्मीर की शैव परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नईदिल्ली 1989
- त्रिकदर्शनम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1992

3- प्रो. नवजीवन रस्तोगी

- Krama Tantricism of Kashmir Vol.- 1, MLBD, Delhi 1979 (Reprinted)
- Introduction to the Tantralok : A Study in Structure, MLBD, Delhi 1986 (Reprinted)
- The Tantraloka of Abhinavagupta with the Viveka of Jayaratha (edited in 8 volumes jointly with R.C. Dwivedi, MLBD, Delhi 1987 (Reprint)
- काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली 2002
- काश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम मत, डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड, दिल्ली 2011
- अभिनवगुप्त का तंत्रागमीय दर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2012.
- Abhinava: Perspectives on Abhinavagupta (essays in memory of Prof. K.C. Pandey on Aesthetics and Kashmir Saivism) (Ed.) publisher : Munshiram Manohar Lal, Delhi, 2013.
- काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाणचिन्तन, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, 2013

4- प्रो. कौशल्यावल्ली

- A Peep into the Tantraloka and our cultural Heritage, Rashtriya Sanskrrit Sansthan, Delhi 1998.

5- आचार्य परमहंस मिश्र

- तन्त्रालोक, हिन्दी अनुवाद, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

6- प्रो. लक्ष्मीनिधि शर्मा

- Kashmir Shaivism, Bhartiya Vidhya Prakashn, Varanasi, 1996.

7- प्रो. कमलाकर मिश्र

- Significance of the Tantric Tradition, Varanasi, 1981.
- Kashmir Shaivism : The Central Philosophy of Tantricism, U.S.A., 1993.

8- डॉ. कमलेश झा

- पूर्णताप्रत्यभिज्ञा (हिन्दी अनुवाद)
- संवित्स्वातन्त्र्यम् (हिन्दी अनुवाद)
- चिद्विमर्शः
- शिवतत्त्वविमर्शः
- आगम-संविद्, इण्डिका बुक्स वाराणसी, 2007

9- डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी

- तन्त्रालोक का विवेक सहित अनुवाद, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2002

10- प्रो. सूर्यप्रकाश व्यास

- बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन,
  विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ - 1986
- सिद्धित्रयी (अनुवाद), चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1986.
- तन्त्रविमर्श, प्रथम भग, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2005

11- प्रो. बीना अग्रवाल

- तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, 1995.

12- डॉ. गौतम चटर्जी

- Shritantraloka (Text with English Translation), Indica Books, 2008, 2011.

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास की अन्य रचनाएँ

1. बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन, विवेक प्रकाशन, अलीगढ, 1986.
2. सिद्धित्रयी (अनुवाद और सम्पादन), चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1986.
3. जातकमाला (अनुवाद और सम्पादन), चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1988.
4. आचार्य रतिनाथ झा रचनावली, (सम्पादक) राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नईदिल्ली 2010.
5. बौद्ध प्रज्ञा-सिन्धु, खण्ड - 5,8, (सहसम्पादक) न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, 2011, 2014
6. बौद्धविमर्श, (सम्पादन) बौद्ध अध्ययन केन्द्र, चेतगंज, वाराणसी 2011
7. आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी रचनावली, (सम्पादन) राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली 2012.
8. ढलता सूरज, (कविता संग्रह), आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी 2015
9.-10. श्रीमती ओमवती शर्मा और जनसेवा ट्रस्ट (लेखन, सम्पादन) 2015, 2016.
11. जीवन-मधु, (लेखन, सम्पादन) श्रीमती ओमवती शर्मा जनसेवा ट्रस्ट, निम्बाहेड़ा (राजस्थान) 2016.
12. तन्त्र-विमर्श भाग-2 (प्रकाशनाधीन)

डॉ. श्रीमती कमला द्विवेदी

- **जन्म**
  08 मई, 1941, बिल्हौर, उ.प्र.
- **माता पिता–**
  श्री बाबूराम, श्रीमती हँसमुख देवी
- **पति**
  प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी
- **शिक्षा**
  - एम.ए. (संस्कृत) -1972,
  - पीएच.डी–1977,

  मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
- **शिक्षण**
  व्याख्याता एवम् उपाचार्य संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रमुख प्रकाशन**
  - अभिनवगुप्तप्रणीत परमार्थसार (सटिप्पण अनुवाद) 1975
  - तन्त्रालोक (आह्निक 4-6) सानुवाद विवेचन
- **शिवसायुज्य**
  31 जुलाई, 1995

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला

1. **कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलङ्कार**
   लेखक : डॉ. विष्णुराम नागर, सम्पादक डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास,
   प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, 1995
2. **तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड**
   लेखिका: डॉ. बीना अग्रवाल, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, 1995
3. **सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि**
   लेखक : डॉ. विजयशंकर द्विवेदी, सम्पादक [illegible] शर्मा,
   प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी 1997
4. **उन्मीलनम् (पं. बटुकनाथ शास्त्री [illegible])**
   सम्पादकः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, प्रशान्त [illegible] वाराणसी, 1998
5. **बौद्धाचार्य वसुबन्धु**
   लेखकः डॉ. मुनिराम तिवारी, सम्पादक [illegible] व्यास,
   प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, 1999
6. **मेदपाट–मण्डन पं. गिरिधरलाल शास्त्री**
   लेखकः डॉ. यशवन्त कुमार जोशी, सम्पा[illegible] प्रकाश व्यास,
   प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, 1999
7. **दर्शन–कणिका**
   लेखकः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, 2002
8. **बौद्ध–सुभाषित**
   संकलनकर्ता : डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2003
9. **बौद्ध शैक्षिक मूल्य**
   लेखिकाः डॉ. मीना शर्मा, सम्पादक डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2004
10. **अभ्युदय (लाल राजेन्द्र बहादुर सिंह अभिनन्दन–ग्रन्थ)**
    सम्पादक : डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, प्रकाशक डॉ. अमलधारी सिंह, बैसवाडा, 2004
11. **वेदान्त में बौद्ध सन्दर्भ**
    लेखिकाः डॉ. अनामिका सिंह, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2005
12. **आचार्यवसुबन्धुप्रणीते पञ्चस्कन्धप्रकरणं त्रिस्वभावनिर्देशश्च**
    अनुवादिका डॉ. अनामिका सिंह, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2005
13. **दर्शनमञ्जूषा**
    लेखिकाः डॉ. अनामिका सिंह, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2005
14. **तन्त्रविमर्श**
    सम्पादकः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2005
15. **नव्यान्तर्विभाग**
    लेखिका: डॉ. अनामिका सिंह, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2007
16. **सौम्य-पथ**
    लेखक एवं सम्पादक : डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2011
17. **बोधबिन्दु**
    लेखकः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2012
18. **नेपाल में बौद्ध मत**
    लेखकः मार्की शेर्पा, सम्पादक डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2015
19. **दर्शन-मकरन्द**
    लेखकः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, ऋषि-मुनि प्रकाशन, उज्जैन, 2016
20. **विदुषां पत्राणि**
    सम्पादकः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी, 2016
21. **तन्त्रालोक (आह्निक 4–6)**
    लेखिका डॉ. कमला द्विवेदी, सम्पादक डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास,